मध्ययुगीन

वैष्णव संस्कृति और तुलसीदास

(शोधपूर्ण प्रबन्ध)

लेखक

डॉ० रामरतन भटनागर एम० ए०, डी० फिल्०

प्राध्यापक हिन्दी-विभाग

सागर विश्वविद्यालय, सागर

प्रकाशक

हिन्दी साहित्य संसार

पटना-४ : : दिल्ली-६

प्रकाशक :
हिन्दी साहित्य संसार
दिल्ली-६
ब्रांच :
खजान्ची रोड, पटना-४

प्रथम संस्करण १९६२

मूल्य
सात रुपये पचास पैसे (७·५०)

मुद्रक
गुप्ता कम्पोजिंग हाउस,
नई सड़क, दिल्ली द्वारा
मनमोहन प्रेस में छपा।

तुलसी-साहित्य

के

अध्येताओं को

प्राक्कथन

मध्ययुग की स्वदेशी संस्कृति को हम वैष्णव संस्कृति के रूप में पल्लवित पाते हैं और विदेशी अथवा ईरानी संस्कृति को मुगल संस्कृति के रूप में। मुगल संस्कृति में हमें विशुद्ध ईरानी संस्कृति के दर्शन नहीं होते, वरन् वह भारतीय संस्कारों से घुलमिल कर एतद्देशीय बन जाती है और उसका रूप समन्वयात्मक ही माना जा सकता है। यह स्पष्ट है कि संस्कृति की ये दो धाराएं समानान्तर चलती रहती हैं और आदान-प्रदान होने के बावजूद भी एकरस नहीं हो पातीं। मुगल संस्कृति उत्तर भारत के नगरों, फौजी छावनियों ('उर्दू') और दिल्ली-आगरा-जौनपुर-लखनऊ जैसे सांस्कृतिक केन्द्रों में ऐश्वर्य को प्राप्त होती है तो वैष्णव संस्कृति मथुरा, काशी, चित्रकूट जैसे सांस्कृतिक पीठों, राजस्थान जैसे राजपूत-प्रतिरोध के केन्द्र तथा ग्रामीण जनपदों में जन-संस्कृति का बल पाकर प्रतिष्ठित एवं पल्लवित होती है। उसे पूर्व-मध्ययुग की राजपूत संस्कृति तथा तांत्रिक संस्कृति का उत्तराधिकार प्राप्त होता है और उसमें परम्परागत भारतीय साँस्कृतिक मूल्य परिपूर्णता को प्राप्त होते हैं। इस संस्कृति का दक्षिण भारत के सांस्कृतिक अभ्युत्थान से अत्यन्त निकट का सम्बन्ध है। पहली शताब्दी पूर्व ईसवी से ही दक्षिण भारत स्वतंत्र संस्कृति को रूप देने लगता है और आठवीं-नवीं शताब्दी के शैव और वैष्णव भक्ति-आन्दोलन अलवारों और अडियारों के माध्यम से एक अत्यंत अभिनव सांस्कृतिक पुनरुत्थान का निर्माण करते हैं। ये आन्दोलन उत्तर की पुराण-रचनाओं से रस खींचते हैं; परन्तु उन में दक्षिण की आत्मविभोरता, सरसता तथा आत्मसमर्पणप्रधान रहस्यमयी मनोवृत्तियों का भी उत्कर्ष हमें प्राप्त होता है। १२वीं शताब्दी के बाद यह दक्षिणी संस्कृति उत्तर भारत में आकर वैष्णव धर्म के नवीन उत्थान का रूप धारण करती है और नामदेव-रामानन्द-कबीर-नानक-तुलसी-सूर द्वारा नये वैष्णव संस्कारों से युक्त होकर उत्तर भारत में चलता सिक्का बन जाती है। वह प्रतिरोधी शक्तियों से अपना सम्बन्ध स्थापित कर लेती है और इस प्रकार राष्ट्रीय संस्कृति बन कर इस्लामी धर्मसंस्कार तथा ईरानी संस्कृति से मोर्चा लेती है। उसमें बहुत कुछ ऐसा है जो सनातन है, परम्परित एवं मूलबद्ध है; परन्तु उसने उसे हार्दिकता, तेजस्विता एवं साधनात्मकता देकर नूतन तथा समर्थ बना दिया है।

तुलसी में हमें इस वैष्णव संस्कृति का चरमोत्कर्ष दिखलाई देता है। उसके कोमल और कठोर संस्कार, सनातन और नूतन जीवन-मूल्य, भावबोध और कर्मबोध, उदात्त जीवन-चिन्तन तथा भावुकतापूर्ण रससाधना के क्षण उसे विचक्षण, विशिष्ट एवं असामान्य बना देते हैं। उसमें एक ओर अपार विनयशीलता और आत्मदान है तो दूसरी ओर अद्भुत दृढ़ता और व्यक्तित्वनिष्ठा है। वह पूर्वपरम्परा के सर्वश्रेष्ठ को सहज में ही आत्मसात कर लेती है और "नानापुराण-निगमागमसम्मतं" कह कर अपने को सनातन घोषित करती है; परन्तु साथ ही "क्वचिदन्योपि" के बहाने नूतन का भी समावेश करने से नहीं चूकती। वह सच्चे अर्थों में राष्ट्रीय संस्कृति है और उसका साहित्य मध्ययुग का राष्ट्रीय साहित्य कहा जा सकता है।

राष्ट्रीयता से हमारा क्या तात्पर्य है ? मध्ययुग की राष्ट्रीयता का एक स्वरूप हमें पृथ्वीराज रासो में मिलता है; परन्तु यह राष्ट्रीयता विदेशी आक्रमणकारियों के प्रति खड्गबद्ध होते हुए भी व्यक्तिगत स्वार्थों से कलुषित और दुर्बल है। उसका साहित्य कोलाहल अधिक उत्पन्न करता है, शस्त्र की झंकार अधिक भरता है, उसमें वह अन्तर्चेतना नहीं मिलती जो ज्ञानदेव, नामदेव, रामानन्द, नानक, कबीर, तुलसी और सूर में श्रेष्ठ साहित्यिक मूल्यों से ही अनुप्राणित नहीं है, श्रेष्ठतम सनातन सांस्कृतिक उपादानों से भी पुष्ट है। उसमें राष्ट्र की आत्मा का निर्मल तेज है, उसकी वाणी कोमल; परन्तु दृढ़ है, उसमें आत्मोपलब्धि के साथ-साथ इस्लामी एवं ईरानी संस्कारों के प्रति चुनौती का स्वर भी मुखरित है। उसे हम राष्ट्रीय इस अर्थ में भी कहते हैं कि भारत-राष्ट्र के मस्तिष्क, हृदय तथा आत्मा के पवित्रतम संस्कार उसमें वाणीबद्ध हैं। आखिर राष्ट्र संस्कृति ही तो है ? राष्ट्रीय संस्कृति का सर्वश्रेष्ठ ही तो राष्ट्रीय साहित्य है। राष्ट्रीय संस्कृति में सनातन भारतीय मूल्यों की रक्षा का प्रयत्न होगा ही। जो संस्कार समूचे राष्ट्र को सम्पन्न, सप्राण तथा सतेज बनाते हैं, वे ही राष्ट्रीय संस्कार कहे जा सकते हैं। राष्ट्रीय संस्कार मूलतः मानव-मूल्य होते हुए भी इसीलिए राष्ट्रीय हैं कि उनमें राष्ट्र की विशेषता विजड़ित है। वैष्णव संस्कृति में ये राष्ट्रीय संस्कार सर्वरूपेण सुरक्षित हैं और तुलसी साहित्य में उन्होंने काव्य का सर्वमान्य रूप ग्रहण किया है। इसीलिए हम वैष्णव संस्कृति को 'राष्ट्रीय संस्कृति' कहते हैं।

हमारी राष्ट्रीय संस्कृति की सबसे बड़ी विशेषता उसकी चैतन्योन्मुखता है। यूरोप, ईरान, मध्यएशिया और चीन की संस्कृतियां मूलतः भौतिक हैं और उनमें मनुष्य को प्राकृतिक वरिवेश का एक अंग मात्र माना गया है। प्रकृति जड़ोन्मुख है और प्रकृति-धर्मा मानव भी जड़धर्मी है। फलस्वरूप इन संस्कृतियों में देहबुद्धि की प्रधानता है और वे अधिक-से-अधिक मानव-जीवन को परिवारबद्ध या धर्म (सम्प्रदाय) बद्ध रूप में ही देख सकती हैं। उसे विराट् जीवन से संपृक्त करके देखने की क्षमता उनमें नहीं है। परन्तु भारतीय संस्कृति चेतन (ब्रह्म) को मूलाधार मान कर सत्तात्मक जगत के पीछे अभेद को देखती है और अपनी चेतनाभूमि को जड़बद्ध होने

से बचाती है। तुलसी जग को सियाराममय जान कर करबद्ध प्रणाम करते हैं तो वे जड़ जगत के पीछे इसी सूक्ष्म इन्द्रियातीत ब्रह्मचेतना का साक्षात्कार करते है। जड़ (प्रकृति) विवृत्ति है, चैतन्य (ब्रह्म) ही सत्य है। इस प्रकार भारतीय संस्कृति चैतन्य और सूक्ष्म से जड़ और स्थूल की ओर बढ़ती है और जीवन-मात्र को ब्रह्म की अभिव्यक्ति मानती है। इसी चैतन्य की अनुभूति को "कैवल्य" ज्ञान (अभेद ज्ञान या अद्वैत) कहा गया है और उसे मोक्ष (जड़बुद्धि अथवा सांसारिक बन्धनों से मुक्ति) माना गया है। अविद्या (भेदबुद्धि) ही संसृति (प्रपंच, संसार) का मूल है और कैवल्य-पद के प्राप्त होने पर इस भ्रमबुद्धि का नाश हो जाता है। यह चैतन्य-बुद्धि (ब्रह्म-बुद्धि) भक्ति के द्वारा अनायास ही प्राप्त हो जाती है इसीलिए तुलसी ने कहा है :

अति दुर्लभ कैवल्य परम पद। संत पुरान निगम आगम बद॥
राम भजत सोइ मुकुति गोसाईं। अनइच्छित आवइ बरिआई॥
जिमि थल बिनु जल रह न सकाई। कोटि भांति कोई करै उपाई॥
तथा मोच्छ सुख सुनु खगराई। रहि न सकइ हरि भगति बिहाई॥
अस बिचारि हरि भगति सयाने। मुक्ति निरादर भगति लुभाने॥
भगति करत बिनु जतन प्रयासा। संसृति मूल अविद्या नासा॥

—(उत्तर, ११९)

इस मूलगत चैतन्य या ब्रह्म को ही तुलसी ने "राम" कहा है, यह जान लेने से तुलसी की रामकथा की ऐतिहासिक या पौराणिक स्थूलता का परिहार हो जाता है और वह अगतिक न रह कर गतिमान, सूक्ष्म और परव्यंजक बन जाती है। तुलसी ने बड़े उत्साह से राम के इस ब्रह्म-रूप को प्रगट किया है। जड़ोन्मुख प्रकृति जिस भेदबुद्धि का सृजन करती है उसे तुलसी ने माया कहा है; परन्तु उनके राम इस माया को उसके सारे समाज के साथ नटी की तरह नचाते हैं क्योंकि वे मायापति हैं :

जो माया सब जगहि नचावा। जासु चरित लख काहु न पावा॥
सोइ प्रभु भ्रू बिलास खगराजा। नाच नटी इव सहित समाजा॥
सोइ सच्चिदानन्द घन रामा। अज विग्यान रूप बलधामा॥
व्यापक व्याप्य अखण्ड अनन्ता। अखिल अमोघ सक्ति भगवन्ता॥
अगुण अदभ्र गिरा गोतीता। सबदरसी अनवर अजीता॥
निर्मम निराकार निर्मोहा। नित्य निरंजन सुख-संदोहा॥
प्रकृति पार प्रभु सब उर बासी। ब्रह्म निरीह बिरज अविनासी॥

—(उत्तर, ७२)

इन अर्द्धालियों में ब्रह्म-राम के जिन गुणों का बोध है, वे चैतन्य के ही गुण हो सकते है, जड़ के नहीं। यह चैतन्य अजन्मा, विज्ञानरूप, अनन्त शक्तिशाली, व्यापक, अखण्ड, अखिल, अगुण, इंद्रियातीत, समरसी, निराकार, निर्मोह, नित्य,

निरंजन और अविनाशी होने पर भी समस्त नैतिक मूल्यों का मूल स्रोत और प्रकृत्य: सच्चिदानन्द होने के कारण अखिल सुख-सन्दोह है। इन विशेषणों की गहराई में उतरें तो भारतीय विज्ञान-दृष्टि का पता चलता है जो चैतन्य या परिपूर्ण सगुणात्मक—निर्गुणात्मक कल्पना करती है और उसे दृश्यमान जगत के समस्त विस्तार एवं मानव-मन के द्वैधात्मक अथवा द्वन्द्वात्मक जगत का मूल कारण मानती है।

इसी मूलभूत एकता की कल्पना से भारतीय विज्ञानियों (अद्वैतवादी दार्शनिकों) ने नैतिक मूल्यों का अनुमान लगाया है। मोह, तृष्णा, क्रोध, लोभ, श्रीमद, काम, मत्सर, शोक, चिन्ता आदि की तुलसी ने "माया कटक प्रचंड" (उत्तर ७०-१) कह कर अभेदबुद्धि-प्रधान अंतश्चेतना का विश्लेषण किया है और उससे ऊपर उठने के लिए मनुष्य को ललकारा है। जड़ोन्मुख प्रवृत्तियों का प्रतीक रावण है तो ब्रह्ममय चैतन्योन्मुख तथा नैतिक प्रवृत्तियों के प्रतीक राम है और इन दोनों का द्वन्द्व राम-रावण-समर के रूप में कल्पित है। इस्लामी और ईरानी भोगवादी प्रवृत्तियां मूलतः जड़ोन्मुख होने के कारण भारतीय सांस्कृतिक चेतना के लिए चुनौती थीं, तुलसी इस बात को जानते थे। अतः अपने राष्ट्रीय चिन्तन में उन्होंने एतद्देशीय सांस्कृतिक उपकरणों को पुनः स्थापित किया और भोग-विलास के स्थान पर त्याग, तपस्या एवं सहिष्णुता के नए मूल्यों की स्थापना की। जहां अन्य देशों मे नीति के मूल्य मानवीय हैं और मानव-सम्बन्धों से निःसृत है, वहां हमारे देश के सांस्कृतिक चिन्तन में नीति का मूल उत्स मूल ब्रह्मनिष्ठा है। इसीलिए जहां दूसरे देशों में मानवीय सम्बन्धों के बदलने पर सांस्कृतिक मूल्यों के बदल जाने की आशंका है, वैसी कोई आशंका हमारे देश में नहीं है। जब तक भारतीय प्रज्ञा की अभेदमयी चैतन्यदृष्टि सुरक्षित है, तब तक हमारे मानव-मूल्य सनातन जीवन-मूल्य है और उनका अतिक्रमण नहीं किया जा सकता। इसका फल यह है कि भारतवर्ष में नीति और धर्म आस्तिकता और आस्था के पर्यायवाची बन गये हैं। वैष्णव भक्त के लिये उसका आराध्य मूर्तिमान धर्म है, अतः उसके लिए अनीति या दुर्नीती का प्रश्न नहीं उठता। इसीलिए तुलसी ने राम को "माया मनुष्य" बनाते हुए भी उनके "हरि" रूप को ही अक्षुण्ण रखा है। वे उन्हें "सद्धर्मवर्म" (किष्किंधाकाण्ड: मंगलाचरण) मानते हैं। धर्म है ऋत्, अधर्म अनृत है। धर्म मानव-सम्बन्धनिरपेक्ष, सनातन तथा सार्वभौमिक है, अधर्म व्यक्तिमूलक, अवसरवादी (क्षणिक) और संकीर्ण है। नैतिकता की कसौटी है परहित अर्थात् अहिंसा। उसी से आत्मतोष (स्वान्तः सुखाय) का लाभ और अंतस्तम का निवारण होता है। परन्तु यह अहिसा साधक के आत्मदान का ही दूसरा नाम है और इसके लिये एकांत ब्रह्मनिष्ठा (अनन्य भक्ति) की आवश्यकता है। भारतीय नीतिदर्शन आस्थामूलक और निरपेक्ष है। इसीलिये उसमें जो समाधान हैं वे व्यक्ति-जीवन के परिष्कार, उन्नयन तथा उत्सर्ग से अधिक संबंध रखते हैं, समष्टिगत जीवन को वे व्यक्ति के माध्यम से ही छूते हैं।

वैष्णव संस्कृति की इस नैतिक विशेषता के साथ आत्मपरिष्कार अनिवार्य रूप से जुड़ा है और यह आत्मपरिष्कार व्यष्टि तथा समष्टि दोनों पर लागू है। विजय रथ-रूपक में इस आंतरिक जागरूकता को वाणी मिली है जो वैष्णव साधन का प्रमुख अंग है। राम कहते हैं कि वह रथ दूसरा है जिससे मनुष्य विजय प्राप्त करता है :

सुनहु सखा कह कृपानिधाना। जेहिं जय होइ सो स्यंदन आना ॥
सौरज धीरज तेहि रथ चाका। सत्य सील दृढ़ ध्वजा पताका ॥
बल बिबेक दम परहित घोरे। छमा कृपा समता रजु जोरे ॥
ईस भजनु सारथी सुजाना। बिरति चर्म संतोष कृपाना ॥
दान परसु बुधि सक्ति प्रचंडा। बर बिग्यान कठिन कोदण्डा ॥
अमल अचल मन त्रोन समाना। सम जम नियम सिलीमुख नाना।
कवच अभेद बिप्र गुर पूजा। एहि सम बिजय उपाय न दूजा।
सखा धर्ममय अस रथ जाकें। जीतन कहं न कतहुं रिपु ताकें ॥

—(लंका, ८०)

इस आत्मसाधना के विषय में संकल्प-विकल्प के बड़े सुन्दर और मनोमय चित्र हमें विनयपत्रिका में मिलते हैं। कवि अपनी जीवनचर्या के सम्बन्ध में अनेक विकल्प करता है, जैसे "कबहुं कहूं यह रहनि रहौंगो" पद में और रामचरितमानस के संत ज्ञानी-भक्त के रूप में इस जीवन की एक विस्तृत रूपरेखा प्रस्तुत करता है। तुलसीदास ही क्यों, सारे वैष्णव कवि आत्मपरिष्कार से ही आरम्भ करते हैं और उनका साहित्य उनके संकल्प, आत्मप्रबोध तथा आत्मोपलब्धि का ही साहित्य है। यह कहा जा सकता है कि वैष्णव संस्कृति का यह स्वरूप आदर्श मात्र है, उसमें व्यावहारिक रूप से संपूर्ण राष्ट्र की संस्कृति बनने की क्षमता नहीं है; परन्तु जितना बड़ा घेरा घेर कर वैष्णव संस्कृति चली है उतना बड़ा वृत्त किसी भी संस्कृति ने नहीं घेरा है। उसके समाधान साम्प्रदायिक नहीं हैं और वह मानवमात्र के लिए नई जीवन-योजना प्रस्तुत करती है।

प्रकृतिप्रेम, परिवारनिष्ठा, वर्णाश्रम-व्यवस्था तथा उदात्त चरित्र भी भारतीय संस्कृति के अभिन्न अंग रहे हैं। वैष्णव संस्कृति में इन तत्वों की स्थिति क्या है ? कहा जाता है कि वैष्णव काव्य में प्रकृति उपेक्षित रही है, वह आराध्य के नाते ही प्रवेश पाती है और उसी को सार्थक करने में उसकी सफलता है। इसमें सन्देह नहीं कि वैष्णव कवि के लिए प्रकृति, परिवार, वर्णाश्रम, चरित्र—सभी स्वतन्त्र रूप से उपभोग्य नहीं हैं, वे निवेदित होकर भी प्रसाद रूप में ग्रहीत हो सकते हैं। "नाते नेह राम के मनियत सुहृद-सुसेव्य जहां लौं।" क्योंकि भक्त कवि-साधक आंख फोड़ना नहीं चाहता, इस अंजन से अपनी दृष्टि ही बदलना चाहता है। आंख फोड़े, वैसा अंजन क्या हितकर होगा ? लांक्षा है कि तुलसी प्रकृतिप्रेमी नहीं हैं; परन्तु प्रकृति का जैसा सूक्ष्म निरीक्षण उनके काव्य में है, वैसा अन्यत्र कहां है ? चित्रकूट के प्राकृतिक वैभव का वर्णन करते हुए वे अघाते

ही नहीं। उनके उपमान, प्रतिमान, प्रतीक, संदर्भ, उदाहरण—सब प्रकृति से ग्रहीत हैं। तब यह कैसे कहा जा सकता है कि तुलसी प्रकृति-सौन्दर्य के विरागी हैं। इसी प्रकार तुलसी का वैराग्य पलायन न होकर जीवन के श्रेष्ठतम संस्कारों के आकलन का प्रयत्न मात्र है। उनकी परिवारनिष्ठा उनकी रामकथा में पग-पग पर ध्वनित है और वर्णाश्रम तथा चारित्र्य का उनसे अधिक प्रबल प्रवक्ता और कहां मिलेगा। सच तो यह है कि वैष्णव संस्कृति (उसे तुलसी-संस्कृति ही क्यों न कहें ?) चिन्मय दृष्टि पर आधृत नई जीवन्त संस्कृति है जो अपनी सीमाओं के भीतर अधिक-से अधिक सनातन को ग्रहण करने में समर्थ है और जिसमें मानव-संकल्प का श्रेष्ठतम आत्मसात हो गया है।

अ—राष्ट्रीय भोगवादी (इस्लामी ? ईरानी ?) संस्कृति के सम्मुख राष्ट्रीय त्यागवादी, अहिंसक तथा आत्मशोधी वैष्णव संस्कृति की प्रतिष्ठा मध्ययुग का सबसे बड़ा चमत्कार है और तुलसी जैसे वैष्णव भक्त को यह श्रेय प्राप्त है कि इस घटना के अवतरण में उनकी साहित्यिक एवं साधनात्मक प्रतिभा समर्थ बन सकी है। सच तो यह है कि तुलसी मध्ययुग के हमारे सबसे बड़े राष्ट्रीय (और सांस्कृतिक) कवि हैं; क्योंकि उनमें मूलभूत भारतीय मूल्य कालिदास और बाल्मीकि से भी अधिक सुन्दर रीति से संकलित हुए हैं। उन्हें हम व्यास की समकक्षता में रख सकते हैं जो काव्य को चिरंतन जीवन-मूल्यों का प्रकाशक बनाते हैं। व्यास, बाल्मीकि, कालिदास, तुलसीदास और रवीन्द्रनाथ भारतीय सांस्कृतिक काव्य (या राष्ट्रीय काव्य) के पांच क्रमागत संस्करण हैं। प्रत्येक संस्करण नवीन होने पर भी प्राचीन पाठ के बहुत निकट है। इन कवियों में हमारे भारतीय राष्ट्रीय (या सांस्कृतिक) चेतना का विकासमान इतिहास मिल जाता है। इन्होंने युगधर्म के अनुरूप भारतीय राष्ट्रीयता को अभिव्यक्ति दी है; परन्तु आवरणपृष्ठ भिन्न होने पर भी इनकी रचनाओं के भीतर एक ही सांस्कृतिक मूल्यों की अंतःसलिला प्रवाहित हो रही है। बाल्मीकि कालिदास और रवीन्द्रनाथ में काव्य का इन्द्रधनुषी वैभव हमें चमत्कृत करता है तो व्यास और तुलसी में संस्कृति का दैदीप्यमान तेज हमें पावन कर देता है। व्यास और तुलसी के युग सांस्कृतिक मूल्यों के विघटन के युग थे, समृद्ध संस्कृति के युग वे नहीं थे। फलतः उन्हें काव्य-संस्कारों से दृष्टि हटाकर आत्मा के निराकार वैभव को सरल रूपरेखाओं में बांधना पड़ा। उनका स्वर आकांक्षा और उल्लास का स्वर नहीं, आत्मशोध और उत्सर्ग का स्वर है; परन्तु उनकी आत्मग्लानि को हम आत्महीनता न समझें। उसमें श्रेष्ठतम जीवनमूल्यों के नवनिर्माण का संकल्प है और उन्होंने जिन कैलाश-शिखरों की कल्पना की है वे सामान्य जन के लिये अकल्पित हैं। इस ऊंचाई से देखने पर ही हम उनके सांस्कृतिक जीवन की समृद्धि और सम्पन्नता का अनुमान लगा सकेंगे।

मध्ययुग का सांस्कृतिक और राष्ट्रीय प्रतिनिधित्व हम दीन-इलाही के प्रवर्त्तक अकबर को दें या रामचरितमानस के महाकवि तुलसी को ? कहा जाता है कि सम्राट्

अकबर ने जिस स्वर्णयुग का सूत्रपात किया, उसके मूल में समन्वय, सहिष्णुता और अभिजात्य सुरक्षित था। उसके आधार पर परवर्त्ती काल में ताजमहल जैसी अद्वितीय कलाकृति निर्मित हुई और शाहजहां के समय तक यह समन्वय अक्षुण्ण बना रहा; परन्तु इस सम्बन्ध में दो बातें हम भुला देते हैं। एक तो यह है कि सामन्ती संस्कृतियों में जन-संस्कृति बनने की क्षमता सामान्यतः नहीं होती और वे राष्ट्रीय संस्कृति न होकर वर्गविशेष की संस्कृति मात्र रह जाती है। स्वदेशी सामंती संस्कृति के सम्बन्ध में जब यह सीमा है तो विदेशी सामंती संस्कृति की तो इससे भी अधिक सीमाएं हैं। दिल्ली-आगरे की मध्ययुगीन संस्कृति पठान-ईरानी-तूरानी भौतिक सांस्कृतिक उपादानों और अरबी (इस्लामी) धार्मिक उपकरणों पर आधारित थी। पठानों की संस्कृति में बहुत कुछ एतद्देशीय था; क्योंकि गांधार-कुभा का प्रदेश भारतीय सांस्कृतिक परम्परा का अविच्छिन्न अंग रहा है; परन्तु मुगलों के साथ तूरानी-ईरानी संस्कार इतनी बड़ी मात्रा में बाहर से आये कि पठान-संस्कृति के ऊपर एक नया सांस्कृतिक भवन ही खड़ा हो गया जो भोगवाद, भाग्यवाद तथा विलासविभ्रम-प्रधान कलाचेतना से चमत्कार बना हुआ था। पूर्वमध्ययुग की राजपूत और पठान संस्कृतियों में अनेक प्रजाति-तत्व समान थे और उनके उपकरण बहुत कुछ मध्य एशियाई होने के नाते विरोधी नहीं थे; परन्तु तूरानी-ईरानी संस्कृतियों पर अवलंबित मुगल संस्कृति कृत्रिम पौधा था जो भारतीय वातावरण में अधिक देर तक जीवित नहीं रह सकता था। उसने अपने अतिवाद के द्वारा शीघ्र ही विरोध खड़ा कर दिया। तुलसी के साहित्य में यह विरोध बड़ी सशक्त वाणी में पल्लवित है। तुलसी ने सनातन आर्य-संस्कृति के साथ मध्ययुगीन लोकसंस्कृति का गठबंधन किया और ग्रामीण संस्कारों से पुष्ट व्यापक मानव-चेतना को रामभक्ति का तेज और रामराज्य का स्वप्न देकर एक नवीन सांस्कृतिक अभियान की घोषणा की। नामदेव-रामानन्द से आरम्भ होकर एकनाथ, तुकाराम, रामदास के मराठी संत-साहित्य तक हमें मध्ययुगीन संत-साहित्य का एक क्रमबद्ध प्रसार मिलता है इस ऐतिहासिक विकास के बीच में तुलसीदास और उनके साहित्य की प्रतिष्ठा है। इस प्रकार तुलसी की ऐतिहासिक स्थिति केन्द्रीय बन जाती है और उनका साहित्य संत-साहित्य में मूर्धन्य स्थान को प्राप्त होता है। इस सम्पूर्ण साहित्य-विकास में हम वैष्णव धर्म और संस्कृति को धीरे-धीरे खुलता पाते हैं। दीन-इलाही अकबर का स्वप्नमात्र था (कुछ इतिहासकार उसे अकबर की राजनैतिक चाल भी कहते हैं) और उसका समन्वय कृत्रिम, औपचारिक तथा अवैज्ञानिक था। उसके केन्द्र में न कोई महान व्यक्तित्व था, न किसी प्रकार की उदात्त साधना। ऐसी स्थिति में वह आकाशबेलि बन कर नष्ट हो गया। परजीवी पौधा कितनी देर तक ठहरता? परन्तु संत-साधना की पीठिका पर स्थित तुलसी का रामकाव्य नवीन सांस्कृतिक उत्थान का महामन्त्र बन गया; क्योंकि उसके पीछे सैकड़ों संतों, भक्तों, संगीतज्ञों और कलाविदों का आत्मदान था और उसकी भूमि अपने देश की ही उर्वरा भूमि थी। उसकी जड़ें उपनिषद्, गीता तथा पुराणों

में थीं और उसका छायाच्छद भारतीय काव्य-परम्परा में प्रथित पल्लवों की हरीतिमा और पुष्पों के शोभा-भार से अलंकृत था। उसने देश के लोकजीवन से अपना रस खींचा और गंध-मधु के अक्षय आत्मदान से सारे देश को आनन्द-कानन बना दिया। इस तुलसी-रूपी जंगम-तरु पर रामयशरूपी भ्रमर की शोभा दर्शनीय थी। स्वयं राम उसकी गंध-माधुरी पर मुग्ध हो गये तो सहृदयजनों का तो कहना ही क्या ? तुलसी-साहित्य के शब्द-शब्द पर जिस संस्कृति की छाप है, वही मध्ययुग की सांस्कृतिक एवं राष्ट्रीय चेतना का प्रतिनिधित्व कर सकती है। दीन-इलाही उसके सामने भ्रूण-हत्या से अधिक महत्व नहीं रखता। विदेशी पौधों की कलमें लगा कर राजोपवन तैयार किये जा सकते हैं, उनमें महाकांतारो की नैसर्गिक शोभा नहीं होती। दीन-इलाही की असफलता से यह सिद्ध हो गया कि प्राणवान ही प्राण का संचय कर सकता है, धर्म के कृत्रिम आवरण से राजनीति शोभनीय नहीं बन सकती। मध्ययुगीन वैष्णव संस्कृति के महावन में तुलसी अक्षय-वट की भांति प्रतिष्ठित हैं और उनके साहित्य के द्रोण-पुट में वैष्णव संस्कृति का अक्षय मधु महाकाल के कोप से बच कर अनंत असीम के लिए सुरक्षित रह सका है।

सागर विश्वविद्यालय
सागर
१ अगस्त, १९६२

—रामरतन भटनागर

विषय-सूची

: १ :

मध्ययुगीन भक्ति-साहित्य और नवजागरण

मध्ययुगीन भक्ति-साहित्य को पराजय और प्रताड़ना से सम्बन्धित कर हमने उसे बराबर छोटा करने का प्रयत्न किया है। इसका कारण यह है कि हम उसे सम्यक् ऐतिहासिक पृष्ठभूमि नहीं दे सके हैं। हमने वैष्णव धर्मोत्थान को व्यक्तिमुखी चेतना तक सीमित रखा है और उसके व्यापक सामाजिक तथा सांस्कृतिक परिवेश पर हमारा ध्यान नही गया है। हमारी दृष्टि राजनैतिक केन्द्रों तथा इस्लामी राजवंशों में उलझ कर रह गई और हमने मुसलमान इतिहासकारों के विवरणों को अकाट्य सत्य मान लिया। इसके अतिरिक्त एक कारण यह भी है कि हमने संस्कृत-साहित्य की मध्ययुगीन उपलब्धि को अपने अध्ययन में स्थान नहीं दिया है और हम भारतीय भाषाओं के प्राचीन साहित्य के बिखरे सूत्रों को एक विराट् अनुशीलन में ग्रंथित नहीं कर सके हैं। इसका फल यह हुआ कि हमने मध्ययुग के नवजागरण (रेनेसां) को पराजयवाद का रूप दे दिया और वैष्णव धर्म के आन्दोलन को परलोकवादी, निष्क्रियतावादी तथा कुंठाग्रस्त चेतना मात्र माना जिसकी जड़ें हमारी हताशा, सांस्कृतिक हीनता तथा राजनैतिक पराधीनता में दूर तक गहरी गई हैं।

इसमें सन्देह नहीं कि गंगा की घाटी में हिन्दू शक्ति की पराजय भारतीय संस्कृति के लिए एक बड़ी दुर्घटना थी और उसने हिन्दू धर्म-चेतना पर गहरा आघात पहुंचाया। इस अप्रत्याशित घटना ने दुर्दैव का रूप धारण कर लिया और इसके प्रहार की विद्युतगति ने मध्यदेश के महामानवसागर को एकदम स्तब्ध, चकित और निरस्त्र कर दिया। लगभग एक शताब्दी तक हिन्दू चेतना निष्प्राण बनी रही यद्यपि स्थानीय प्रतिरोध बराबर चलते रहे जैसा इब्ने बतूता के "रेहला" से ज्ञात होता है। परन्तु सौभाग्य से दक्षिण इस प्रहार से बचा हुआ था और वैष्णव धर्म तथा संस्कृति के रूप में भक्तिवाद पर आधारित व्यापक हिन्दू धर्म का विकास हो चुका था। १५० वर्षों बाद हम उत्तर भारत में हिन्दू धर्म को वैष्णव भक्ति के रूप में नया संस्कार प्राप्त करते पाते हैं और हम उसकी जीवनशक्ति से चकित हो जाते हैं। भयंकर दमन, अराजकता तथा जन-हानि के भीतर भी हिन्दू मन अपनी स्वतंत्रता तथा अंतरंगिता को सुरक्षित रख सका, यह समसुच चमत्कार से कम नहीं है। वास्तव में, रामानंद के जन्म (१२९९ ई०) से ही हम इस नवजागरण को कालबद्ध कर सकते हैं क्योंकि वही मध्यदेश में नवजागरण के पुरोधा बने और

उनका जीवन-काल समस्त चौदहवीं शताब्दी को घेर लेता है (१२६६-१४१८)। इस नवजागरण की भूमिका कुछ पहले ही महाराष्ट्र में ज्ञानेश्वर (१२७१-१२६६ ई०) और नामदेव (१२७०-१३५० ई०) के द्वारा स्थापित हो गई थी। यह इतिहास-सिद्ध है कि इन दोनों संतों ने साथ-साथ उत्तर भारत की यात्रा की थी और मुसलमानों द्वारा महानाश का ताण्डवनृत्य स्वयं देखा था। सम्भवतः ये ११६३ ई० में काशी में थे जब मुहम्मद गौरी ने काशी पर आधिपत्य स्थापित किया और सहस्रों मूर्त्तियां खण्डित कीं। नामदेव के अभंगों में उसकी हृदयवेदना स्पष्ट रूप से प्रतिध्वनित है। वे कहते हैं :—

देव दगउचा—ऐसे देव तेही फोडिले तुरकीं। घातले उदकीं बोभातीना।। ऐसीं हीं दैवतें नको दावू देवा—(ना० गा० १३८६) (पत्थर के देवताओं को मुसलमानों ने तोड़ा-फोड़ा और पानी मे डुबो दिया, फिर भी वे न क्रोध करते हैं, न क्रन्दन करते हैं। हे ईश्वर, मैं ऐसे देवताओं का दर्शन नहीं चाहता।) संभवतः यह क्रांति की पहली आवाज थी जिसमें उस युग का हृदयमन्थन प्रतिध्वनित हुआ था। ज्ञानेश्वर की समाधि (१२६६ ई०) के बाद नामदेव उत्तर भारत लौटे और उन्होंने अपने जीवन का शेषांश वहीं व्यतीत किया। उन्होंने उन महान प्रश्नों को खड़ा किया जो निर्गुण वैष्णव साहित्य में बार-बार नारा बन कर उठे हैं। इस्लाम की चुनौती को उन्होंने अद्वैतवाद, भक्ति और नामस्मरण की ढाल पर रोका तथा मूर्त्तिपूजा एवं क्रिया (कर्म) काण्ड के विरोध को जन्म देकर हिन्दू मात्र को एक झंडे के नीचे खड़ा किया। वैदिकता, वर्णव्यवस्था तथा अस्पर्श्यवाद के विरुद्ध उनका अभियान एक लम्बी परम्परा की कड़ी है; परन्तु स्वयं हिन्दू चेतना के भीतर से उठ कर यह नया महत्व प्राप्त कर लेता है। इस भूमिका पर निर्गुणमतवाद जहां एक ओर सिद्ध, नाथ, निरंजन, महानुभाव, लिंगायत आदि वेद-ब्राह्मण-शास्त्र विरोधी पूर्ववर्त्ती मतवादों से अपना संबंध जोड़ लेता है, वहां दूसरी ओर इस्लामी धर्मसाधना और धर्मचर्या के भी निकट आ जाता है। नामदेव को यह श्रेय मिलेगा कि उन्होंने हिन्दुओं की धार्मिक और सामाजिक त्रुटियों को पहचाना और उनको ध्यान में रखते हुए नए युगधर्म के रूप में एक अत्यंत सहिष्णु, उदार तथा क्रांतिकारी समाधान को सामने रखा। जातिहीनत्व, क्षुद्र देवता, तीर्थों के अनाचार तथा शास्त्र-ज्ञान के अभिमान के विरुद्ध नामदेव की वाणी तेजस्वी बन गई है। वह समझौता करना जानती ही नहीं। हिन्दूपन के अभिमान को धारण करते हुए उन्होंने विशुद्ध हृदयधर्म को आधारभूत सत्य माना और तत्ववाद के रूप में मंदिर-मस्जिद के बीच की ऐसी समन्वय-भूमि की खोज की जहां मनुष्य अपने मानव रूप में ही गौरवान्वित हो सकता था। इसमें संदेह नहीं कि नामदेव जैसे हीनवर्ण संतों के अडिग विश्वास ने ही धर्मपरिवर्त्तन की बाढ़ को रोका। नामदेव की रचनाओं के तुलनात्मक अध्ययन से स्पष्ट हो जाता है कि उनका तत्ववाद (निर्गुण उपासना) उत्तर भारत की नई धार्मिक तथा सामाजिक भूमि की उपज

था। महाराष्ट्र के स्वतंत्र वातावरण में उन्होंने सगुण भक्ति के आधार पर हिन्दूधर्मान्तर्गत वर्णहीन सामाजिक जीवन की कल्पना की थी और उत्तर भारत के इस्लामी परिवेश में उन्हें अपने योग-भक्ति-वेदांत के समीकरण को ऐसा नया रूप देना पड़ा जो तत्कालिक सूफी मतवाद के निकट पड़ता था। वास्तव में निर्गुणवाद दक्षिण के वैष्णव भक्तिवाद का वह परिस्थितिजन्य स्वरूप है जिसने उत्तर भारत की चौदहवीं शताब्दी की हिन्दू चेतना में जन्म लिया था। उसके विकास के लिए हमें नामदेव, रामानंद और कबीर-नानक की रचनाओं को ऐतिहासिक क्रम से पूर्व—पर रख कर देखना होगा।

इस्लामी आक्रमण के फलस्वरूप उत्पन्न अराजक धार्मिक स्थिति से मोर्चा लेने के लिये ब्राह्मण वर्ग ने अद्वैतवाद का सहारा लेकर बहुदेवोपासना को स्वीकार कर लिया था और इस प्रकार बौद्ध, शैव, तंत्र गाणपत्य, सौर और शाक्त सम्प्रदायों के असंख्य देवी-देवता स्मार्त्त हिन्दू धर्म के अंग बन गए थे। इस बहुदेववाद ने तीर्थक्षेत्रों तथा व्रत-दानों का अकल्पित संख्या-विस्तार किया। फल यह हुआ कि समस्त हिन्दू धर्म चर्यापिटक बन गया। इन नये ब्राह्मण धर्म के नियमन के लिए बड़ी संख्या में निबन्ध-ग्रंथों का निर्माण हुआ। महाराष्ट्र में हेमाद्रि और मिथिला में चण्डेश्वर-विद्यापति इस नई निबन्ध-व्यवस्था के दो छोर हैं। यह ब्राह्मण धर्म वैदिक धर्मव्यवस्था को सर्वोपरि मानता था और इस व्यवस्था की सामाजिक विषमता को धर्म का रूप देने के लिए ब्राह्मण को "भू-देवता" का स्थान देता था। नामदेव की "विट्ठल-भक्ति" में इस ब्राह्मण धर्म, "हिन्दू-धर्म" से मुक्ति पाने की छटपटाहट स्पष्ट है। इस प्रकार नामदेव ने इस्लामी संघात से उत्पन्न धर्म-संकोच तथा प्रतिक्रियावाद का सामना किया। १३१८ ई० के पश्चात् महाराष्ट्र में मुसलमानों की सत्ता स्थापित हो जाने पर उत्तर भारत की तरह दक्षिण में भी सामाजिक और धार्मिक संकट उठ खड़ा हुआ और नामदेव के वारकरी सम्प्रदाय को नई परिस्थिति से चुनौती लेनी पड़ी। महाराष्ट्र में नामदेव की परम्परा चौखामेला, (मृ० १३४२), कान्होपात्रा, बहिरापिसा, रामाजी, नृसिंह, सरस्वती, भानुदास (१४७८-१५१३), मुतौंजी ब्राह्मणी, जनार्दन स्वामी, दासोपंत और एकनाथ। (१५३२-१६०२) में विकसित हुई और उत्तर भारत में रामानन्द (१२९९-१४१८) के निर्गुणोपासक तथा सगुणोपासक शिष्यों में होती हुई कबीर, नानक, दादू और तुलसीदास, नाभादास में पल्लवित हुई। इन कवि-साधकों में हम इस्लाम के विरुद्ध प्रतिक्रिया भावना को उत्तरोत्तर तीव्र और गहन होता देखते हैं और एकनाथ तथा तुलसीदास में इसकी सबसे प्रौढ़ सांस्कृतिक तथा साहित्यिक अभिव्यंजना हमें मिलती है। जहां निर्गुण, (प्रतिकारात्मक) भावना रक्षात्मक तथा समन्वयवादी है, वहां सगुण भावना आक्रामक तथा पुनरुत्थानवादी। निर्गुण भावना संस्कारहीन साधकों की व्यक्तिगत साधना पर आधारित होने के कारण नए साहित्यिक एवं कलात्मक संस्थानों को जन्म नहीं दे सकी; परन्तु सगुण भावना संस्कारी ब्राह्मणों की पौराणिक तथा साहित्यिक निष्ठा

के द्वारा पुष्ट होकर विचक्षण तथा महार्घ सांस्कृतिक आदान बन गई। इस प्रकार १३०० ई० से १६०० ई० तक मध्ययुगीन नवजागरण का चक्र बड़ी तीव्र गति से ऊपर की ओर चढ़ता है। पराजय का आक्रोश धीरे-धीरे स्वस्थ आत्मलाभ।("परम विश्रामु") तथा आक्रामक आत्मविश्वास में परिवर्तित हो जाता है और १६ वीं शताब्दी का अंत होते-होते हिन्दू जाति मेधा जीवन के सभी क्षेत्रों में फिर एक बार क्रियमाण तथा जागरूक दिखलाई देती है।

यह सच है कि इन सौ वर्षों के अराजकता के युग में हिन्दू बलात् मुसलमान बनाए गये; परन्तु यह कम आश्चर्य की बात नहीं है कि महान आकर्षण के रहते भी अधिकांश हिन्दू जनता पैतृक धर्म के प्रति आस्थावान् बनी रही। मलिक काफूर और खुसरो इस बात के प्रमाण है कि सामान्य हिन्दू भी इस्लाम में दीक्षित होकर परम वैभव को प्राप्त हो सकते थे। खुसरो तो नसीरुद्दीन के नाम से कुछ दिनों के लिए दिल्ली-सम्राट् ही बन गया था। वैभव और शक्ति के इस आकर्षण को त्याग कर हिन्दू धर्म से चिमटे रहना बड़े धैर्य और साहस की बात थी; परन्तु हिन्दू जनता ने यही तपस्या का मार्ग अपनाया। उसने आक्रमणकारियों को अपना हृदय-मन समर्पित नही किया। इस मनोस्थिति के लिये बहुत बड़ी तैयारी की आवश्यकता थी। रामानंद से पहले उत्तर भारत के क्षेत्र में नामदेव को छोड़कर ऐसा कोई नाम नहीं मिलता जो इस परिवर्तन के लिये उत्तरदायी हो सके। सम्भवत: गोरखनाथ और योगी भी इस प्रक्रिया में सहायक हुए; परन्तु इस्लामी प्रहार की चोट को मुख्यत: आचार्यों, पण्डितों तथा निबन्ध लेखकों ने ही सम्भाला। सम्पूर्ण तेरहवीं शताब्दी उत्तर भारत के लिए अपरिसीम प्रतिरोध, अतुलनीय दमन तथा अमर्यादित अनाचार की शताब्दी है।

धीरे-धीरे हिन्दू धर्म विदेशी आधिपत्य के संघात से उबरा और देश के प्रत्येक भाग में एक प्रकार का नैतिक और बौद्धिक पुनर्जागरण दृष्टिगोचर होने लगा। दिल्ली के आस-पास के केन्द्रीय भू-भाग भी इस नवजागरण से बच नही सके। इस नवजागरण ने प्रत्येक क्षेत्र में मध्ययुग के चिन्तन को नई दिशा दी और शीघ्र ही ऐसी नई नैतिक शक्तियां जाग्रत हुई जिन्होंने हिन्दू जीवन को नई स्फूर्ति से भर दिया। कालान्तर में यह शक्तिमत्ता हिन्दू धर्म और संस्कृति को पर्याप्त आत्म-विश्वास दे सकी और उसके लिए दावेदार बनना सम्भव हो गया। १६ वीं शताब्दी के मध्यकाल तक पहुंचते-पहुंचते हिन्दू संस्कृति धर्म, नीति, स्मृति, साहित्य और राजनीति के क्षेत्रों में नए आदर्श पल्लवित करने में समर्थ हुई और इस प्रकार मध्य-युग में नवजागरण का सूत्रपात हुआ। वास्तव में चौदहवीं शताब्दी में ही भारतवर्ष में एक महान आध्यात्मिक तथा साहित्यिक क्रांति का बीजारोपण हो गया था। इस्लाम के संघात ने सामाजिक क्षेत्र में जो विस्फोट उत्पन्न कर दिया था, उसका निराकरण शीघ्र ही नीतिकारों और स्मृतिकारों का धर्म बन गया। उन्होंने देवल और मेधातिथि की परम्परा को आगे बढ़ाया और शीघ्र ही निबन्ध-ग्रन्थों, स्मृतियों

तथा भाष्यों का ताँता लग गया। सच तो यह है कि १००० ई० से १५०० ई० तक संस्कृत-साहित्य का सबसे बड़ा योगदान धर्मशास्त्र के क्षेत्र में ही है। यह शास्त्र-साहित्य व्यापकता और पूर्णता में अद्वितीय है। उसने समाज और व्यक्ति के जीवन के किसी क्षेत्र को अस्पर्शित नहीं छोड़ा है। विज्ञानेश्वर, अपरार्क, कुल्लूक और गोविन्दराज जैसे भाष्यकार और लक्ष्मीधर (कृतिकल्पतरु), बल्लालसेन (आचार-सागर, दानसागर, अद्भुतसागर आदि), वरदराज (व्यवहार-निर्णय), देवण्णभट्ट (स्मृतिचंद्रिका), हेमाद्रि (चतुर्वर्गचितामणि) जैसे निबंधकार और "दयाभागस्मृति" के लेखक जीमूतवाहन जैसे महान व्यवस्थापक हिन्दू समाज के लिये वरदान सिद्ध हुये। उन्होंने अनेकानेक मतवादों, परम्पराओं, विश्वासों, पूजापद्धतियों, व्रतदानों. तीर्थों तथा इष्टदेवों को हिन्दू धर्म में स्थान दिया। राजसत्ता की ओर से हट कर जनता का मुख पंडितों, आचार्यों और स्मृतिकारों की ओर मुडा। प्रमुख धर्मक्षेत्र और तीर्थस्थान नई व्यवस्था के केन्द्र बन गये और दूर-दूर के प्रदेश इन केन्द्रों से अनुशासित होने लगे। टोडरमल के समय तक हिन्दू स्मृतियों की बराबर नई व्यवस्था चलती रही और हिन्दू धर्म को नये रक्षाकवच मिलते गये। यह हिन्दू धर्म की प्रति-रक्षात्मक योजना थी; परन्तु इसके साथ नई विचारधाराओं और साधनाओं को स्वीकार कर तथा आध्यात्मिक अनुभूति के क्षेत्र में नए प्रतीकों तथा संदर्भों का सर्जन कर वह अपने स्वरूप का भी परिवर्त्तन करता रहा। १२०० से १५५० ई० तक पौराणिक हिन्दू धर्म का पुनरुत्थान इस नवजागरण का केन्द्रीय सत्य है। इस पुनरुत्थान ने शीघ्र ही वैष्णव धर्म का रूप धारण कर लिया जो भक्तिवाद का नया संस्करण माना जा सकता है। जयदेव, नामदेव, रामानन्द, कबीर, नरसिंह मेहता, बल्लभाचार्य, चैतन्य, सूरदास और मीरा जैसे भक्त इसी काल से जन्म लेते है और अपनी साधना से हिन्दू धारणा को आमूल बदल देते हैं। इस आन्दोलन के पुरस्कर्ता रामानन्द ही हैं जिन्होंने तमिल देश के भक्ति-सिद्धान्तों और भक्ति-चर्या से उत्तर भारत को परिचित कराया और पण्डित नगरी काशी को केन्द्र बनाकर हिन्दू मात्र के हृदय पर शासन किया। कबीर और नानक की रहस्यात्मक काव्योक्तियों तथा चैतन्य की महाभावा भक्ति में उन्हीं की छाप देखी जा सकती है।

यह स्मरण रखने की बात है कि मध्ययुग के इस धार्मिक पुनरुत्थान को दक्षिण में राजशक्ति का सहारा मिला; परन्तु शेष भारतवर्ष में, विशेषत: उत्तर में, वह एक महान जनांदोलन के रूप में विकसित हुआ। वास्तव में यह अखिल भारतीय आन्दोलन था और प्रत्येक प्रदेश ने अपनी सामर्थ्य अथवा रुचि के अनुसार इसमें योग दिया। राजनैतिक शक्तियों के क्षेत्र में देश भले ही खण्ड-खण्ड हो गया हो; परन्तु धार्मिक आन्दोलन ने उसे फिर एक बार अखण्डित बना दिया। यह सार्वभौमिकता बड़े महत्व की वस्तु है। शताब्दियों की आत्मकुण्ठा को त्याग कर हिन्दू धर्म अपने भीतर की अवचेतन शक्तियों को जाग्रत करने, नवीन संयोजन तथा पुनर्गठन की ओर अग्रसर हुआ। मुस्लिम आक्रमण से पहले शंकराचार्य (७८८-८२० ई०) ने हिन्दू

विश्वासों और चिन्ताओं को नया रूप दिया था और उसे सार्वभौमिक, सशक्त तथा सक्रिय बनाया था। उनकी अद्वैती विचारधारा ने जहां बौद्ध माध्यमिक (शून्यवादी) और योगाचारी धारणाओं को आत्मसात किया, वहां उसके भीतर विभिन्न धर्मों का देवतवाद भी अविरोधी रूप से समाविष्ट हो गया। धर्म के क्षेत्र में उनकी उदारता "स्मार्त्त" धर्म की क्रान्तिकारी कल्पना में देखी जा सकती है, जो गारणपत्य, सौर, वैष्णव, शैव तथा शाक्त सम्प्रदायों को एक सूत्र में गुंफित कर देती है। शंकर के बाद रामानुज, निम्बार्क, मध्व आदि आचार्यों ने हिन्दू धर्म को भक्ति के आधार पर नई धार्मिक भूमियां दीं, परन्तु ये भूमियां विभिन्न होते हुये भी उसे मूलभूत एकता देने में समर्थ थीं। इस एकता की भूमि पर ही मध्ययुग के सुधारवादी आन्दोलनों ने अपने विशाल प्रासाद का निर्माण किया और इसी के द्वारा नये सम्प्रदाय और मतवाद एक व्यापक ढांचे में समीकृत हो सके। ये धार्मिक आन्दोलन मूलतः कर्म-काण्ड-निरपेक्ष थे। उनकी आधारशिला थी भक्ति और उनके आस्तिकवाद में इस्लामी ऐकेश्वरवाद की अनन्यता और कर्मशीलता भी समन्वित थी। भक्त इष्टदेव को परब्रह्म के रूप में एकमात्र आराध्य मानता है और उसी की पुष्टि (अनुकम्पा) उसके लिये मुक्तिमार्ग है। इस प्रकार विभिन्न इष्टदेवों के प्रति उन्मुख होते हुए भी मध्ययुगीन भक्तिवाद मूलतः ऐकेश्वरवादी है। उसमें इस्लाम की कट्टरता नहीं है और उपासना के क्षेत्र में प्रतीक भेद तथा अधिकार भेद को स्वीकार किया गया है; परन्तु मध्ययुग का अनन्योपासक भक्त शिव, राम, कृष्ण, शक्ति—सभी प्रतीकों को शाश्वत और परम का रूप मान लेता है। उसी के प्रति उसकी "प्रपत्ति" और "भक्ति" का प्रसार है। इस प्रकार भेद के ऊपर अभेद और रूप के ऊपर अरूप की स्थापना होती है।

इस प्रकार यह स्थापित हो जाता है कि इस्लाम की प्रतिक्रिया ने जहां उत्तर भारत में असहयोगी हिन्दू मनोवृत्ति का निर्माण किया और नवीन पुनरुत्थान का सम्बन्ध प्रतिक्रियावादी सनातनी दृष्टिकोण से जोड़ कर नवीन पाण्डित्य को प्रश्रय दिया, वहां वैष्णव भक्ति के आन्दोलन ने समन्वय और उदारता का मार्ग अपनाया और शास्त्र की उपेक्षा कर हृदगत प्रेमभाव को महार्घता दी। इन दोनों प्रक्रियाओं को साथ-साथ और समानान्तर प्रतिष्ठित करके ही हम मध्ययुग के द्वैध व्यक्तित्व को समझ सकेंगे। दोनों ने अपनी अभिव्यक्ति के लिए अलग-अलग संस्कृत और लोकभाषा का सहारा लिया और दोनों के आदर्श भिन्न रहे। कालान्तर में प्रतिक्रियावाद को ही प्रधानता मिल गई; परन्तु यह आलोच्य काल से आगे के युग की बात है। आलोच्यकाल में भक्ति-आन्दोलन पौराणिक ब्राह्मणवाद और स्मार्त्त-चर्या पर प्रबल रहा और उसने साहित्य, संगीत, साधना और कला के क्षेत्रों को एकदम नवीन स्फूर्ति से आप्लुत कर दिया।

इस नवजागरण में संस्कृत भाषा ने बड़ा योग दिया। वास्तव में हिन्दू चेतना पर उसी के प्रभाव का फल था कि हिमाचल से कन्याकुमारी तक वैष्णव धर्म

की जयभेरी गूंज उठी। राजस्थान, गुजरात और विजयनगर आरम्भ में संस्कृति के नवीन केन्द्र थे; परन्तु पन्द्रहवीं शताब्दी के बाद अंतर्वेद में संस्कृत की परम्परा पुर्नीवित हो गई और उसने अप्रतिम रूप से अधिकार प्राप्त कर लिया। वास्तव में १३वीं शताब्दी से १५वीं शताब्दी तक ३०० वर्षों का संस्कृत साहित्य मात्रा में कम नहीं है। पण्डितों का विचार है कि इस साहित्य में पुरोगामिता और पिष्टपेषण ही अधिक है, उत्कृष्ट साहित्य-रचनाएं कम हैं; परन्तु महत्व की बात यह है कि यह साहित्य सार्वभौम रूप से भारत भर में विचारों के आदान-प्रदान का साधन था और किसी भी प्रदेश में रची कृतियां सारे क्षेत्रों में शीघ्र ही पहुंच जाती थीं। सायण के ऋग्वेद-भाष्य अथवा कुल्लूक भट्ट के मनुस्मृति-भाष्य समस्त देश में समान रूप से अध्ययन के विषय थे। दक्षिण के आचार्यों की रचनाएं काशी में प्रचलित थीं। चैतन्य ने लीलाशुक के 'श्रीकृष्ण-कर्णामृत' को उत्तर भारत में लोकप्रिय बनाया और उत्तर भारत की मीमांसक रचनाएं केरल में भाष्यायित हुईं। वास्तव में नवचेतन को अखिल भारतीय रूप संस्कृत के द्वारा ही प्राप्त हो सका।

मध्ययुग में संस्कृत पाण्डित्य का केन्द्र काशी ही है। १६-१७ वीं शताब्दियों में वहां पण्डितों की एक निश्चित परम्परा मिलती है जिसका निर्देश पण्डित गोपीनाथ कविराज ने अपने एक लेख में विस्तारपूर्वक किया है।[1] परन्तु इससे पहले ही यह केन्द्र महत्व धारण कर चुका था।[2] यहां पर नन्द पण्डित, मित्र मिश्र और

१. "मध्यकालीन संस्कृत साहित्य में काशी की देन" (ना० प्र० पत्रिका, चन्द्रबली पांडेय स्मृति-अंक, वर्ष ६३, संवत् २०१५, अंक ३-४)

२. पं० गोपीनाथ कविराज ने १५ वीं शताब्दी में काशी के दो विशिष्ट नैयायिकों वृगलभाचार्य और नरहरि विशारद का उल्लेख किया है। ये दोनों मुसलमानों के अत्याचार से पीड़ित होकर या वेदांत का अध्ययन करने काशी आये थे और यहीं बस गये थे।प्रगलभाचार्य सुप्रसिद्ध संन्यासी विद्वान स्वामी अनुभवानन्द के शिष्य हैं जो स्वयं स्वामी ज्ञानानन्द के शिष्य थे। प्रगलभ ने "खण्डन-दर्शन" लिख कर श्रीहर्ष के "खण्डनखण्डखाद्य" का भाष्य प्रस्तुत किया। यह ग्रंथ प्रायः ३०० वर्ष पूर्व काशीधाम में लिखा गया है। वास्तव में काशी द्वैतवाद तथा अद्वैतवाद सम्बन्धी वादविवाद और ज्ञानचर्चा का प्रमुख केन्द्र था। प्रगलभ के शिष्य बलभद्रमिश्र का भी उल्लेख है। नरहरि विशारद भट्टाचार्य कदाचित १४८५ ई० से पूर्व ही नवद्वीप से आकर काशी में रहने लगे थे। लेखक ने यह भी अनुमान लगाया है कि सुप्रसिद्ध मैथिल पण्डित शंकर मिश्र जी वृद्धावस्था में काशीवास करने आये थे।

कविराज जी के विचार में १५वीं शताब्दी में सांख्ययोग तथा पूर्व-मीमांसा के क्षेत्र में काशी का दान विशिष्ट नहीं था। १६वीं शताब्दी में पूर्वमीमांसा के क्षेत्र में नारायण भट्ट (ज० १५१३) का नाम प्रमुख है जिनके पिता पण्डित रामेश्वर भट्ट ने १५२२ ई० में अपना निवास गोदावरी तटवर्ती प्रतिष्ठानपुर छोड़ कर काशी में सबसे पहले आगमन किया। इस पण्डित परिवार की वंश-परम्परा रामेश्वर भट्ट······गोविंददेव······चांगदेव······नागपाल तक पहुंचती है।

नीलकान्त भट्ट के द्वारा धर्म-शास्त्र का एक नया सम्प्रदाय स्थिर हो गया था। कवीन्द्र सरस्वती और नृसिंह भारती ने इसे हिन्दू संस्कृति का महान केन्द्र बना दिया। खण्डदेव "भट्टदीपिका" के लेखक (तर्कशिरोमणि पं० रघुनाथ) "दिधिति" के लेखक और ज्योतिषाचार्य कमलाकर उन कुछ प्रमुख पण्डितों में हैं जिन्होंने काशी में पांडित्य की पुनः प्रतिष्ठा की।

इसमें सन्देह नहीं कि संस्कृति का साहित्य प्रेरणा-स्रोत्र और प्राणाम्य था; परन्तु वैष्णव भक्ति-आन्दोलन को लोकप्रियता देने का श्रेय लोकभाषाओं को ही है। यह निश्चय है कि हिन्दू चेतना के पुनर्जागरण और लोकभाषाओं का उदय एक ही आन्दोलन के दो भिन्न रूप हैं। सब कहीं स्थानीय जनपदीय भाषाएं भक्ति के प्रभाव से साहित्यिक भाषाओं का रूप लेने लगती हैं। जहां एक ओर महान लेखक संस्कृत की महत् रचनाएं जनता तक पहुंचाते हैं और रामायण, भगवद्गीता, महाभारत तथा पुराणों का सभी लोकभाषाओं में अनुवाद आरम्भ हो जाता है, वहां इन अनुवादों से स्वतन्त्र विद्यापति (मिथिला), चन्डीदास, (बंगाल), कबीर (उत्तर प्रदेश), मीराँ (राजस्थान) और नरसी मेहता (गुजरात) नवीन भक्ति-काव्य के रूप में उत्कृष्ट काव्यकोटि की रचनाएं प्रस्तुत करते हैं। वास्तव में पौराणिक अनुवाद और भक्तिवादी स्वतन्त्र रचनाएं एक ही आवश्यकता की उपज है यद्यपि दोनों की परम्परा समान चलती रही है। जहां ये दोनों परम्पराएं एक ही रचना में समीकृत हो गई हैं, जैसे तुलसी के "रामचरितमानस" (१५७४) में, वहां हमें अभूतपूर्व कृति के दर्शन होते हैं। इस्लाम के द्वारा भारतीय जीवन में जो विक्षेप उत्पन्न हुआ उसने धर्म और साहित्य को लोकप्रियता दी। संस्कृत-साहित्य और धार्मिक कृतियां विशेषज्ञता तथा ब्राह्मण-वर्ग की सीमा-रेखाओं को पार कर अधिकाधिक व्याप्ति प्राप्त करती गई। धर्म-प्रचार की आवश्यकताओं ने संस्कृत पण्डितों को भी भाषा-रचना की ओर प्रेरित किया। इसकी परिणति तुलसी की रचनाओं में हुई। उनके "मानस" को महान वैष्णव आन्दोलन की सर्वोपम रचना कहा जा सकता है। इस एक रचना में सारा संस्कृत पाण्डित्य लोकोन्मुख बन कर सार्थक हुआ है और भक्ति की दीप्ति में नारायण भट्ट का योग सर्वोपरि है। वास्तव में काशी म यु के पुनरुत्थान का हृदय माना जा सकता है जहां प्रतिष्ठानपुर, नवद्वीप, दक्षिण, पुरुषोत्तम पुर (जगन्नाथ) आदि क्षेत्रों के महापण्डित काशीवास के लिए जाते थे और देश-देशान्तर के बहुसंख्यक विद्यार्थी इनके निकट अध्ययन के लिए आते थे। साहित्यसर्जन और धर्मदेशना दोनों क्षेत्रों में इसे अलौकिक घटना बना दिया है। १६ वीं शताब्दी की पाण्डित्य-संकुल नगरी काशी में बैठकर विद्वन्मण्डली की उपेक्षा करना कितनी कठिन बात थी, इसकी कल्पना भी आज असम्भव है; परन्तु इस संस्कृताग्रही मण्डली से जनभाषा अवधी में लिखी किसी रचना का समादर प्राप्त करा लेना तो अलौकिक चमत्कार ही कहा जा सकता है।

वैष्णव धर्मान्दोलन ने हिन्दू राजनीति के क्षेत्र में भी सक्रियता को जन्म दि ा।

उत्तर भारत में प्रतिरोध का बड़ा श्रेय राजपूतों को मिलेगा जिन्होंने चार सौ वर्षों तक महान वीरता से गौ, ब्राह्मण तथा शास्त्र की रक्षा का प्रण जीवित रखा। वीर हम्मीर से महाराणा प्रताप तक प्रतिरोध की यह अटूट परम्परा चलती है। हम्मीर ने अलाउद्दीन खिलजी से जो अटूट मोर्चा लिया, उसकी गाथा 'हम्मीर-विजय' ग्रंथ में सुरक्षित है। उसके पुत्र "खेट" ने अजमेर को हस्तगत कर लिया और १४वीं शताब्दी के अन्त तक मेवाड़ाधिपति उत्तर भारत में प्रमुख शक्ति बने रहे। १५वीं शती में इसी राजवंश में महाराणा कुम्भा हुए जो हिन्दू नवजागरण के प्रतीक पुरुष कहे जा सकते हैं। वे महान योद्धा, संगीतज्ञ, पण्डित, कवि, धर्मरक्षक तथा निर्माता थे। उनका 'संगीतराज' ग्रंथ संगीत का प्रमाणिक ग्रन्थ है और उनकी "गीतगोविन्द" की टीका वैष्णव प्रभाव की सुन्दर कड़ी है। चित्तौड़ का कीर्तिस्तम्भ उन्हीं का जय-शाका है। उन्होंने ३२ गढों का निर्माण कराया जो दुर्गनिर्माण-कला तथा दृढ़ता में अपूर्व हैं। इन्हीं में कुम्भलगढ़ का दुर्जेय गढ़ भी है जिसने अकबर को भी परास्त कर दिया था।

दक्षिण में इस प्रतिरोध की परम्परा का जन्म लिंगायतों (वीरशैवों) में पल्लवित हुआ। इस सम्प्रदाय ने तुग़लकों के प्रति दक्षिण के मोर्चे को सांस्कृतिक भूमिका दी और शीघ्र ही दक्षिण में विजयनगर का राज्य (१३३६—१५६५) स्थापित हो गया। इस साम्राज्य ने ३०० वर्षों से भी ऊपर कालविस्तार में दक्षिण में हिन्दू धर्म की नाकाबन्दी जारी रखी। इस राजवंश में कृष्णदेवराय का कर्त्तृत्व विशेष महत्वपूर्ण है। इनका व्यक्तित्व भी महाराणा कुम्भा के समान अपूर्व था। इन्होंने स्वयं तुलुगु साहित्य में योग दिया और इनकी राजसभा के अष्टदिग्गजों ने तेलगु भाषा को अमर ग्रंथ दिये। इसी राज्य की छत्रच्छाया में सायण ने अपने 'ऋग्वेदभाष्य' की रचना की जिसने वैदिक अध्ययन को नई दिशा दी। जब हम यह जानते हैं कि इसी भूमि में मध्व (११९९-१३०३), निम्बार्क (१३वीं शती) और वल्लभ (१४७८-१५३०) जैसे आचार्य हमें प्राप्त हुये और मिथिला तथा नवद्वीप के राजवंश मूलतः कर्णाट् राजवंश थे जिन्होंने उत्तर भारत में संगीत, भागवत-प्रियता तथा कृष्ण भक्ति का प्रचलन किया तो यह स्पष्ट हो जाता है कि मध्ययुग का भक्तिवाद केवल उत्तर भारत का आन्दोलन नहीं था। उसके सूत्र देशव्यापी थे और राजस्थान, विन्ध्यक्षेत्र तथा विजयनगर में उसने महान राजनैतिक प्रतिरोध को भी जन्म दिया था। 'भक्तमाल' में कितने ही समकालीन नृपति भक्त के रूप में चित्रित किये गये हैं। मध्ययुगीन हिन्दू संस्कृति की प्रतिरोधी भावना इन क्षत्रिय भक्तों के द्वारा ही प्रसारित हुई और औरंगजेब के समय में महाराज राजसिंह में प्रतीकबद्ध हो गई। इन्हीं राजसिंह ने अपनी माता के आग्रह से श्रीनाथजी की मूर्ति को औरंगजेब के कोप से उबारा था और आज भी नाथद्वारा मध्ययुग की भक्ति-भावना की संस्कारनिष्ठा और तेजस्विता का साकार उदाहरण है।

संक्षेप में, यह कहा जा सकता है कि १३०० ई० से १५५० ई० तक हिन्दू

चेतना चमत्कारक रूप से नवजागरण को प्राप्त हुई। उसने जनता को राजनैतिक पराजय जन्य निराशा और कुंठा के गर्व से निकाल कर आस्था, प्रेम और उल्लास के प्रकाश में खड़ा किया। इस युग की धर्मभावना, दर्शन और सामाजिक चिन्तना ने ही परवर्ती युग में हिन्दू धर्म को चैतन्य दिया और 'रामराज्य' की कल्पना 'हिन्दूपदपातशाही' में पल्लवित होकर नवीन दीप्ति को प्राप्त हुई। वास्तव में इसी युग में 'हिन्दू' धर्म का स्वरूप गढ़ा किया। चित्तौड़ और हम्पी के स्मारक और अवशेष अब भी उस युग की हिन्दू वास्तुकला के नमूने हैं। वीरता के क्षेत्र में हम्मीर, कुम्भा, प्रताप और कृष्णदेव राय, पाण्डित्य के क्षेत्र में कुल्लूक और नृसिंह भारती, काव्य के क्षेत्र में विद्यापति और चण्डीदास तथा भक्ति के क्षेत्र में नानक और कबीर इस युग के सर्वश्रेष्ठ प्रतिनिधि हैं। मध्व, वेदांतदेशिक, वल्लभ और चैतन्य की भाव भूमि ने हिन्दू धार्मिक जीवन को ऐसा चैतन्य दिया जिससे वह एकदम अपरिचित था। इस भूमिका पर हम पूर्वमध्ययुग को हिन्दू नवजागरण का आरंभिक युग कह सकते हैं जो निर्माणमुखी चिन्तन और सर्जनात्मक प्रेरणा का युग है। इस प्रकार सोलहवीं शताब्दी में इस वैष्णव चेतना का सर्वश्रेष्ठ प्रकाशन हुआ है। सांस्कृतिक सम्पन्नता में यह शताब्दी कितनी ही पिछली शताब्दियों को पीछे छोड़ जाती है।

○

: २ :

मध्ययुग की वैष्णव संस्कृति

मध्ययुग के देशी-विदेशी इतिहासकारों ने मध्य युग की भारतीय संस्कृति को इस्लामी संस्कृति से अनन्यतः प्रभावित माना है। उनके अनुसार इस्लाम की अप्रतिरोधित विजय-यात्रा के फलस्वरूप राजपूत-युग की संस्कृति का सर्वोच्छेदन हो गया और उसके स्थान पर विदेशी एवं विजातीय इस्लामी संस्कृति ही अपना चोला बदल कर प्रतिष्ठित हुई। इसीलिये इतिहास-ग्रंथों में मध्य देश के मध्ययुगीन इतिहास को मध्य एशिया और ईरानके इतिहास से अनिवार्यतः जोड़ दिया जाता है। मानो भारतीय मध्य युग इस्लामी इतिहास का ही कोई स्वर्णिम अध्याय हो।[1] जहां कुछ अधिक संतुलित दृष्टि से काम लिया गया है, वहां इस मध्यदेशीय संस्कृति को मिली-जुली संस्कृति अथवा 'हिन्दुस्तानी संस्कृति' कहा गया है,[2] और उसे हिन्दू-मुस्लिम संस्कृतियों का समन्वय अथवा योगायोग माना गया है। कदाचित् यह प्रयत्न कहीं भी नहीं हुआ है कि दिल्ली के मुसलमान शासकों पर से दृष्टि हटा कर मध्यदेशीय जनता के साँस्कृतिक अभ्युत्थान की ओर दृक्पात किया जाये और उसे केन्द्रवर्ती महार्घता प्रदान की जाये। उपयुक्त दृष्टिकोण के अभाव में मध्य युग का सांस्कृतिक अध्ययन अभी तक अपूर्ण रहा है और उसमें तत्कालिक जनप्रवृत्तियों और पूर्ववर्त्ती सांस्कृतिक परम्पराओं का वह प्रतिफल उपस्थित नहीं हो सका है जो वांछनीय है। इसका फल यह हुआ है कि हम मध्ययुगीन हिन्दी-साहित्य को सम्यक् महत्व नहीं दे सके हैं।

---

1. Dr. Tara Chand : Influence of Islam on Indian Culture : "It is hardly possible to exaggerate the extent of Muslim influence over Indian life in all departments." (P. 141) "The effort to seek a new life led to the development of a new culture which was neither exclusively Hindu nor purely Muslim, It was indeed a Hindu-Muslim culture. Not only did Hindu religion, Hindu art, Hindu literature and Hindu science absorb Muslim elements, but the very spirit of Hindu mind were altered." (P. 137)

2. Dr. S. Abid Hussain : The National Culture of India. See Chapters 4, 5 & 6 : 'THE HINDUSTANI CULTURE', Pp. 49—89.

मध्य युग की इस वैष्णव संस्कृति का मूलाधार भक्ति है और यह भक्ति विष्णु के अवतारों (विशेषतयः नृसिंह, राम, कृष्ण, विठ्ठल) के प्रति उन्मुख है। यह भक्ति-भाव गुप्त युग के पौराणिक उपासना-भाव से भिन्न है और इसके जीवनादर्श भी भिन्न हैं। गुप्त युग और राजपूत युग का आदर्श मानव सांमत था जो ऐश्वर्य, साहस, शौर्य और शृंगार का प्रतीक था तो भक्ति-युग का आदर्श मानव वैष्णव संत अथवा भक्त था। इस आदर्श को ही हनुमान, भरत, लक्ष्मण और उद्धव जैसे भागवतों के वृतान्तों में चरितार्थ किया गया है। यह कहा जा सकता है कि गीता और भागवत में यह आदर्श पहले ही पल्लवित हो चुका था और मध्ययुग के लिये यह कोई नई खोज नहीं था। परन्तु यह निश्चित है कि मध्ययुग से पहले यह आदर्श व्यावहारिक और जीवनोपयोगी नहीं बन सका था, न वह इतना सर्वांगी और सर्वग्राही ही था। अपनी ऐतिहासिक आवश्यकताओं के अनुरूप ही मध्ययुग ने प्राचीन उपकरणों को लेकर वैष्णव भावना और "भक्ति" की यह नयी पुनरावृत्ति उपस्थित की और युग के संस्कारी प्रयत्नों को नयी केन्द्रीयता दी। "नयी वैष्णवता" मध्ययुग के लिये नया युगधर्म बन गई।

इस युग-धर्म के वास्तविक स्वरूप से परिचित होने के लिये यह आवश्यक है कि हम कुछ विशिष्ट तथ्यों को सामने रखें। ये तथ्य बौद्ध धर्म के ह्रास से संबंधित हैं। बौद्ध धर्म के खण्डहरों पर ही हिन्दू नवोत्थान का जन्म हुआ जिसका एक प्रमुख अग्रस्तंभ वैष्णव संस्कृति थी। एक प्रकार से वैष्णव धर्म और संस्कृति बौद्ध धर्म और संस्कृति से विकास, विलयन और विरोध के तीन तत्वों से सम्बंधित है। ८०० ई० से १२०० ई० तक हम इन तीनों प्रक्रियाओं को द्रुतगति से अग्रसर होते पाते हैं। पहले यह प्रक्रिया दक्षिण भारत में संपन्न हुई[1], फिर पश्चिमी भारत में।[2] १००० ई० के बाद मगध और बंगाल-उड़ीसा के क्षेत्र ही बौद्ध धर्म के केन्द्र बने रह गये थे।[3] अलबेरुनी के ग्रंथ "किताबुलहिंद" से यह स्पष्ट है कि काशी तक के क्षेत्र में ब्राह्मण धर्म की व्याप्ति थी।[4] १२०० ई० के लगभग मगध और बंगाल से बौद्ध धर्म का उन्मूलन हो गया यद्यपि उड़ीसा १५६० ई० तक बौद्ध धर्वावलंबियों का गढ़ बना रहा।[5] एक तरह से चौदहवीं-पंदरहवीं शताब्दियां वैष्णव धर्म के उन्नयन की शताब्दियां हैं जब वैष्णव धर्म से सम्बंधित नए आन्दोलनों का सूत्रपात होता है और बौद्ध संस्कार हिन्दू संस्कारों का रूप ग्रहण कर लेते हैं। बौद्ध धर्म के हिन्दू धर्म में विलीन होने की प्रक्रिया विभिन्न प्रदेशों में विभिन्न समय उद्घटित हुई

1. Humayun Kabir : The Indian Heritage, See Chapter 'THE HINDUSTANI WAY', Pp. 79-89.
2. Dr. R. C. Mitra : The Decline of Buddhism in India, ch. 9, Pp. 103-124.
3. Idem, ch. 4, Pp. 36-48.
4. Sachau : Alberuni's INDIA, Vol. I, Pp. 172-3.
5. Dr. R. C. Mitra : Op. Cit., p. 99.

परन्तु उसकी रूपरेखा समान ही है। १५०० ई० के बाद वैष्णव संस्कृति उत्तर भारत में सर्वव्याप्ति प्राप्त कर लेती है और नया जीवनादर्श महान् साधकों और कवियों की साधना में सम्पूर्ण रूप से विकसित हो जाता है। कला-कमल के दल खुलने लगते हैं और नये कंठ, नये स्वर, नये स्वप्न, नये रूप, नये साहित्य, नये संगीत, नये चित्र और नये शिल्प के रूप में नई जाग्रति बन जाते हैं।

उत्तर भारत में बौद्ध धर्म के पतन के सम्बंध में लामा तारानाथ की साक्षी[1] महत्वपूर्ण है, यद्यपि उसको सम्पूर्ण रूप से विश्वसनीय नहीं माना जा सकता। बल्लभी, नालंदा और बौद्ध गया जैसे प्रमुख बौद्ध केन्द्रों में किसी भी प्रकार के ऐसे उत्कीर्ण लेख अथवा चिन्ह नहीं हैं जो बौद्ध धर्म के पतन के संबंध में तिथिचक्र उपस्थित कर सकें अथवा ह्रास की प्रक्रिया और विस्तार की सूचना दें। उस युग के दानपत्रों से भी हमें कोई सहारा नहीं मिलता, न कुमारिल और शंकर जैसे क्रियमाण व्यक्तियों अथवा चक्रयान, सहजयान, तंत्रयान, मंत्रयान जैसे महत् आन्दोलनों से ही हम निश्चित तथ्यों की उपलब्धि कर पाते हैं।

सीमान्तों के इतिहास के अध्ययन से यह पता चलता है कि ७२६ ई० तक सिंध में हीनयानी सम्प्रदाय के समितियां स्कूल का प्राधान्य था और तांत्रिक प्रवृत्तियों का प्रवेश हो चला था।[2] यह भी संभव है कि इस हीनयानी सम्प्रदाय में भी बाद के युगों में मूर्तिपूजा का प्रचलन हो गया हो। विदेशी लेखकों के उल्लेखों से यह स्पष्ट है कि ब्राह्मण धर्म की बढ़ती हुई लोकप्रियता ने स्थानीय बौद्धों को शंकित कर दिया था और उन्होंने नवागन्तुकों से अभिसंधि करके देश की परतंत्रता का द्वार उन्मुक्त कर दिया। अलबेरुनी के कथनानुसार मध्य एशिया, खुरासान, अफगानिस्तान और उत्तर-पश्चिमी भारत में बौद्ध धर्म के अवशेष भी नहीं बचे थे[3] यद्यपि निज़ामुद्दीन के ग्रंथ "तबकाते अकबरी" में स्पष्ट रूप से उल्लखित है कि अपने चौदहवें आक्रमण में (१०२२ ई० में) सुलतान महमूद को कुरैत की घाटी से गुजरना पड़ा जिसके उपासक सिंहोपासक थे (कदाचित् शाक्यसिंह से तात्पर्य है)।[4] जलालाबाद और पेशावर के बीच के भाग में अब भी बौद्ध धर्म के अवशेष मिलते हैं। विद्वानों का विचार है कि समितीय बौद्ध धर्म हिन्दू धर्म-भाव के इतना निकट

---

1. Sarat Chandra Dass : TARANATH (Scheifner). Pp. 62-64 ff.
2. Dr. R. C. Mitra : Op. Cit., P. 34.
3. Sachau : Op. Cit., Vol. II, P. 253.
4. Elliot & Dowsen : History of India, Vol. 2, p. 465 (abstract from TABQAT-I-AKABARI of NIZAMUDDIN)

था कि वह अनायास ही कालान्तर में उसमें अंतर्भुक्त हो गया, यद्यपि १२२५ ई० तक एक चीनी यात्री के वृत्तान्त में उसकी अवशिष्टि का आभास मिलता है।[1]

उत्तर-पश्चिम में नवीं शताब्दी तथा जालन्धर, गुजरात, राजपूताना, गांधार और उड्डीयान में बौद्ध मत प्रतिष्ठित था और पुरुषपुर के प्रसिद्ध कनिष्क बिहार की सर्वदिक् प्रतिष्ठा थी।[2] बल्लभी (गुजरात) में शीलादित्य सप्तम् के समय तक (७७० तक) बौद्ध धर्म का सम्मान था यद्यपि सिलवेन लेवी के अनुसार उस समय तक बौद्ध धर्म हिन्दू धर्म बन गया था और उसने शैवमत की अनुरूपता ग्रहण कर ली थी जिसमें वह अंततः लयमान हो गया।[3] पांचवीं शताब्दी में समितिया स्कूल मालवे में स्थापित हो गया था और युवान्चांग के समय में मगध और मालवा बौद्ध ज्ञान के प्रमुखतम केन्द्र थे। इत्संग के समय में बल्लभी के विश्वविद्यालय की प्रसिद्धि नालन्दा से कम नहीं थी। गुजरात के शासक राष्ट्रकूट दंतिवर्मन के एक शिलालेख (८६७ ई०) में मंगलाचरण में बुद्ध की वन्दना है यद्यपि विष्णु और शिव से अभयदान की प्रार्थना की गई है और उसके भाई ध्रुव द्वितीय के दानपत्र (८८४ ई०) में बौद्ध संघ का स्पष्ट उल्लेख है।[4]

११ वीं शताब्दी के कासिया (कुशीनारा) के एक कलचुरि शिलालेख से यह पता चलता है कि शिव-पार्वती और बुद्ध-तारा बहुत कुछ समान रूप से और एक ही समय आराध्य थे। दानी पहले शिव-पार्वती की बन्दना करता है और फिर बौद्ध-मतावलम्बी के रूप में विश्वेश्वरी तारा और परग-प्रबुद्ध बुद्ध के प्रति अपनी आस्था प्रगट करता है।[5] मध्ययुगीन शैव-भावना के विकास में कलचुरियों का महत्वपूर्ण स्थान है और तिब्बती परम्परा में कर्ण को स्पष्ट रूप से तीर्थंक कहा गया है जिसने बंगाल पर आक्रमण कर महाराज नयपाल को पराजित किया यद्यपि दीपंकर स्त्रीज्ञान ने मध्यस्थ बनकर शांति स्थापित करा दी; परन्तु कलचुरियों के युग के मध्यप्रदेशीय

1. Dr. R. C. Mitra : Op. Cit., p. 85 "When and how Buddhism disappeared is a mystery which can not yet be resolved. The Samitiayas in this part of India may, in period of exhaution, have lent themselves to easier assimilation with the Hindus. With their emphasis on reality and on the importance of personality, the Samitiyas came very near the Hindu doctrine of Metempsychosis, and the gulf was bridged over in a later period."
2. Takakuso : ITSING, p. 177.
3. Levi : Le Napal, Vol. 2, p. 817 ("Buddhism disgraced and weakened, borrows more heavily from Hinduism in order to tighten afresh and renew the bonds which slacken, and thus allows itself to glide away into Hinduism for fear of being rejected by it.")
4. Epigraphica Indica, Vol. 6, p. 285 & Vol. 22, p, 64.
5. Ibid, Vol. 18, 128.

शिलालेखों से यह स्पष्ट है कि उस समय तक बौद्ध मत वहाँ से लुप्त नहीं हुआ था। ११७८ ई० और ११६२ ई० के दो शिलालेख इस दिशा में विशेष महत्वपूर्ण हैं। खजुराहो के कुछ मंदिर दसवीं शताब्दी तक बौद्ध मंदिर थे जैसे घंटई जैन मंदिर। महोवा से इस युग के अनेक बौद्ध शिल्प प्राप्त हुए हैं जिनमें सातन नाम के एक कलाकार की कृति भी है जिसमें लोकनाथ, बुद्ध, तारा, सिंहनाद अवलोकितेश्वर उत्कीर्ण हैं। यह कृति ११ वीं शती के उत्तरार्द्ध की जान पड़ती है।[1] सीरपुर में आठवीं शती के एक मंदिर में ध्यानी बुद्ध और राम की मूर्तियां साथ-साथ प्रतिष्ठित हैं जिससे यह ज्ञात होता है कि आठवी शती में ही यह स्थानान्तर प्रारम्भ हो गया था।[2] दसवी-ग्यारहवीं शती में अनेक प्रमाण इस संक्रमण के मिलते हैं।

बारहवी शताब्दी बौद्ध धर्म के ह्रास और वैष्णव धर्म के पुनरुत्थान का अंतिम चरण है और इस शती के अन्त में हम इस्लामी आक्रमण के फलस्वरूप बौद्ध चैत्यों, बिहारों और संघारामों को सम्पूर्ण रूप से ध्वस्त होते पाते है। फल यह होता है कि धर्म-भावना के क्षेत्र में एक भीषण अंतराल उपस्थित हो जाता है और चौदहवी शताब्दी में ही नामदेव (१२७०-१३५०) और रामानन्द (१२६६-१४१०) के प्रयत्नों से इसकी पूर्ति होती है। परन्तु इस्लामी प्रहार के बिना भी बौद्ध धर्म कालान्तर में नवोत्थित हिन्दूधर्म में. अंतर्योजित हो जाता। इस्लामी आक्रमण ने इस अंतर्योजन-प्रक्रिया को त्वरा दी और उस युग के सामने कोई अन्य मार्ग ही नहीं छोड़ा। समसामयिक उल्लेखों से इसकी अनिवार्यता का पता चलता है। गोविन्दचन्द्र की दो पत्नियां कुमारदेवी और वासन्तीदेवी बौद्ध थीं और महायान की उपासिका थीं यद्यपि स्वयं गोविन्दचन्द्र वैष्णव थे। जयचन्द (११७०—११६३) के राजगुरु मित्रयोगी भी बौद्ध ही कहे जाते हैं।[3] इस तरह यह निश्चित है कि बारहवीं शताब्दी में विलयन-प्रकिया बड़ी तेजी से गतिशील थी और बौद्ध तथा हिन्दू साधनाएं तन्त्र-मन्त्र, ध्यान, पूजोपचार एवं प्रतीकों के क्षेत्र में घुली-मिली चल रही थीं। इसी समय के लगभग वज्रयान, सहजयान, मन्त्रयान, चन्द्रयान शैव और

1. A. R. A. S. I., 1915-6, p. 17 (plates 1, 3).
2. Mem. A. S. J., Vol. 27, Pp. 5-6 (Quoted in Dr. R. C. Mitra : Op. Cit., p. 40).
3. Dr. R. C. Mitra, Op. Cit., p. 42. "The Bodh-Gaya stone-inscription of Gahalwala Jayachand, who ruled from 1170 A. D., must be assigned to late 12th century. It begins with a regular Boddhist invocation to Buddha, Buddhisattavas and also to the royal Guru, a monk of the name of Sri Mitra. It records the construction of a cave at Jayapura with the image of Tara, Ugra Tara and Datta Tara. The mention of a Buddist monk as the religious preceptor of an important ruler like Jayachand of Kanauj leads us to think that Buddhism not only survived but it might have revived to a certain extent under royal favour."

वैष्णव तांत्रिक सम्प्रदायों में परिवर्तित हो जाते हैं। शैव तांत्रिक सम्प्रदायों के सम्बन्ध में हमें विस्तृत जानकारी प्राप्त है;[1] परन्तु वैष्णव तांत्रिक सम्प्रदायों का इतिहास अभी अलिखित ही है। केवल बंगाल के सहजिया[2] और राजस्थान के निरंजन मत[3] का किंचित् इतिहास उद्घटित हुआ है। संभवतः १२०० ई० में महाराज लक्ष्मणसेन की पराजय और मृत्यु के कारण बंगाल इस्लामी शासन के अन्तर्गत आ गया। सेन वंश के द्वारा ही बंगाल में वैष्णव संस्कारों का जन्म हुआ और राधा-कृष्ण-सम्बन्धी प्रचुर साहित्य लक्ष्मणसेन के समय में निर्मित हुआ। जयदेव और उमापति घर इन्हीं लक्ष्मणसेन से सम्बन्धित हैं। मिथिला और नवद्वीप बहुत पहले से वैष्णव धर्मोत्थान के केन्द्र बन गए थे और शासक वंशों के कर्णाटकीय होने के कारण दक्षिण के संस्कारों का यहां प्राचुर्य था। इन संस्कारों ने ही उत्तर में कर्णाटकी संगीत और भागवतप्रियता की दागबेल डाली और राधा-कृष्ण की प्रेम-कथा को पल्लवित किया। बाद में सोलहवीं शती के अन्त तक हमें बौद्ध साधकों और गृहस्थों के चिन्ह मिल जाते हैं, परन्तु धार्मिक शक्ति के रूप में बौद्ध धर्म इस्लामी आक्रमण के साथ ही समाप्त हो जाता है। अराजकता और धर्म-विद्वेष को इस एक शताब्दी (तेरहवीं शताब्दी) के बाद जब हम चौदहवीं शताब्दी में प्रवेश करते हैं तो पंजाब में नामदेव और काशी में रामानन्द के रूप में दो महान् वैष्णवों के हमें दर्शन होते हैं और पंढ़रपुर की विठ्ठल-भक्ति तथा राघवानन्द की रागानुगा-रामभक्ति नए संस्कारों के साथ विकासमान दिखलाई देती है। उत्तर भारत में बौद्ध धर्म का अन्तिम केन्द्र नालन्दा था जिसके खण्डहरों में बौद्ध धर्म के विकास की अन्तिम छः शताब्दियों का इतिहास निहित है।

बौद्ध धर्म के इस पतन-चक्र के साथ जब हम मध्ययुगीन वैष्णव धर्म के क्रम-विकास को मिलाकर देखते हैं तो सारी प्रक्रिया स्पष्ट ही समझ में आ जाती है। इस क्रम-विकास की सभी शृंखलाएं अभी उद्घटित नहीं हो सकी हैं; परन्तु गुप्त युग (पुराण-युग) में ही उसका मूल माना जा सकता है। पांचवीं शताब्दी से दक्षिण भारत और गुजरात में वैष्णव धर्म के चिन्ह मिलने लगते हैं। वास्तव में वैष्णव भक्तिवाद तमिल और कन्नड़ प्रदेशों में होता हुआ १२वीं शती के उत्तरार्द्ध में महाराष्ट्र पहुंचता है और तेरहवीं शताब्दी में उत्तर भारत में बौद्ध धर्म के लोप से उत्पन्न अन्तराल के कारण अप्रत्याशित रूप से सफलता प्राप्त करता है। यह स्पष्ट है कि उत्तर भारत में प्रवेश से पहले वह बौद्ध और जैन धर्मों एवं आचार-विचारों से बहुत-कुछ ग्रहण कर चुका था और महराष्ट्र के प्राथमिक

---

१. देखिए : डा० हज़ारी प्रसादद्विवेदी कृत "नाथ सम्प्रदाय" (१९५०)
२. देखिए : दिनेश चन्द्रसेन कृत "सहजिया संप्रदाय" (बंगला)
३. देखिए : डा० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल कृत "योगप्रवाह" (१९४६) में कुछ निरंजनी संतों की वाणियां", पृ० ३८-५४

सन्तों अथवा वारकरी सम्प्रदाय के भक्तों में उसका परिपूर्ण व्यक्तित्व विकसित हो चुका था बाद की शताब्दियों में उसने तांत्रिक विचारधारा को भी ग्रहण किया और विट्ठल-भक्ति के स्थान पर मधुर भक्ति अथवा शृंगार-भक्ति की योजना के द्वारा लीलावाद और राधावाद के रूप में एक नए भावोल्लास और एक नए समन्वय की उपलब्धि करली। सोलहवीं शताब्दी की राधावल्लभी और हरिदासी वैष्णव साधनाएं और पश्चात् राम-भक्ति के अन्तर्गत स्वमुखी और तत्सुखी शाखाओं का विकास स्पष्ट रूप से यह घोषित करता है कि बौद्ध तांत्रिक साधनाएं वैष्णव धर्म की उदारता के सहारे किस प्रकार उत्तरोत्तर शक्ति के साथ उसमें प्रवेश करती गईं थीं और उनके कारण वैष्णव धर्म का प्रारम्भिक नैतिक स्तर किस प्रकार त्रस्त हो उठा था। जो हो, यह स्पष्ट है कि मध्य युग की वैष्णव संस्कृति में अनेक विविध एवं विरोधी जातीय-विजातीय सांस्कृतिक तत्व अविच्छिन्न रूप से समीकृत हो गए थे।

वैष्णव भक्ति का प्रारम्भिक स्वरूप आलवारों की रचनाओं "देवारम्" और "प्रबन्धम्" (नालियर, दिव्य) में मिलता है जिसका संकलन नाथ मुनि (८२४-६२४) ने किया। नाथमुनि का वंश पाँचरात्र वैष्णव सम्प्रदाय से दीक्षित था और वही रामानुज के श्रीवैष्णव सम्प्रदाय का मूल है। रामानुज (१०१७-११३७) ने ही श्रीवैष्णव सम्प्रदाय को संगठित किया और "प्रबन्धम्" को "पंचम वेद" का स्थान दिलाया। उन्हीं के प्रयत्नों से आलवारों की मूर्त्तियाँ वैष्णव मन्दिरों में स्थापित हुईं। आलवारों का युग पल्लवों का युग है जो पहली शताब्दी से आरम्भ होकर ८५० ई० तक समाप्त हो जाता है। आलवारों का ऐतिहासिक क्रम इस प्रकार है: पोगइ, पुदम्, (भूत), पइ, तिरुमलिसे, नाम (शठकोप), मधुकर, कुलशेखर, पेरिय (विष्णुचित्त) गोदा (अण्डाल), तोण्डरदिप्पोड्डि, तिरुप्पाणर और तिरुमंगइ। इन आलवारों की रचना में प्रमुखता नामालवार के चार शतकों और तिरुमंगइ के छः शतकों को मिली है जिन्हें क्रमशः वेद और वेदांग माना गया है। इन दोनों में भी नामालवार अधिक उत्कृष्ट हैं; क्योंकि उन की रचनाओं में उपनिषद, वेदांत, गीता और भागवत का निचोड़ मिल जाता है। विशिष्टाद्वैत के परवर्त्ती आचार्यों ने नामालवार को 'कूटस्थ' संज्ञा दी है क्योंकि श्रीवैष्णवों की आस्था और वैचारिक भूमि का आरम्भिक रूप उन्हीं में प्राप्त होता है। उन्हें हम आलवार-साहित्य के केन्द्र में प्रतिष्ठित पाते हैं। इसमें सन्देह नहीं कि राम-कृष्ण के प्रति भक्ति-भावना के जो अनेक परिपार्श्व मध्य युग में उत्तर भारत में विकसित हुए, उनका मूल रूप "नालियर प्रबन्धम्" में ही मिल जाता है; परन्तु हिन्दी का भक्ति-साहित्य तमिल और कन्नड़ पद-साहित्य से किस प्रकार सम्बन्धित है, यह कहना कठिन ही है प्रारम्भिक वैष्णवों में से अनेक दाक्षिणात्य हैं और उनके द्वारा पद-रचना की सूचना भी हमें मिलती है, यद्यपि ज्ञानदेव और नामदेव से ही हिन्दी पद-परम्परा की स्थापना होती है। विद्वानों का विचार है कि भक्ति-तन्त्र का आरम्भ सूर्योपासना के साथ हुआ और आरम्भ में सूर्य ही "विष्णु" के रूप में प्रकाम्य बने। बाद में सात्वत-यादव जाति में देवकीपुत्र

वासुदेव कृष्ण को लेकर यह भाव विकसित हुआ और वह वासुदेव "भगवत्" कहे गए। उनके भक्त भागवत कहलाये। भागवत धर्म का आरम्भ व्रज-प्रदेश में हुआ; परन्तु सम्भवतः दूसरी शती पूर्व ईसवी के लगभग भागवत धर्म पांचरात्र आगम के नाम से प्रसिद्ध होकर दक्षिण में पहुंचा और अर्चावतार की कल्पना के द्वारा उस ने अनेक स्थानीय इष्टदेवों को विष्णु के अवतार के रूप में भागवत धर्म में स्थान दिया। इस नए अन्तर्योग के फलस्वरूप ही तमिल प्रदेश में आलावर भक्ति का जन्म हुआ।

तेरहवीं शताब्दी में कर्णाटक में विट्ठल-भक्ति का जन्म हुआ और दासकूटों (दासों) की साधना और उनके रचित पद-साहित्य के रूप में नया भक्ति-भाव सामने आया। ये दास दास्य भाव के उपासक और मध्व के द्वैत भाव के समर्थक हैं। मध्व (१२००-१२७६) के भक्तिवाद का आधार भागवत पुराण है और उन्होंने द्वैताश्रित कृष्ण भक्ति का ही प्रचार किया है। मध्व के बाद सम्प्रदाय की गद्दी को नरहरि तीर्थ (आ० १३३१) ने सुशोभित किया और संस्कृत का आश्रय छोड़ कर कन्नड़ पद-साहित्य को प्रश्रय दिया। इस "हरिदासी" सम्प्रदाय में नरहरि तीर्थ के पश्चात् श्री यादराज (आ० १४९२), व्यासराय तीर्थ (१४४६-१५३९) और शिनप्पा (१५९१-१५६३) आते हैं। इनका प्रचुर पद साहित्य प्राप्त है। श्रीपादराय ने ही पहले-पहल भ्रमरगीत, वेणुगीत और गोपी-गीत का कन्नड़ अनुवाद प्रस्तुत किया। ये अनुवाद श्रीरंगम् के मन्दिर में प्रत्येक दिन गाए जाते रहे हैं। वास्तव में वैष्णव-भक्ति के व्यापक प्रसार का श्रेय "हरिदासों" को ही है; क्योंकि उनके पद "देवारम्" और "प्रबन्धम्" के तमिल साहित्य की भाँति शिष्टजनों की वस्तु नहीं थे। यह जन-साहित्य था और हरिदासों ने राग-रागनियों में बांध कर उसे लोकप्रियता दी।[1] हरिदासों का पद-साहित्य बंगला के वैष्णव साहित्य की भांति भावात्मक और शृंगारप्रधान नहीं है; क्योंकि उनका दृष्टिकोण संयत और निर्वैयक्तिक था। उनकी लोककल्याण-भावना भी सम्पूर्णतः जाग्रत थी। तत्कालीन कर्णाटकीय संगीत के विकास ने इस भक्ति-भाव के प्रचार में बड़ी सहायता की।

महाराष्ट्र में वैष्णव भक्ति का प्रमुख केन्द्र पंढरपुर रहा है। यह भीमा नदी के तट पर बसा है जो कर्णाट और महाराष्ट्र के बीच सीमा-रेखा का निर्माण करती है। कर्णाटकी हरिदासी भक्ति और पंढ़रपुर की विट्ठल भक्ति एक ही इष्टदेव

---

1. Cultural Heritage of India Vol. 2, p. 351. "The Initial inspiration of the Dasas was derived from Madhava himself, who has left us some stirring devotional lyrics in such Sanskrit works as DWADASH STOTRA and KRISHNAMRTA-MAHARNAVA. Madhavacharya alludes to the gathas, subhashitas, etc., composed by him, though we have no trace of any compositions in Kannada or Telegu by Madhava."

विठोवा पर आधारित हैं और समकालीन भावप्रक्रियाएं हैं। परन्तु जहां हरिदासी भक्ति विशुद्ध आलवार भक्ति (रागानुगा भक्ति) है, वहाँ वारकरी भक्ति गोरखनाथ के योग और चक्रधर के महानुभाव के पंथ की भूमिका को लेकर विकसित होती है। महाराष्ट्री स्रोतों से १२०७ ई० में गोरखनाथ की अवस्थिति का पता चलता है। इन्हीं के शिष्य गहिनीनाथ से निवृत्तिनाथ (१२७३-१२६७) दीक्षित थे। ये निवृत्ति ज्ञानेश्वर के ज्येष्ठ भ्राता और दीक्षागुरु थे। ज्ञानेश्वर (१२७५-१२६६), सोपान (१२७७-१२६६), मुक्ताबाई (१२७६-१२६७) और चांदेव (मृ० १३०५) में हम भक्ति के नवीन योगायोग की स्पष्ट झलक देखते हैं। इसे हम अद्वैत भक्ति या निर्गुण (योगाश्रित) भक्ति कह सकते हैं। इस परम्परा में गोरा कुम्हार (ज० १२६७), विसोवा खेचर (मृ० १३०६), समपत माली (मृ० १२६५), चोखामेला (मृ० १३३८), नरहरि सुनार (मृ० १३१३), सेना (आ० १४४८), कन्होपात्र (आ० १४६८) और भानुदास (१४४८-१५१६) उल्लेखनीय हैं। परन्तु इस वारकरी भक्ति को लोकप्रियता नामदेव (१२७०-१३५०) के द्वारा ही प्राप्त हुई और पश्चिमी हिन्दी प्रदेश, मुख्यतः पंजाब वैष्णव भक्ति के बीजारोपण का श्रेय भी उन्हें ही प्राप्त है।

ऊपर के ऐतिहासिक विवेचन से यह स्पष्ट है कि उत्तर भारत में वैष्णव धर्म का मध्ययुगीन विकास दक्षिण के आलवारों, हरिदासों और वारकरी सम्प्रदाय के भक्तों का आभारी है। हरिदास (दासकूट) आन्दोलन और वारकरी आन्दोलन को हम बहुत कुछ समकालीन भी मान सकते हैं; परन्तु यह निश्चित है कि ये समानान्तर रेखाएं मध्य युग की उत्तर भारतीय भक्ति-रेखा को पुष्ट करती रहीं यद्यपि कालांतर में उत्तर भारत की वैष्णव भक्ति ने बौद्ध धर्म के पतन से उत्पन्न अन्तराल को भरने के प्रयत्न में उत्तर महायानी विकास (वज्रयान, तन्त्रयान, मन्त्रयान, सहजयान और कालचक्रयान) के भी अनेक तत्व ग्रहण कर लिए। वास्तव में सोलहवीं शताब्दी में उत्तर भारत के वैष्णव संस्कार इन्हीं विविध प्रभावों के करण विविध सम्प्रदायों में बंट जाते हैं। उनमें मन्त्र, तन्त्र, शृंगार भाव और गुह्य साधनाओं की योजना स्पष्ट रूप से पूर्ववर्ती बौद्ध साधनाओं की ओर इंगित करती है; परन्तु यह भी निश्चय है कि इस समन्वय ने ही वैष्णव संस्कृति के उदार और उदात्त व्यक्तित्व का निर्माण किया है।

उत्तर भारत के वैष्णव संस्कारों की रूपरेखा को हम पश्चिमी हिन्दी प्रदेश से आरम्भ करेंगे। पश्चिमी हिन्दी प्रदेश की सीमा गुजरात तक फैली हुई थी। वास्तव में भाषा और संस्कृति की दृष्टि से गुजरात, मारवाड़, मालवा, राजस्थान, उज्जयिनी और मथुरा का सांस्कृतिक सीमान्त ही था। इस क्षेत्र का एक महत्वपूर्ण सांस्कृतिक केन्द्र पाटण था जहां युग के शौर्य, साहस, विद्वता, कला और संस्कृति को प्रचुर प्रश्रय मिला था।

गुजरात में वैष्णव धर्म (भागवत धर्म) का प्रवेश गुप्त युग में हुआ और

सम्भवतः एक छोटा वर्ग इस धर्म का अनुयायी भी बन गया यद्यपि बाद में शैव और जैन धर्मों का ही गुजरात में विशेष प्रचार हुआ। गिरनार पर्वत पर स्थित ४५५ ई० में कृष्णार्पित एक मन्दिर हमें प्राप्त है और उत्तर गुजरात में इस समय के अनेक ऐसे मन्दिर खोज निकाले गए हैं जिनमें विष्णु के किसी-न-किसी अवतार की प्रतिष्ठा है। स्वयं हेमचन्द्र ने पाटण के एक विष्णु-मन्दिर का उल्लेख किया है। १०७४ ई० के एक शिलालेख में प्रारम्भ में द्वादशीक्षरी मन्त्र आता है जिससे वासुदेव के प्रति इष्ट-भावना की स्थापना होती है। हेमचन्द्र (१०८६-११७३) ने 'काव्यानुशासन' में दो ऐसे श्लोक उद्धृत किए हैं जिनसे उस युग की कृष्णोपासना पर प्रकाश पड़ता हैं।[1] "कीर्त्तिकौमुदी" में सोमेश्वर (११८४-१२५४) का उल्लेख है कि जैन वसुपाल शंकर और केशव दोनों में आस्था रखते थे और "सुरतोत्सव" में राधा-कृष्ण के प्रेम-विलास का निर्देश है। इसी समय के लगभग वीरधदेव ने वीरनारायण के नाम से एक विष्णु मन्दिर का निर्माण कराया था। नवीं शताब्दी में गुजरात के ब्राह्मणों पर (जो पाशुपत धर्म में दीक्षित थे) शंकराचार्य के वेदान्त-दर्शन का गहरा प्रभाव पड़ा, परन्तु रामानुज, मध्व और निम्बार्क तथा अन्य वैष्णव आचार्य गुजरात को अधिक प्रभावित नहीं कर सके; यद्यपि उनकी उत्तर-भारत-यात्रा के मार्ग में गुजरात पड़ता था और एक तरह से उसे उत्तरापथ और दक्षिणापथ को जोड़ने वाला मध्यवर्ती क्षेत्र कहा जा सकता है। इन आचार्यों में से किसी ने गुजरात को अपने प्रचार का केन्द्र नहीं बनाया; परन्तु उनकी विचारधारा ने उसे सहिष्णु और उदार अवश्य बनाया होगा।

१५वी शताब्दी तक राजस्थान शैवधर्म में दीक्षित रहा है और वहां नाथ-पंथियों एवं शाक्तों का प्राधान्य है। सम्भवतः गहरवार (राठौर) राजपूतों की जो शाखा जयचन्द की पराजय के बाद जोधपुर में स्थापित हुई वह वैष्णव भक्ति-भाव भी अपने साथ लेती गई और बाद में उसने मेड़ता में भी एक शाखा स्थापित की। इसी मेड़ता-वंश मे मीरा (१५००-१५४८) का जन्म हुआ। मीरा का जीवनवृत्त ही

1. K. M. Munshi : Gujerat & Its Literature, p. 77. The slokas are :

कृष्णेनाम्ब गतेन रन्तमधुना मृद्भक्षिता स्वेच्छया
सत्यं कृष्ण क एवमाहमुसली मिथ्याम्ब पश्याननम्।
व्यादेहीति विकासिते शिशुमुखे माताः समस्तं जगद्
दृष्ट्वा यस्य जगाम विस्मयपदं पायात् स वः केशवः॥

कनककलशस्वच्छे राधापयोधरमण्डले
नवजलधरश्यामामात्मद्युति प्रतिबिम्बिताम्।
असितसिचयप्रान्त भ्रान्त्या मुहुर्मुहुरुत्क्षिप-
जयति जनितव्रीडाहासः प्रियाहसिता हरिः॥

प्रमाण है कि उनके समयमें वैष्णव भक्ति राजस्थान में प्रतिष्ठा नही प्राप्त कर सकी थी और मीरा की साधना ब्रज-सम्प्रदायों से स्वतन्त्र व्यक्तिगत स्तर की वस्तु थी। बाद में सतरहवीं शताब्दी में औरंगजेब के शासन-काल में कांकरौली में श्रीनाथजी की स्थापना हुई और वैष्णव धर्म का एक प्रमुख केन्द्र राजस्थान में स्थापित हुआ। परन्तु पूर्वी राजस्थान में आमेर राज्य के 'गलता' स्थान पर इस प्रकार का एक प्राचीन केन्द्र था और सम्भवतः रामानन्द के समय में ही इस केन्द्र की स्थापना हो चुकी थी। वैष्णवों में यह केन्द्र उत्तर तोताद्रि के नाम से प्रसिद्ध था। मेवाड़ के राणा कुम्भा (१४३३-१४६८) का "गीत-गोविन्द" का अनुवाद और उनकी रानी झाली का रैदास का शिष्यत्व यह सिद्ध करते हैं कि पन्दरहवीं शताब्दी के आरम्भ में वैष्णव भावना राजस्थान में अपनी जड़ जमा रही थी और उसे हम उस हिन्दू पुनरुत्थान से सम्बन्धित कर सकते हैं जिसका प्रतीक मेवाड़ का शिशौदिया वंश था।[1]

पश्चिमी हिन्दी प्रदेश में सरहिन्द नामदेव के समय (१२७०-१३५०) में ही वैष्णव भावना का केन्द्र बन चुका था; परन्तु प्राचीन युग में यह क्षेत्र नाथपंथी योगियों और सूफियों की क्रीड़ाभूमि रहा है। फलस्वरूप, विशुद्ध वैष्णव भाव का प्रसार वहां असम्भव था। १५वीं शती में पूर्वी पंजाब और सरहिन्द में वैष्णव साधना निर्गुण साधना के रूप में विकसित हुई और गुरु नानक (१४६९-१५३८) उसके आदि प्रवर्तक कहे जा सकते हैं। "गुरु ग्रंथ साहब" (सं० १६०४) में वैष्णव भावना के निर्गुण रूप का बड़ा विस्तार संकलित है; यद्यपि बाद में सिख-पंथ के रूप में उसने साम्प्रदायिक आधार ग्रहण कर लिया। दक्षिण-पश्चिमी हिन्दी प्रदेश में ग्वालियर के तोमर वंश (१४००-१५१९) और गढ़कुण्डार-ओरछा के बुन्देलों ने ईसा की पंदरहवीं शताब्दी में हिन्दू संस्कृति का प्रतिनिधित्व किया और पूर्ववर्ती प्रतिहारों, परमारों, चन्देलों, बुन्देलों, कछवाहों और चौहानों की सांस्कृतिक परम्पराओं को अग्रसर किया। ये दोनों राज्य साहित्य, संगीत तथा कलाओं के केन्द्र बन गए और मध्य युग के वैष्णव साहित्य के आरम्भ के लिए हमें इन्हीं स्वतन्त्र राज्यों की ओर देखना पड़ता है। पिछले दिनों में गोस्वामी विष्णुदास (आ० १४३५)[2] मेघनाथ (आ० १५००)[3] और मानिक कवि (१४८९)[4] का काव्य प्राप्त हुआ है जिससे पता चलता है कि ब्रजप्रदेश का कृष्ण-भक्ति-आन्दोलन और कृष्ण काव्य के लगभग एक शताब्दी की साहित्य-साधना थी जो पुराणों के अनुवाद और विष्णुपदी के रूप में प्रचलित थी। इस क्षेत्र से तत्कालीन जैन-कवियों का काव्य भी प्राप्त होता है जो अपभ्रंश जैन-काव्य की परम्परा से प्रत्यक्ष रूप से सम्बन्धित है। ओरछा के बुन्देलों ने भी

1. K. M. Pannikar : A Survey of Indian History, Pp. 127-8.
२. "महाभारत-कथा" और "रुक्मिणी-मंगल"
३. "भागवतगीता भाषा"
४. "बैतालपच्चीसी"

इस परम्परा को जीवित रखा और नवरत्नों में से दो रत्न बीरबल और तानसेन अकबर को रामचन्द्र बुन्देला से ही प्राप्त हुए थे। वास्तव में ब्रजभाषा और बुन्देलखंडी क्षेत्रों में वैष्णव धर्म की परम्परा बहुत पहले स्थापित हो गई थी। कालिंजर, खजुराहो और चित्रकूट के मन्दिर इसके प्रमाण हैं।

कान्यकुब्ज, प्रयाग और काशी में गहरवारों के समय में ही ब्राह्मण-धर्म को महत्व मिल चुका था। गोविन्दचन्द्र (१११४-११५५) के समय में ब्राह्मणों की सर्वोपरि प्रतिष्ठा थी और उस युग की अन्तर्वेदीय स्थिति का पता पंडित दामोदर शर्मन् के ग्रंथ "उक्ति-व्यक्ति-प्रकरण" से चलता है। जयचन्द की पराजय के बाद (११९३ ई०) इस क्षेत्र में ब्राह्मण धर्म का प्रभाव और भी बढ़ा होगा। ज्ञानेश्वर के पिता विट्ठलपंत को काशी से व्यवस्था-पत्र मिलने पर ही जाति में स्थान मिला, इससे यह स्पष्ट है कि धर्म और समाज-व्यवस्था के क्षेत्र में समस्त उत्तर भारत और महाराष्ट्र पर काशी की धाक थी। ऐसा जान पड़ता है कि उत्तर भारत में राम-मंत्र के प्रचार का सारा श्रेय राघवानन्द को है जिन्हें "अवधूत" भी कहा गया है। यही राघवानन्द रामानन्द (१२९९-१४१०) के गुरु थे। "सिद्धान्तपंचमात्रा" नाम का उनका एक ग्रन्थ भी हमें प्राप्त है जिसमें योग सम्प्रदाय और श्रीवैष्णव सम्प्रदाय के समन्वय के प्रत्यक्ष प्रमाण हैं। इस पुस्तिका की प्रति गोवर्धन के रामानुजी हनुमान-मन्दिर में पाई गई है जिससे यह स्पष्ट है कि बारहवीं शती के मध्य में राघवानन्द द्वारा वैष्णव नवोत्थान का आरम्भ हो गया था। नाभादास ने लिखा है कि राघवानन्दने पृथ्वी का पत्रावलम्बन किया और वर्णाश्रम धर्म तथा भक्ति के सार्वभौम प्रचार के बाद काशी में आ बसे।[1] रामानन्द के सम्बन्ध में फर्कुहर का मत है कि उनका सम्बंध दक्षिण के किसी पुरातन रामोपासक अद्वैत सम्प्रदाय से था जो बाद में श्रीवैष्णवों में अन्तर्भुक्त हो गया और वे ही दक्षिण से अगस्त्य-संहिता और अध्यात्म रामायण जैसे ग्रन्थ लाए।[2] इस कार्य का श्रेय कदाचित् रामानन्द को ही मिलेगा; परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि उत्तर भारत में वैष्णव धर्म के युग-पुरुष रामानन्द ही थे। पन्दरहवीं शताब्दी रामानन्द की शताब्दी कही जा सकती है।

अयोध्या इस्लामी आक्रमण से बहुत दिनों तक बची रही और वहाँ वैष्णव धर्म के विकास के लिए हमें कई शताब्दियां पीछे जाना होगा। यह निश्चय है कि मध्य युग में अयोध्या हनुमद्भक्ति और रामभक्ति का एक प्रमुख केन्द्र था और कदाचित् योगी साधना का भी वहां प्राधान्य रहा था। प्राचीन युगों के खण्डहर और मन्दिर इसी ओर इंगित करते हैं।[3]

---

१. पत्रावलंब पृथिवी करि काशी स्थाई।
चार वरन आश्रम सब हीं को भक्ति दृढ़ाई॥ (नाभादास : भक्तमाल, ३०)

2. Farquhar : Outline of Indian Religious Thoughts, p. 256.

३. लाला सीताराम : "अयोध्या का इतिहास"

पूर्वी हिन्दी प्रदेश, मिथिला और बिहार में बौद्ध धर्म का अस्तित्व इस्लामी आक्रमण के बाद तक रहा और एक बार फिर नालंदा के ध्वंसों को पुनर्जीवित करने की चेष्टा की गई। कहा जाता है कि कबीर के समय में ही उनके शिष्य भगवानदास ने घनौटी में एक मठ की स्थापना की थी; परन्तु वास्तव में सोलहवीं शती तक बौद्ध और शैव प्रभाव इस क्षेत्र में प्रधान रहे हैं। वैसे नान्यदेव (१०१७ ई०) के द्वारा कर्णाटकी राजवंश की स्थापना के कारण भागवत धर्म की प्रतिष्ठा यहां ग्यारहवीं शताब्दी में ही हो गई थी और बाद में ओनवाल वंश भी वैष्णव धर्म का समर्थक था; परन्तु जनता में शैव और शाक्त साधनाएं ही प्रचलित थीं। सोलहवीं शताब्दी में जनकपुर अवश्य रामभक्ति का केन्द्र बन गया और वारिपुर-दिग्पुर का तुलसी ने स्पष्ट उल्लेख किया है।[1] बिहार के सूफी संतों की परम्परा के मूल में भी रामानंद का नाम लिया जाता है जिससे रामानन्द के व्यापक प्रभाव का पता चलता है।[2] यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि वैष्णव धर्म का जो रूप बिहार में विकसित हुआ उस पर पूर्ववर्ती बौद्ध संस्कारों की गहरी छाप थी।

सीमान्तों में मध्यप्रान्त और बंगाल-उड़ीसा के प्रदेश आते हैं। मध्यप्रान्त में वैष्णव धर्म का प्रसार ११ वीं शताब्दी में हो गया था। इस शताब्दी की हैहयशासन कालीन कुछ प्रतिमाएं मैहर के पास एक स्तम्भ पर खुदी मिली हैं। इस स्तम्भ पर मत्स्य, बुद्ध, वामन और कल्कि की मूर्तियां एक के ऊपर दूसरी स्थित है। दूसरे स्तम्भ पर कूर्म, वाराह और नरसिंह की प्रतिमाएं हैं। इस युग की ब्रह्मा-विष्णु की सम्मिलित मूर्तियाँ भी इस प्रदेश में मिलती हैं। सरस्वती और लक्ष्मी के साथ विष्णु की स्थानक मूर्तियां भी मिलती हैं। खजुराहो के मन्दिरों (९५०-१०५० ई०) में वाराहावतार और लक्ष्मीनारायण की मूर्तियों की प्रतिष्ठा है। ये मन्दिर शैव-मन्दिरों के बीच में स्थित हैं जिससे यह स्पष्ट हो जाता है कि चंदेल शासन-काल (९५०-१२०३) में यद्यपि शैव-भावना की प्रधानता थी और चंदेलराज स्वयं को माहेश्वर कहते थे; परन्तु वैष्णव भावना का भी उत्तरोत्तर विकास हो रहा था। बाद में गढ़कुंडार-ओरछा के बुन्देलों ने वैष्णव धर्म को स्पष्ट रूप से मान्यता दी और इसी वंश की एक शाखा ने चित्रकूट और अयोध्या के वैष्णव मन्दिरों का निर्माण कराया। रामभक्ति के विकास से रीवां-नरेशों का निकट का सम्बन्ध रहा है।

बंगाल में नवद्वीप और उड़ीसा में नीलाद्रि (जगन्नाथपुरी) वैष्णव धर्म के दो प्रमुख पूर्वस्थ केन्द्र रहे हैं। नवद्वीप में वैष्णव भावना का प्रवेश सेनवंश (१०१७-१२००) के द्वारा सम्पन्न हुआ और अंतिम सेन-राज्य लक्ष्मणसेन के समय में ही जयदेव ने अपने "गीत गोविन्द" की रचना के द्वारा विष्णु-भक्ति को नया कंठ दिया। पदों की परम्परा की सूचना यद्यपि हमें क्षेमेन्द्र के "दशावतारचरित" से लग

---

१. तुलसीदास : कवितावली (वारिपुर दिगपुर बीच बिलसति भूमि। अंकित जो जानकी चरण जलजातकी।)

२. सं० हज़ारीप्रसाद द्विवेदी : रामानन्द की हिन्दी रचनाएं, पृ० २८

जाती है; परन्तु "गीत गोविन्द" जैसी उत्कृष्ट रचना के अभाव में पद-रचना इतनी द्रुत गति से विकासमान नहीं हो सकती थी। जगन्नाथ का मन्दिर प्रारम्भ में बौद्ध मन्दिर था और कुछ दिनों तक वज्रयानियों का भी उस पर आधिपत्य रहा; परन्तु दसवीं शती में वह वैष्णवों के अधिकार में आ गया। भुवनेश्वर के मन्दिर (१०५०-११५०) भी वैष्णव धर्मोत्थान के प्रतीक हैं। नालन्दा ध्वंस के पश्चात् बौद्ध आचार्य और साधक भाग कर उड़ीसा में ही आ बसे थे और सोलहवीं शताब्दीतक उड़ीसा बौद्ध धर्म का केन्द्र रहा; यद्यपि वैष्णव-धर्म उत्तरोत्तर उत्कर्ष पर था। धर्म ठाकुर सम्प्रदाय, निरन्जन-पंथ, बाउल मत और सहजिया सम्प्रदाय के रूप में बौद्ध धर्म के अवशेष इन प्रदेशों में अब तक शेष हैं।

वास्तव में वैष्णव धर्म के मध्ययुगीन अभ्युत्थान को गुप्त युग की पौराणिक एवं तांत्रिक संस्कृतियों से सम्पूर्णतः सम्बन्धित किया जा सकता है। गुप्त युग में जिन सांस्कृतिक और शैक्षिक साधनों का आविष्कार हुआ उनमें पुराण सबसे प्रमुख हैं। इस युग से पहले ही महाभारत और हरिवंश आर्य संस्कृति के विश्वकोष बन चुके थे और पंचम वेद अथवा शतसाहस्रिक संहिता के नाम से प्रसिद्ध थे। सातवीं शती तक वायु, मत्स्य, मार्कण्डेय, ब्रह्माण्ड और देवी भागवत की रचना हो चुकी थी। गुप्त युग में सर्वाधिक लोकप्रियता विष्णुपुराण (६०० ई०) को प्राप्त हुई और साहित्यिक संदर्भों एवं स्थापत्य की साक्षी पर यह कहा जा सकता है कि गुप्त युग के लोक-मानस पर इस पुराण का प्रभाव सर्वाधिक था। अलबेरुनी के समय (१०२७) तक अट्ठारह पुराणों और उपपुराणों की रचना हो चुकी थी और उसके ग्रंथ "किताबुलहिंद" में काशी के पण्डितों को प्रमाण मान कर सम्पूर्ण पुराण-सूची दी गई है।

समस्त गुप्त युग में पुराण साहित्य को प्रेरित करते रहे हैं और आदोच्य युग के आरम्भ तक विषय, प्रेरणा एवं परिवेश का आधार कोई-न-कोई पुराण ही रहता था। प्राचीन नृवंश, धर्मस्थानों से सम्बन्धित देवकथाएं, देवी-देवताओं की कहानियाँ, नैतिक आदर्श और कर्मकाण्ड, इन सभी क्षेत्रों में पौराणिकता की छाप थी। वास्तव में पुराणों ने समस्त भारत को एक सूत्र में ग्रथित कर दिया और पुराणोक्त "धर्म" ही इहलोक-परलोक के निमित्त जीवन चर्या बना। उसी से आर्य-जीवन में एकसूत्रता और निरंतरता आई। इन्हीं पुराणों के द्वारा जहां एक ओर बौद्ध धर्म का उन्मूलन किया गया, वहां मुसलमानों से उत्क्रान्त हो जाने पर इन्हीं के द्वारा हिन्दू धर्म और संस्कृति के संरक्षण का कार्य सम्पन्न हुआ। पौराणिक उपाख्यानों में ऐसा बहुत कुछ था जो नई पीढ़ियों को आर्य-परम्परा में दीक्षित करने में सफल हुआ और जिसने विदेशियों के धर्मप्रचार को दुर्दमनीयता का उत्क्रमण किया। नई जातियाँ पौराणिक गोत्रों को अपनाकर ही वर्णाश्रम धर्म में व्यवस्थित हुईं। वास्तव में पुराणों के आधार पर ही मध्ययुगीन ब्राह्मण-समाज शीर्ष-स्थान ग्रहण कर सका। पुराणों ने ही नव हिन्दू चेतना को जन्म दिया और हिन्दू-समाज की आश्चर्यजनक

जीवनक्षमता दी। पुराणवाचक मध्य युग का केन्द्र-पुरुष बन गया और उसने जनपदीय भाषाओं के माध्यम से पुराणों के संदेश को घर-घर पहुंचाया। उसने अतीत को पुनर्जीवित किया। वास्तव में कवियों, सुधारकों, दार्शनिकों, पौराणिकों और भक्तों सबने पुराण-ग्रंथों से प्रेरणा प्राप्त की। उन्हीं के माध्यम से वैष्णव संस्कृति ग्रामीण समाज तक पहुंची और उसने पौर संस्कृति पर निरंतर बुद्धिमान ईरानी प्रभाव को चुनौती दी। इसमें संदेह नहीं कि मध्य युग में वैष्णव धर्म और संस्कृति के द्वारा ही भारतीयता की रक्षा हो सकी।

गहरवारों की पराजय से पहले उत्तर भारत सम्पूर्ण रूप से समृद्ध था। अरबी यात्रियों ने उसके नगरों से ऐश्वर्य और वैभव का विस्तारपूर्वक उल्लेख किया है। परन्तु बाद की पूरी शताब्दी (१३ वीं शताब्दी) अराजकता की शताब्दी रही है। मन्दिर खण्डित किए गए, शताब्दियों की संचित धन-सम्पत्ति लूट का विषय बनी, बलात्कार और अपहरण अराजक जीवन के नियम बन गये। इस्लाम का झंडा चतुर्दिक फहराने लगा। बलपूर्वक धर्मपरिवर्तन ने वर्णाश्रम धर्म के सामने एक विषम समस्या खड़ी कर दी। लोग सुरक्षा की खोज में जहां-तहां घूमने लगे और इसी समय बड़े-बड़े जन-समूह स्थानांतरित होकर दूर-दूर बस गये। गुजरात और देवगिरि में ब्रज, बांगड़ू और मारवाड़ की अनेक जातियां जा बसीं और ये अपने साथ उत्तर की भाषाएं लाईं।[1] धर्मगुरु, पण्डित, कवि, कलाकार और साधु-संन्यासी सुदूर गांवों में चले गये जहां विद्वेषी यवनों से बच कर वे अपने संस्कारों को सुरक्षित रख सकते थे। इस्लामी प्रभुत्व-क्षेत्र में जो जन रहे उनके सामने यही मार्ग था कि वे नारी-समाज को परदे के पीछे बंद कर दें और जातिवाद, पंचायत और महाजन को लेकर

---

1. K. M. Munshi : Op. Cit., p. 114, "And when the Brahamanas found the fanatical foreigner—mleccha as they called him—devastating their land, demolishing the most sacred shrines of their faith, destroying their dharma and the social structure which they believed to be eternal, they developed miraculous adaptability. They delivered to the masses, through the medium of their dialects, the message of the Puranas, and made the past live again. The Puranic revival preserved society and culture, and directed literary energy into the channel of the desabhasha. It spread over the whole country and opened up psospects for all. Poets received fresh inspiration ; puranikas a new vocation ; philosophers, a new orientation. To the village saints, it gave something to live for, and it brought to the ordinary people, in the place of cumbrous ritual and abstruse doctrine, bhakti, a worship full of jop and song, dance and prayer. Every province began to work out its cultural salvation. Every language began to develop, and its literature assumed distinctive character."

स्वतन्त्र गढ़ बना कर अपने लिये नये संसार के निर्माण का प्रयत्न करें।[1]

इस्लाम की विजय के कारण सांस्कृतिक क्षेत्र में उथल-पुथल मच गई। संस्कृत का राजाश्रय समाप्त हो गया और राजाश्रय में पनपने वाली पण्डित-मण्डलियां नष्टभ्रष्ट हो गईं। पण्डितवर्ग काशी, मिथिला, नवद्वीप और पुणे में केन्द्रित हो गया और उसने नई स्मृतियों का निर्माण कर व्यवस्थाओं के द्वारा पुरातन संस्कारों की सुरक्षा एवं रक्तशुद्धता का प्रयत्न किया। यह प्रयत्न कहां तक सफल हुआ, यह कहना कठिन है; परन्तु उससे जाति विद्वेष और संकीर्ण अहं का जन्म अवश्य हुआ। साधु-संन्यासियों के बड़े-बड़े अखाड़े बने और ध्वस्त बौद्ध चैत्य-विहारों का स्थान मठों और आश्रमों ने ले लिया। जीविका के उपार्जन में असमर्थ पण्डितवर्ग सुदूर नगरों और ग्रामों में पुरोहिती अथवा पौराणिकी वृत्ति के द्वारा किसी तरह जीने का प्रयत्न करने लगा। कई शताब्दियों बाद यही निराश्रित पण्डितवर्ग देशी राज्यों और देशाधिपति अकबर पातशाह का आश्रय पाकर रीति कविता की नींव डालता है और स्वस्थ सौन्दर्य के स्थान पर भोगवादी एवं चमत्कार-निष्ठ श्रृंगार-परम्परा का निर्माण करता है। इस समस्त विश्रृंखलता का फल यह हुआ कि समाज का नेतृत्व पण्डितवर्ग के हाथ से निकल कर अपढ़ साधकों, संन्यासियों, योगियों और सूफियों के हाथ में चला गया जो देशी भाषाओं में लोकगीतों और लोकछन्दों के सहारे अटपटी वाणी में जनता को संसार की असारता और वैराग्य का उपदेश देते हुए स्थान-स्थान पर विचरने लगे। वल्लभाचार्य के समय तक यह विषम परिस्थिति बनी रही है और उनके "कृष्णस्तोत्र" में इससे उबरने की उत्कट आकाँक्षा सन्निहित है।[2] वास्तव में बाहरी ध्वंस से वह भीतरी ध्वंस अधिक व्यापक और विनाशकारी था जिसने शताब्दियों में निर्मित आस्थाओं, जीवनप्रेरणाओं और परम्पराओं को आमूल नष्ट कर दिया था। इसी बाहरी-भीतरी ध्वंस पर अगली शताब्दियों में रामानन्द और वल्लभाचार्य द्वारा नई जन-संस्कृति का निर्माण होता है जिसे हम व्यापक अर्थों में "वैष्णव संस्कृति" कह सकते हैं। इस संस्कृति ने उस भोगवादी ईरानी संस्कृति को चुनौती दी जो इस्लामी विजय के बाद नगरों में विकसित हो रही थी और जिसे इतिहासकारों ने भ्रांतिवश मध्य युग का प्रतिनिधित्व दिया है। सच तो यह है कि नई आस्था के निर्माण का काम रामानन्द, कबीर, सूर, तुलसी और मीरा के काव्य से ही हुआ और ध्रुपद-धमार की नई गायकी तथा राजस्थानी-काँगड़ा कलमों की चित्रकला में राधाकृष्ण के प्रेमकथात्मक प्रतीकों और रागमालाचित्रों द्वारा एक नितान्त अभिनव भावलोक की सृष्टि हुई जो माधुर्य, शक्ति और साहस से ओतप्रोत था और जिसमें भारतीय संस्कृति का तप, चिंतन और "रस" सर्वरूपेण अक्षुण्ण था। वैष्णव संस्कृति की विकासोन्मुख कहानी नई निष्ठा के निर्माण और विस्तार की ही कहानी है।

---

१. श्रीराम शर्मा : दक्खिनी हिन्दी, अवतरणिका, पृ० २३-२५

२. डॉ० धीरेन्द्र वर्मा : विचारधारा (१९३८)

ऊपर के ऐतिहासिक विवेचन से यह स्पष्ट है कि उत्तर भारत में नव वैष्णव संस्कारों के प्रवेश का समय भिन्न-भिन्न प्रदेशों में भिन्न-भिन्न है और आरम्भ में उस की प्रगति धीमी रही है; परन्तु ग्यारहवीं शताब्दी के आरम्भ में ही समस्त अंतर्वेद पर व्यापक रूप से वैष्णव विचारावली और धर्मसाधना की छाप थी। बारहवीं शताब्दी के अंतिम दशक में पठानों का आक्रमण बवण्डर की भांति समस्त उत्तरापथ को रौंदता हुआ चला गया और उसकी प्रलयंकारी गति में प्राचीन संस्कार, धर्म, आदर्श और व्यवहार ध्वस्त होकर खण्डहर बन गए। फलस्वरूप तेरहवीं शताब्दी में वैष्णव धर्म अप्रत्याशित गति से अग्रसर हुआ और गुजरात से बंगाल तक तथा पंजाब से उड़ीसा तक उसकी जयभेरी बजने लगी। दर्शन के क्षेत्र में उसने रामानुज के विशिष्टाद्वैत, मध्व के द्वैत और निम्बार्क के द्वैताद्वैत का आश्रय लिया और अद्वैत भक्ति के स्थान पर द्वैतभाव सम्पन्न दास्यभावा एवं भेदाभेदी शृंगारी भक्ति को प्रश्रय मिला। इस्लाम के संस्कारों और सूफ़ी साधना की भावपरता से भी उसने सम्बल प्राप्त किया; परन्तु उसने स्वयं अपने भीतर से ऐसी शक्ति विकसित कर ली जिसके कारण वह नाना प्राचीन धर्मों, सम्प्रदायों, भक्ति-भावों और प्रतीकों का समुच्चय कर सका और अनेकानेक संस्कारों को एक विराट् समन्वय में गूंथ सका। यह विराट समन्वय ही मध्य युग की वैष्णव संस्कृति है।

इस वैष्णव संस्कृति में द्वैत और अद्वैत का समाधान साधना की भूमि पर हुआ है। ब्रह्मसूत्र, गीता और उपनिषद का तत्वज्ञान इस संस्कृति का मस्तिष्क हैं, "भागवत" और "अध्यात्म" उसका हृदय हैं, षोडषोपचार उसकी पूजापद्धति है और वर्णाश्रम धर्म उसका लोकव्यवहार है। पुरातन विभिन्न साधनाएं विभिन्न सम्प्रदायों में भिन्न-भिन्न रूप धारण करके उदित हुई हैं और मधुर भाव (शृंगार भक्ति), वात्सल्य, सख्य, दास्य आदि सभी दृष्टिकोणों से साधना बलवती हुई है, यहां तक कि मीरा दाम्पत्यभावा और चैतन्य की महाभावा शृंगारिक भावना का भी उसमें समाहार है। पौराणिक व्रतोपासन इस वैष्णव संस्कृति के कर्मकाण्ड हैं। मूल रूप में एकांतिक होते हुए भी मध्य युग का वैष्णव भक्ति-भाव उदार है और "हरि को भजै सो हरि को होई" दृष्टिकोण के द्वारा उसने वर्णाश्रम की कठोरता और सामाजिक आचार-विचार की संकीर्णता का परिहार किया है।

---

१. म्लेच्छाक्रान्तेषु देशेषु पापैकनिलयेषु च,
सत्पीड़ाव्यग्रलोकेषु, कृष्ण एवं गतिर्मम।
गंगादि तीर्थ वर्येषु दुष्टेरेवावृतेविह,
तिरोहिताधिदेवेषु, कृष्ण एवं गतिर्मम।
अपरिज्ञाननष्देसु, मंत्रेढ़वव्रतयोगिषु,
तिरोहिनार्थ वेदेषु, कृष्ण एव गतिर्मम।
—(कृष्णाश्रय, षोड़श ग्रंथ, सं० भट्ट रमानाथ शर्मा, श्लोक २, ३ तथा ५)

इसमें संदेह नहीं कि सोलहवीं शताब्दी के अंत तक यह वैष्णव संस्कृति अपने सहस्र दल विकसित कर चुकी थी और साहित्य, संगीत एवं कला के क्षेत्र में इस शताब्दी का योगदान वैष्णव संस्कृति का ही योगदान है। इस वैष्णव संस्कृति ने "हिन्दू-करण" की प्रक्रिया का विकास किया और पराजित हिन्दू जाति को आशा, उल्लास और विजय का नया रक्षा-स्तोत्र दिया। रामानंद और वल्लभाचार्य मध्य युग के दो प्रमुख सांस्कृतिक व्यक्तित्व हैं जिन्होंने इस संस्कृति के कड़े-कोमल पक्षों को नया रूप दिया और म्लेच्छाक्रांत उत्तरापथ को आतंक और अवसाद के गर्त्त में से उबारा। तुलसी के व्यक्तित्व और साहित्य में इन दोनों पक्षों का समाहार हो जाता है और इसी से हम उन्हें उसी प्रकार इस मध्ययुगीन वैष्णव संस्कृति का केन्द्रीय पुरुष कहेंगे जिस प्रकार कालिदास को गुप्त युग का केन्द्रीय व्यक्तित्व। स्वयं तुलसी की रचनाओं में एक अत्यंत विराट और उदार संकलन एवं समन्वय है जो उन्हें मध्य युग का सर्वश्रेष्ठ महाकवि ही नहीं, सर्वोत्कृष्ट सांस्कृतिक नेता भी बना देता है। "रघुवंश" से 'रामचरितमानस" की तुलना करने पर हमें उन दो विभिन्न जीवनादर्शों का पता लग जाता है जो वैदिक काल से भारतीय संस्कृति को प्रेरित करते रहे है। शील, सौन्दर्य और साहस के साथ लोक-कल्याण और करुणा का समावेश कर तुलसी ने वैष्णव संस्कृति को एक नया मानदण्ड दिया जो अभी भी भारतीय हृदय-मन को प्रबोधन देने में समर्थ है। इस्लामी परिवेश को प्रधानता देकर मध्य युग के इतिहासकार उस वैष्णव संस्कृति की अवहेलना करते रहे है जिसे हम सच्चे अर्थों में जन-संस्कृति कह सकते हैं। वैष्णव संस्कृति का यह नवीन उत्थान प्रत्यावर्त्तन नहीं, भविष्य की ओर बढ़ता हुआ साहसी डग है। अगली शताब्दियों के साहित्य और संस्कार में इसके प्रमाण प्रचर मात्रा में मिलेंगे।

●

: ३ :

मध्ययुगीन वैष्णव संस्कृति का स्वरूप

मध्ययुग की वैष्णव संस्कृति जहां एक ओर भारतवर्ष की पूर्ववर्त्ती सांस्कृतिक चेतना का प्रसार है, वहां दूसरी ओर उसमें युगीन आवश्यकताओं और चेतनाओं की भी प्रतिक्रिया स्पष्ट रूप से व्यंजित होती है। वह न तो परम्परा से एकदम विच्छिन्न है, न उसने समसामयिक परिवेश को ही अस्वीकार किया है। उसमें यथार्थ और सम्प्रतीति का बड़ा सुन्दर योग दिखलाई देता है। वास्तव में उसने यथार्थ से पलायन नहीं किया, उसे चुनौती की तरह स्वीकार किया और पूर्व-परम्परा को मथ कर नई सांस्कृतिक आवश्यकताओं की पूर्त्ति के लिए नए उपकरण आकलित किये। उसकी सम्प्रतीति (व्हिज़न) इसी चुनौती का एक स्वरूप है। यद्यपि इस मध्ययुगीन वैष्णव संस्कृति का सबसे सुन्दर उद्घाटन तुलसी की रचनाओं "मानस" और "विनयपत्रिका" में मिलता है; परन्तु रामानन्द से तुलसी तक वैष्णव कवियों, साधको, आचार्यों और कलाकारों की सामासिक चेतना में वह व्याप्त है। वैष्णव संस्कृति के इस स्वरूप को हम सामयिक परिवेश की भूमिका पर ही उचित रूप से आत्मसात कर सकते हैं।

वैष्णव संस्कृति का मूल ब्राह्मण संस्कृति है जो ब्राह्मण-ग्रंथों, धर्मसूत्रों, गृह्य-सूत्रों, मानव धर्मशास्त्र, रामायण-महाभारत और पुराणग्रंथों के आधार पर निरंतर विकास को प्राप्त होती हुई नये-नये प्रतीकों, जीवनादर्शों तथा सांस्कृतिक मूल्यों का आविष्कार करने में सफल हुई। शंकराचार्य (७८८--८२० ई०) के द्वारा यह संस्कृति बौद्ध धर्म और दर्शन को चुनौती देने में समर्थ हुई और उसमें धीरे-धीरे बौद्ध चिंतन और आचार-परम्परा को बहुत कुछ आत्मसात कर लिया। अवतारवाद और भक्तिवाद के रूप में उसने महायान की सबसे अधिक आकर्षक उपलब्धियों को ग्रहण कर लिया और अर्चावतार की व्यापक कल्पना के द्वारा भारतीय जन के असंख्य देवी-देवताओं को उसने विशालकाय मन्दिरों के गर्भगृहों में प्रतिष्ठित करना आरम्भ किया। इस प्रकार दसवीं शताब्दी तक बौद्ध धर्म की श्रेष्ठतम छवियां ब्राह्मण धर्म के इस नवीन उत्थान में स्वरूपबद्ध हो गईं। आगे की छः शताब्दियों में यही नवोत्थित ब्राह्मण-संस्कृति वैष्णव-संस्कृति का रूप ग्रहण कर लेती है।

नवोत्थित ब्राह्मण-संस्कृति निश्चय ही स्वतंत्र, अधिक व्यापक और आत्मनिष्ठ वस्तु है। वह बराबर परम्परा की याद दिलाती चलती है, जैसा तुलसी, सूर आदि

कवियों की रचना से स्पष्ट है; परन्तु परम्परा को उसने बोझ की तरह नहीं ढोया है, उससे मधु-संचय किया है। ब्राह्मण संस्कृति के पूर्ववर्त्ती रूपों से उसमें गुणात्मक भेद है। यह भेद युगधर्म बनकर आया है और इसके लिए सामयिक परिवेश ही उत्तरदायी है। वैष्णव संस्कृति को जहां एक ओर पिछले ३०० वर्षों की स्वदेशीय तांत्रिक संस्कृति को ललकारना पड़ा है जो सिद्धचर्या, चमत्कार, गुह्य और असामान्य आधारित है, वहाँ साथ ही उसे पश्चिम की ओर से आने वाली विदेशीय, आक्रमक तथा एकदम विरोधी संस्कारों के सम्पन्न इस्लामी संस्कृति को भी मोर्चा देना पड़ा है। घर और बाहर के इन दुहरे आक्रमणों से भारतीय जनजीवन की रक्षा करना और उसे उदात्त संस्कारों की ओर प्रेरित करना सामान्य कार्य नहीं था। इन दोनों मोर्चों पर वैष्णव संस्कृति किन उपायों से कितनी दूर तक सफलता प्राप्त कर सकी, यह ऐतिहासिक शोध और गर्व का विषय है। वास्तव में १०वीं शती से १६वीं शती तक का विराट् अंतराल भारतीय जीवन के अमृतमन्थन का समय है। इन छः शताब्दियों में तंत्रवाद भक्तिवाद में परिवर्त्तित हो जाता है और इस्लाम के प्रभाव से जातिवाद की कड़ी शृंखलाएं दुर्बल पड़ जाती हैं तथा निर्वैयक्तिक अरूप-साधना माधुर्यमयी व्यक्तिगत रूपसाधना का समारम्भ बन जाती है।

पहले तंत्रवाद को लें। तांत्रिक धर्म मुख्य रूप से शैव-धर्म था; परन्तु बौद्ध, शाक्त तथा ब्राह्मण धर्मों के भीतर तांत्रिक चर्याओं, मान्यताओं तथा विचारधाराओं का पर्याप्त समावेश हो गया था। तांत्रिक धर्म ब्राह्मण आचार-विचार तथा वर्ण-व्यवस्था का विरोधी था। उसमें सिद्धियों को लक्ष्य बनाया जाता था और इन्द्रियदमन के स्थान पर भोगवाद की व्यवस्था थी। मनोवैज्ञानिक क्रियाओं पर आधारित होने के कारण उसने पंचमकार-साधना को अपना लिया और वज्रयानी द्वैतवाद के रूप में एक नई देव-परम्परा विकसित की थी। वज्रयान, मंत्रयान, काल-चक्रयान आदि के रूप में तंत्रवाद व्यक्तिवादी और स्वच्छंद धर्म-साधना बन गया था। तांत्रिक संस्कृति निश्चय ही वर्ग-संस्कृति थी; परन्तु उसके व्यापक प्रभाव को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। पूर्वी द्वीपसमूह और कम्बोज तक तथा लमयुग और उड्डियान से श्रीपर्वत (नागार्जन-शैल) तक उसका प्रसार था। ६०० ई० से १२०० ई० तक के संस्कृत तथा अपभ्रंश और स्थापत्य एवं मूर्त्तिकला में इस संस्कृति का अल्पांश ही सुरक्षित रह सका है। नाथों की रचनाओं में हम इस तांत्रिक संस्कृति को वैष्णव संस्कृति की ओर मुड़ते देखते हैं; क्योंकि यहीं वह ब्रह्मचर्य और नैतिक जीवन की आवश्यकताओं को स्वीकार करने लगती है और सिद्धि या चमत्कार का पल्ला छोड़ कर मानव-व्यक्तित्व के लिए नए-नए मानवीय संस्कार खोज लेती है। गोरखनाथ की वाणी का ओजस्वी स्वर स्पष्ट ही नए लोकधर्म की शंखध्वनि है यद्यपि उसमें शिव-शक्ति का तांत्रिक प्रतीक ही ग्रहण हुआ है।

तांत्रिक धर्म को कबीर ने "लोकवेद" के नाम से स्मरण किया है और गुरु की प्रशंसा की है कि उन्होंने "आतमवेद" से परिचय कराया। वैष्णव धर्म मूलतः अहिंसावादी और नैतिकतामूलक है। शाक्त की हिंसाचर्या और वाममार्गी तांत्रिकों के अनाचार से उसका तीव्र विरोध है। कबीर ने अपनी रचनाओं में निरंजन और कालपुरुष की बड़ी निन्दा की है और उन्हें शैतान के समकक्ष रखा है। यौन-प्रतीकों तथा गुह्य साधनाओं को पीछे छोड़ कर वे औपनिषिदिक आत्मोल्लास और नैतिक आचरण की विशुद्ध भूमि पर आते हैं। उनके कर्मकाण्ड के व्यापक विरोध में तांत्रिक चर्या का विरोध भी परिलक्षित है; यद्यपि ब्राह्मणवाद तथा वर्णवाद के प्रति उनकी प्रतिक्रिया तांत्रिकों (सिद्धों) की प्रतिक्रिया से किसी भी प्रकार भिन्न नहीं कही जा सकती। तांत्रिक सिद्धों में अण्ड-पिंड की एकता स्थापित करने के लिए मानव-शरीर में षटचक्रों की स्थापना की और मूलभूत मनोभूमियों के आधार पर अपनी विशिष्ट साधना का महल खड़ा किया। ब्राह्मण धर्म में स्त्री-शुद्र साधना के क्षेत्र में वर्जित थे। मानवीय मनःभूमि की सामान्यपरता को नींव बना कर ताँत्रिकों ने शूद्र तथा नारी को भी तन्त्र-धर्म में दीक्षित किया। यह विरोध इस सीमा तक बढ़ा कि चांडाल और अकुलीन नारी तन्त्र दीक्षा के महत्वपूर्ण साधन बन गए। वैष्णवों ने धर्म की सार्वभौमिकता आत्मवाद के द्वारा स्थापित की और भक्ति को अन्तिम लक्ष्य बना कर उसके द्वारा वर्णवाद का तीव्र विरोध संगठित किया। इस प्रकार सार्वभौमिकता और सामान्य-परता में तन्त्रधर्म की समकक्षता प्राप्त करने पर भी वह तांत्रिक वामाचारों और अनैतिक अनुष्ठानों से अपने को सुरक्षित रख सका। निर्गुणी वैष्णव धर्म तन्त्रवाद और वैष्णव (सगुण) मतवाद के बीच की कड़ी है जिसमें परिवर्तन की तीव्रता तो स्पष्ट है; परन्तु परम्परा-विच्छिन्नता नहीं है। सगुण भक्तिवाद तांत्रिक परम्परा एवं सिद्धचर्या से सम्बन्ध-विच्छेद कर नैतिकतामूलक, आत्मवादी, व्यक्तिधर्मी समर्पणात्मक मानवधर्म के रूप में प्रतिष्ठित होता है और ब्राह्मण धर्म के क्रियापक्ष (कर्मकाण्ड) के समकक्ष व्यक्तिगत ईश्वर (इष्ट देव) के प्रति प्रणति को प्रमुखता देते हुये भावपक्ष पर बल देता है। उसमें हृदय की कोमल तथा मधुर साधना का प्राधान्य है। उपनिषदों का ज्ञानकाण्ड (आत्मवाद) वैष्णव धर्म को स्वीकार्य है; परन्तु वह उसका नैपथ्य मात्र है। व्यक्तिनिष्ठ ईश्वर (विष्णु और उसके अवतारों) को परम देवता ही नहीं, परब्रह्म के रूप में ग्रहण कर लेने से औपनिषिदिक आत्मवाद भक्तिवाद का अंग बन जाता है और आत्मवादी संस्कृति के नैतिक उपकरण स्वतः ही भक्तिवाद के उपकरण बन जाते हैं; परन्तु आत्मवाद की तपःप्रधान प्रकृति की अपेक्षा भक्तिवाद की माधुर्य प्रधान प्रकृति को नैतिक उपकरणों की अधिक आवश्यकता है। वैष्णव संस्कृति आत्मदमन के प्रति अविश्वासी है। वह इन्द्रियासक्तियों को आत्ममुख न बना कर परोन्मुख अथवा चिन्मुख बनाकर अस्वीकार की अपेक्षा स्वीकार को महत्व देती है। उसने जड़ोन्मुख मानव को प्रकाश और माधुर्य का दान दिया है।

कवियों की रचना से स्पष्ट है; परन्तु परम्परा को उसने बोझ की तरह नही ढोया है, उससे मधु-संचय किया है। ब्राह्मण संस्कृति के पूर्ववर्त्ती रूपों से उसमें गुणात्मक भेद है। यह भेद युगधर्म बनकर आया है और इसके लिए सामयिक परिवेश ही उत्तरदायी है। वैष्णव संस्कृति को जहां एक ओर पिछले ३०० वर्षों की स्वदेशीय तांत्रिक संस्कृति को ललकारना पड़ा है जो सिद्धचर्या, चमत्कार, गुह्य और असामान्य आधारित है, वहाँ साथ ही उसे पश्चिम की ओर से आने वाली विदेशीय, आक्रमक तथा एकदम विरोधी सस्कारों के सम्पन्न इस्लामी संस्कृति को भी मोर्चा देना पड़ा है। घर और बाहर के इन दुहरे आक्रमणों से भारतीय जनजीवन की रक्षा करना और उसे उदात्त संस्कारों की ओर प्रेरित करना सामान्य कार्य नहीं था। इन दोनों मोर्चों पर वैष्णव संस्कृति किन उपायों से कितनी दूर तक सफलता प्राप्त कर सकी, यह ऐतिहासिक शोध और गर्व का विषय है। वास्तव में १०वीं शती से १६वीं शती तक का विराट् अंतराल भारतीय जीवन के अमृतमन्थन का समय है। इन छः शताब्दियों में तंत्रवाद भक्तिवाद में परिवर्त्तित हो जाता है और इस्लाम के प्रभाव से जातिवाद की कड़ी शृंखलाएं दुर्बल पड़ जाती हैं तथा निर्वैयक्तिक अरूप-साधना माधुर्यमयी व्यक्तिगत रूपसाधना का समारम्भ बन जाती है।

पहले तंत्रवाद को ले। तांत्रिक धर्म मुख्य रूप से शैव-धर्म था; परन्तु बौद्ध, शाक्त तथा ब्राह्मण धर्मों के भीतर तांत्रिक चर्याओं, मान्यताओं तथा विचारधाराओं का पर्याप्त समावेश हो गया था। तांत्रिक धर्म ब्राह्मण आचार-विचार तथा वर्ण-व्यवस्था का विरोधी था। उसमें सिद्धियों को लक्ष्य बनाया जाता था और इन्द्रियदमन के स्थान पर भोगवाद की व्यवस्था थी। मनोवैज्ञानिक क्रियाओं पर आधारित होने के कारण उसने पंचमकार-साधना को अपना लिया और वज्रयानी द्वैतवाद के रूप में एक नई देव-परम्परा विकसित की थी। वज्रयान, मंत्रयान, काल-चक्रयान आदि के रूप में तंत्रवाद व्यक्तिवादी और स्वच्छंद धर्म-साधना बन गया था। तांत्रिक संस्कृति निश्चय ही वर्ग-संस्कृति थी; परन्तु उसके व्यापक प्रभाव को अस्वी-कार नही किया जा सकता। पूर्वी द्वीपसमूह और कम्बोज तक तथा लमयुग और उड्डियान से श्रीपर्वत (नागार्जन-शैल) तक उसका प्रसार था। ६०० ई० से १२०० ई० तक के संस्कृत तथा अपभ्रंश और स्थापत्य एवं मूर्त्तिकला में इस संस्कृति का अल्पांश ही सुरक्षित रह सका है। नाथों की रचनाओं में हम इस तांत्रिक संस्कृति को वैष्णव संस्कृति की ओर मुड़ते देखते हैं; क्योंकि यहीं वह ब्रह्मचर्य और नैतिक जीवन की आवश्यकताओं को स्वीकार करने लगती है और सिद्धि या चमत्कार का पल्ला छोड़ कर मानव-व्यक्तित्व के लिए नए-नए मानवीय संस्कार खोज लेती है। गोरखनाथ की वाणी का ओजस्वी स्वर स्पष्ट ही नए लोकधर्म की शंखध्वनि है यद्यपि उसमें शिव-शक्ति का तांत्रिक प्रतीक ही ग्रहण हुआ है।

तांत्रिक धर्म को कबीर ने "लोकवेद" के नाम से स्मरण किया है और गुरु की प्रशंसा की है कि उन्होंने "आतमवेद" से परिचय कराया। वैष्णव धर्म मूलत: अहिंसावादी और नैतिकतामूलक है। शाक्त की हिंसाचर्या और वाममार्गी तांत्रिकों के अनाचार से उसका तीव्र विरोध है। कबीर ने अपनी रचनाओं में निरंजन और कालपुरुष की बड़ी निन्दा की है और उन्हें शैतान के समकक्ष रखा है। यौन-प्रतीकों तथा गुह्य साधनाओं को पीछे छोड़ कर वे औपनिषिदिक आत्मोल्लास और नैतिक आचरण की विशुद्ध भूमि पर आते हैं। उनके कर्मकाण्ड के व्यापक विरोध में तांत्रिक चर्या का विरोध भी परिलक्षित है; यद्यपि ब्राह्मणवाद तथा वर्णवाद के प्रति उनकी प्रतिक्रिया तांत्रिकों (सिद्धों) की प्रतिक्रिया से किसी भी प्रकार भिन्न नहीं कही जा सकती। तांत्रिक सिद्धों में अण्ड-पिंड की एकता स्थापित करने के लिए मानव-शरीर में षटचक्रों की स्थापना की और मूलभूत मनोभूमियों के आधार पर अपनी विशिष्ट साधना का महल खड़ा किया। ब्राह्मण धर्म में स्त्री-शुद्र साधना के क्षेत्र में वर्जित थे। मानवीय मनःभूमि की सामान्यपरता को नींव बना कर ताँत्रिकों ने शूद्र तथा नारी को भी तन्त्र-धर्म में दीक्षित किया। यह विरोध इस सीमा तक बढ़ा कि चांडाल और अकुलीन नारी तन्त्र दीक्षा के महत्वपूर्ण साधन बन गए। वैष्णवों ने धर्म की सार्वभौमिकता आत्मवाद के द्वारा स्थापित की और भक्ति को अन्तिम लक्ष्य बना कर उसके द्वारा वर्णवाद का तीव्र विरोध संगठित किया। इस प्रकार सार्वभौमिकता और सामान्य-परता में तन्त्रधर्म की समकक्षता प्राप्त करने पर भी वह तांत्रिक वामाचारों और अनैतिक अनुष्ठानों से अपने को सुरक्षित रख सका। निर्गुणी वैष्णव धर्म तन्त्रवाद और वैष्णव (सगुण) मतवाद के बीच की कड़ी है जिसमें परिवर्तन की तीव्रता तो स्पष्ट है; परन्तु परम्परा-विच्छिन्नता नहीं है। सगुण भक्तिवाद तांत्रिक परम्परा एवं सिद्धचर्या से सम्बन्ध-विच्छेद कर नैतिकतामूलक, आत्मवादी, व्यक्तिधर्मी समर्पणात्मक मानवधर्म के रूप में प्रतिष्ठित होता है और ब्राह्मण धर्म के क्रियापक्ष (कर्मकाण्ड) के समकक्ष व्यक्तिगत ईश्वर (इष्ट देव) के प्रति प्रणति को प्रमुखता देते हुये भावपक्ष पर बल देता है। उसमें हृदय की कोमल तथा मधुर साधना का प्राधान्य है। उपनिषदों का ज्ञानकाण्ड (आत्मवाद) वैष्णव धर्म को स्वीकार्य है; परन्तु वह उसका नैपथ्य मात्र है। व्यक्तिनिष्ठ ईश्वर (विष्णु और उसके अवतारों) को परम देवता ही नहीं, परब्रह्म के रूप में ग्रहण कर लेने से औपनिषिदिक आत्मवाद भक्तिवाद का अंग बन जाता है और आत्मवादी संस्कृति के नैतिक उपकरण स्वतः ही भक्तिवाद के उपकरण बन जाते हैं; परन्तु आत्मवाद की तपःप्रधान प्रकृति की अपेक्षा भक्तिवाद की माधुर्य प्रधान प्रकृति को नैतिक उपकरणों की अधिक आवश्यकता है। वैष्णव संस्कृति आत्मदमन के प्रति अविश्वासी है। वह इन्द्रियासक्तियों को आत्ममुख न बना कर परोन्मुख अथवा चिन्मुख बनाकर अस्वीकार की अपेक्षा स्वीकार को महत्व देती है। उसने जड़ोन्मुख मानव को प्रकाश और माधुर्य का दान दिया है। . . .

यह स्पष्ट है कि मध्ययुग का वैष्णव धर्म किसी बाह्य आवश्यकता की पूर्ति नहीं है; क्योंकि उसमें भौतिक सिद्धियों का आग्रह नहीं है। वह एक दम आंतरिक है। इस्लामी साम्राज्य की स्थापना के बाद भीतर की रिक्तता को दूर करने के लिए और विध्वंस, घृणा एवं धर्म द्वेष के स्थान पर निर्माण, प्रेम तथा सहयोग के प्रसार के लिए वैष्णव धर्म का प्रचार हुआ और आंतरिकता (हार्दिकता) वैष्णव संस्कृति का प्रमुख अंग बनी। वैष्णव कवियों और कलाकारों ने आत्म-परिष्कार का लक्ष्य सामने रखा और सैकड़ों विनयपदों में नवजीवन-निर्माण के संकल्प, स्वप्न तथा आदर्श भरे। नरसी मेहता की वैष्णव जन की परिभाषा और तुलसी द्वारा प्रस्तुत भक्त के लक्षणों में आत्मपरिष्कार का एक दम समाज निरपेक्ष नहीं है; क्योंकि वैष्णव संस्कृति मानव-व्यक्ति और मानव-समाज के धर्म में भेद मान कर नहीं चलती। संस्कृति संस्कारी व्यक्तियों का ही क्रियमाण स्वरूप है। उसकी समष्टि में व्यष्टि का लोप नहीं होता, वरन् व्यष्टि की उपलब्धियां सामाजिक बन कर समाज के विराट् व्यक्तित्व का रूप धारण कर लेती हैं। इसी से तुलसी का धर्मरथ-रूपक एक साथ व्यक्ति और समाज का आदर्श उपस्थित करता है और उनकी राम-राज्य की सम्प्रतीति यथार्थ से पलायन न होकर यथार्थ के प्रति चुनौती बन जाती है। वैष्णव संस्कृति का उच्चतम सामाजिक आदर्श राम-राज्य की कल्पना में मूर्त्तिमान है और उसका उच्चतम वैयक्तिक आदर्श भक्त की भूमिका में। इन दोनों आदर्शों को जोड़ने वाला चरित्र राम का है जो वैष्णव जन के लोकोत्तर उपास्य होने के साथ-साथ मर्यादा-पुरुषोत्तम भी हैं। जहां लोकोत्तरता ध्येय है, वहां उन्हें भले ही लीला-पुरुष मान लिया गया हो; परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि वैष्णव संस्कृति की नैतिकता और लोकचर्या का सर्वोत्तम उदाहरण राजा राम का चरित्र ही है जिसकी असंगतियों को भी श्लाघ्य बना दिया गया है जैसा बालि-प्रसंग से प्रमाणित हो जाता है। कृष्ण-चरित्र में लीला-भाव की प्रधानता होने पर भी मानवीय संवेदनाओं की सम्पूर्ण रूप से रक्षा हुई है। कृष्ण के लोकरक्षक एवं लोकमंगल रूप पर वैष्णव कवियों का अधिक ध्यान नहीं गया, उन्होंने उनके चरित्र के इस अंग को सहज रूप में मान कर ही आगे की मधुर एवं सरस भूमियों की कल्पना की। इस नवनिर्माण में निश्चय ही हृदय-धर्म की मांग थी और विधर्मी खड्ग से टूटे हुए कोमल संस्कारों को जोड़ने की स्पष्ट चेष्टा भी। राम-राज्य की सम्प्रतीति युग-धर्म की पुकार है तो कृष्ण-भक्ति की माधुर्यमयी-वत्सलमयी हृदय-साधना भी युग के यथार्थ के प्रति भावात्मक प्रतिक्रिया ही है। दोनों ही परस्पर पूरक हैं, विरोधी नहीं। एक सत्य है, दूसरा स्वप्न है, यह कहना ठीक नहीं होगा; क्योंकि मानव मन में सत्य और स्वप्न के भिन्न-भिन्न कोश नहीं हैं और एक ही यथार्थ सम्बोधि और सम्प्रतीति के रूप में भिन्न रूप धारण कर सकता है। भक्ति के इन दो रूपों को हम विरोधी न मान कर एक ही व्यक्तित्व के दो पूरक अंग भी मान सकते हैं। कदाचित् तब हम सत्य के अधिक निकट होंगे और अन्तर्विरोधों से दष्टि हटा कर यग धर्म के वास्तविक

स्वरूप को समझ सकेंगे।

तंत्रवाद को विफल करने की प्रक्रिया के साथ-साथ इस्लामी धर्म और संस्कृति के विरोध में भी हिन्दू समाज को मोर्चा खड़ा करना पड़ा। इस मोर्चे के दो रूप थे विरोध और समन्वय। दोनों रूपों में सक्रियता अपेक्षित थी और हम मध्ययुगीन भारतीय संस्कृति मे अस्वीकार और स्वीकार दोनों की पर्याप्त मात्रा देखते हैं। दोनों ही मिलजुल कर वैष्णव संस्कृति का स्वरूप-निर्माण करते हैं। वास्तव में वैष्णव संस्कृति को मध्ययुगीन इस्लामी संस्कृति के समकक्ष रखने पर ही हम उसकी लोकप्रियता और शक्ति का अनुभव कर सकते हैं। वैष्णव संस्कृति के दर्शन-पक्ष का भले ही स्वतन्त्र अस्तित्व हो (यद्यपि आठवीं से चौदहवीं शताब्दी तक इस्लामी दर्शन में वे सभी प्रश्न उठ चुके थे जो रामानुज से वल्लभ तक उठे), उसके धार्मिक और सामाजिक दृष्टिकोण पर इस्लाम का गहरा प्रभाव था। समर्पण की भावना और सामाजिक उदारता का मध्ययुगीन स्वरूप इस्लामी प्रभाव के बिना सम्भव ही नहीं था। वास्तव में इस्लाम ने उसी प्रकार भारतवर्ष में सुधारवाद (रिफ़ारमेशन) को जन्म दिया जिस प्रकार चौदहवीं शताब्दी में यूरोप में। यह दूसरी बात है कि भारतीय सुधारवाद पुनर्जागरण (रिनेसां) के उस रूप को जन्म नहीं दे सका जो अपने भीतर बौद्धिक उत्कर्ष के अनेकानेक पर्याय लेकर चलता। उसने कला, साहित्य और संगीत के क्षेत्रों में उत्कर्षमयी कृतियां दीं और सहस्रों-सहस्रों प्राणियों को नए जीवनादर्श तथा नए शिष्ट संस्कार से प्रभावित किया। भक्तमालों और वार्त्ता-ग्रंथों में हमें उस युग के ऐसे संस्कारी व्यक्तित्वों की झांकियां मिलती हैं जो जाति वर्ण द्वेषत और निम्न चारित्रिक भूमियों से ऊपर उठ कर औदार्य, सहिष्णुता तथा उच्चतम नैतिक और मानसिक भूमियों को उपलब्ध कर सके थे। यह वह केन्द्रीय वर्ग था जिसने मंदिरों-मठों-पीठों को आधार बना कर समस्त देश में साहित्य-संगीत-साधना की त्रिवेणी बहाई थी और परम्परा को नए अर्थ दिए थे। यह सत्य है कि समाज के नागर वर्ग में राजदरबारों को केन्द्र बना कर इस्लामी और भारतीय नागरिक आदर्शों का भी एक समन्वय इस युग में चल रहा था जिसने कालांतर में एक विशिष्ट सांस्कृतिक चेतना को जन्म दिया; परन्तु वह सांस्कृतिक चेतना न तो वैष्णव संस्कृति की भांति सार्वभौमिक बन सकी, न उसमें परम्परा के श्रेष्ठतम और सूक्ष्मतम मूल्य ही जुड़ सके। उसकी दृष्टि अधिकतः भौतिक ही रही और राधा-कृष्ण के अध्यात्मिक प्रतीकों को अपना कर भी वह साहित्य और कला के क्षेत्रों में कोई अभूतपूर्व सृष्टि नहीं कर सकी। सच तो यह है कि वैष्णव संस्कृति के उपादानों, संदर्भों, देवकथाओं तथा प्रतीकों को ग्रहण करके ही यह समन्वयात्मक नागर संस्कृति (मुगल संस्कृति) जनजीवन से यत्किंचित् सम्बन्ध जोड़ सकी। ध्रूपद-संगीत-शैली, राजस्थानी चित्रकला और नवीन वास्तु-शिल्प में ऐसा पर्याप्त है जो भारतीय कला-परम्परा का विकास है और जिसमें नए वैष्णव भक्ति-आन्दोलन की प्रेरणा स्पष्ट रूप से दिखलाई देती है; परन्तु यह निश्चित है

कि नागर और लोक संस्कृतियों के बीच की खाई मध्ययुग की सर्जनात्मक प्रवृत्तियों के द्वारा भी पट नहीं सकी और दोनों के आदर्श समानान्तर चलते हुए भी एक केन्द्र पर नहीं मिल पाए। उन्हें हम परस्पर पूरक मान कर भी एक ही स्तर पर नहीं रख सकते। वस्तुतः मध्ययुग में उन्हें पूरक नहीं, विरोधी ही समझा गया था। वैष्णव संस्कृति इस्लामी संस्कृति के विरोध में ही संगठित हुई और यद्यपि वह विशेष कारणों से शिष्ट अथवा सम्भ्रान्त संस्कृति को जन्म नहीं दे सकी, उसमें सार्वभौमिक और महार्घ मानव-मूल्यों का सुन्दरतम आकलन था और उसमें शताब्दियों का रिक्थ सुरक्षित था। साहित्य, संगीत और चित्रकला को राम-सीता के पौराणिक और आदर्शात्मक प्रतीक देकर वैष्णव संस्कृति ने नागर संस्कृति को भी अंशतः प्रभावित किया, कम-से-कम जहाँ तक उसका हिन्दूजन से सम्बन्ध था। इस्लामी संस्कृति के समानता और बन्धुत्व के आदर्श और सूफी साधना के मादन को कुछ दूर तक अंगीकार कर वैष्णव संस्कृत नए युग-धर्म का निर्माण कर सकी। भाव और इस्लामी चर्या तथा साधना की चुनौती को उसी भूमिका पर उत्तर दे सकी। यही नहीं, वह अनेक मुसलमान जनों के लिए भी इतनी आकर्षक बन सकी कि उन्होंने अपनी साहित्यिक अथवा कलात्मक अभिव्यक्ति के लिए उसे ही स्वीकार कर लिया। यह वैष्णव संस्कृति की इस्लाम पर विजय कही जा सकती है। वैष्णव संस्कृति के स्वरूप को यथोचित रूप से समझने के लिए यह आवश्यक है कि हम तान्त्रिक संस्कृति के प्रति उसके विरोध को उभारने के साथ-साथ आक्रामक इस्लामी संस्कृति के प्रवेश के द्वारा उत्पन्न नए परिवेश की ओर भी ध्यान दें और वैष्णव संस्कृति को इस्लाम की चुनौती के रूप में भी देखें। इस्लामी प्रभाव से बचने के लिए हिन्दू धर्म ने बहिष्कार के अस्त्र को अपनाया और एकाकीपन तथा संकीर्णता के रूप में अपने चारों ओर कूर्म-कवच का निर्माण किया। परन्तु यह बहिष्कारात्मक प्रतिक्रिया केवल उच्च ब्राह्मण वर्ग तक ही सफल हो सकती थी, अन्य वर्गों के लिए उसकी उपादेयता नहीं थी; क्योंकि इस्लामी सम्पर्क के बिना अन्य वर्गों की दैनंदिन आवश्यकताओं की पूर्ति भी नहीं हो सकती थी। फल यह हुआ कि ब्राह्मणों में से एक वर्ग नए समन्वय की ओर बढ़ा और उसने इस्लाम की चुनौती के रूप में परम्परा की खान से राम-कृष्ण की पौराणिक कथाओं तथा वर्णव्यवस्था के विरोध में अद्वैतवादी वेदान्त-दर्शन को निकाला। राघवानन्द और उनके शिष्य रामानन्द इस वर्ग के नेता बने। रामानन्द ने वैरागियों की परम्परा स्थापित कर देश में नई कर्मशक्ति प्रवाहित की और हनुमद्भक्ति तथा राजा राम की दुहाई देकर नए रक्षा-कवच का निर्माण किया। मध्ययुग के अनेक रामरक्षास्तोत्र मध्ययुगीन भारतीय मन को तान्त्रिक युग की आतंकवादी भूमिका से ऊपर उठा कर आस्था और आत्मविश्वास का कवच देते हैं। इसी परम्परा में हमें तुलसी का रामचरितमानस (१५७५) प्राप्त होता है जिसमें नई हिन्दू आस्था जीवन्त शक्ति के रूप में प्रगट हुई है। रामानन्द से तुलसीदास तक वैष्णव धर्म और संस्कृति के स्वरूप निर्माण का कार्य द्रुत गति

से चलता है और तुलसी की रचनाओं में हमें उसमें समग्रता मिलती है। परन्तु वैष्णव संस्कृति सांस्कृतिक आन्दोलन का दूसरा पक्ष आत्मरक्षात्मक न होकर प्रसारात्मक और समन्वयात्मक था और उसके उन्नायक समाज के हीन वर्णों से सम्बन्धित थे। यह वर्ग प्रतिकारात्मक नहीं था और कदाचित् इस्लामी धर्मसाधना, विशेषतः सूफी साधना, से बड़ी दूर तक साम्य स्थापित करने में सफल हुआ। कबीर, नानक और दादू इस वर्ग के प्रमुख नेता थे और इन लोक-नायकों की परम्परा समस्त मध्ययुग में बराबर चलती रही। इस वर्ग ने शास्त्र (कागद-लेखी) और परम्परा की ओर न देख कर आत्मिक अनुभूति और व्यावहारिक जीवन (आंखों देखी) से सहारा लिया। उसके समाधान परम्परानिष्ठ नहीं थे; परन्तु जीवन्त व्यक्तित्वों की साधना का बल उन्हें प्राप्त था। हिन्दी साहित्य के अध्येताओं ने निर्गुणवाद और सगुणवाद को विभिन्न और विरोधी आध्यात्मिक भूमियां मान कर वैष्णव संस्कृति के ऐतिहासिक, क्रमिक एवं सामासिक रूप की अवहेलना की है। वस्तुतः ये दोनों वैष्णव संस्कृति के पूरक अंग हैं और इनमें हिन्दू समाज के विभिन्न वर्गों की दो कोटियों की प्रतिक्रिया मात्र परिलक्षित है। दोनों मिलकर ही मध्ययुगीन वैष्णव संस्कृति के स्वरूप का निर्माण करते हैं।

वैष्णव संस्कृति की इन दोनों भूमिकाओं में से हम किसी को भी अधिक महत्व नहीं दे सकते, न किसी को अन्य से अधिक लोकप्रिय कह सकते हैं। मराठी वारकरी साहित्य में ये दो भूमिकाएं भक्त साधकों में साथ साथ या पूर्व-पर चलती हैं परन्तु वे विरोधी न होकर पूरक हैं। उनमें अधिकारी-भेद है जो साधक की मनोभूमि पर आधारित है। उत्तर भारत में मन्दिर-प्रवेश तथा सामाजिक आचार-विचार की सुविधा के अनुसार सगुणियों-निर्गुणियों के अलग-अलग अखाड़े खड़े हो गए और सार्वभौमिक भक्ति-भाव साम्प्रदायिक चर्या का रूप ग्रहण करने लगा। परन्तु मध्ययुगीन वैष्णव संस्कृति के पुरस्कर्ता महागुरु रामानन्द के व्यक्तित्व और दृष्टिकोण में दोनों जीवन-पद्धतियों का समाहार था और परवर्ती युगों में भी यह विरोध खण्डन-मण्डन तथा सम्प्रदाय-भेद से आगे नहीं बढ़ सका। सामान्य भक्ति-धर्म की धारा इन विभेदों का सरलतापूर्वक अतिक्रमण कर सकी। यह स्पष्ट है कि आध्यात्मिक लक्ष्यों और आचारगत भेदों के बावजूद मध्ययुगीन वैष्णव संस्कृति अविभक्त और समग्र इकाई है।

इस्लामी समाज के मूलाधार हैं सार्वभौम बंधुत्व और समानता। हिन्दू समाज का वर्णवाद इन तत्वों का विरोधी था। फलतः इस्लामी समाज-संगठन के प्रति हिन्दुओं का ध्यान आकर्षित होना अनिवार्य था और कालान्तर में वे अज्ञात रूप से ही इन विचारों से प्रभावित हुए। रामानन्द का महावाक्य "जाति-पांति पूछै नहिं कोई। हरि को भजै सो हरि को होई॥" निस्संदेह अत्यन्त क्रांतिकारी उद्घोष था जिसने कम-से-कम धार्मिक साधना के क्षेत्र में वर्णवाद को अस्वीकार कर दिया। मध्ययुग में यह अस्वीकृति कितने साहस की वस्तु थी, आज यह कहना कठिन है।

इसमें संदेह नहीं कि इस्लामी विचारधारा के प्रथम संस्पर्श ने भारतीय विचारधारा को एक नया भाष्य दिया। नये अनुभव के आलोक में पुरातन मूल्य जड़ और निरर्थक जान पड़े और अनेक संवेदनशील, क्रांतदर्शी व्यक्तित्व आत्मचेतना प्राप्त कर परम्परा के प्रति खड़्गहस्त हो उठे। कबीर के व्यक्तित्व और साहित्य में इस क्रांतदर्शिता का उद्घाटन बड़ी सफलता से होता है। सच तो यह है कि संतों और भक्तों की वाणी हिन्दू समाज के निम्न वर्गों में उत्पन्न सामाजिक उत्क्रान्ति की अभिव्यक्ति मात्र थी। जातिवाद, ब्राह्मणवाद और कर्मकाण्ड के विरुद्ध वैष्णव धर्म का अभियान कबीर के "बीजक" में सबसे सुन्दर रूप से प्रगट हुआ है। उसकी चुनौती में कबीर का ही नहीं, सारे समाज का स्वर है। सर्वात्मवाद का जो रूप कबीर के साहित्य में मिलता है उसमें "तौहीद" सम्बन्धी इस्लामी विचार की भी छाप है। कबीर की "सत्पुरुष" की कल्पना इस्लामी धारणा से स्पष्टतः प्रभावित है। सर्वात्मवाद के द्वारा वैष्णव संतों ने हिन्दू समाज के नैतिक और सामाजिक स्तर को बहुत ऊंचा उठाने की चेष्टा की। जीवन के प्रति वैष्णव भक्त का नैतिक दृष्टिकोण उसके ऐकेश्वरवाद से ही निःसृत था। आत्मवादी के लिये कर्मकाण्ड, योग, आसन आदि व्यर्थाडम्बर मात्र हैं। उसका लक्ष्य आंतरिक जीवन है जिसे आस्था के द्वारा पुष्ट और परिष्कृत करना है। वैष्णव सुधारकों ने मूल को पकड़ा और आध्यात्मिक एकता की भूमिका पर वर्ण-व्यवस्था पर कुठाराघात किया। इसमें सदेह नहीं कि बौद्ध और जैन विचारधाराओं में वर्णवाद, ब्राह्मणवाद और कर्मकाण्ड का तीव्र विरोध था और तत्सम्बन्धी हिंदी साहित्य की परम्परा सरहपा (७६० ई०) तक जाती है; परन्तु परवर्ती युगों में इस विरोध ने व्यक्तिगत खण्डन-मण्डन का रूप धारण कर लिया था, संगठित आन्दोलन का रूप उसे नहीं मिला था। यह भी स्पष्ट है कि उसमें विरोध को मौन करने की सामर्थ्य तो थी, हड़कम्की आक्रोश नहीं था मध्ययुगीन सुधारवाद हिन्दू समाज-संगठन को मूलतः बदल नहीं सका; परन्तु उसमें उदारता और सहनशीलता का प्रवेश हुआ। इसके लिये आंशिक रूप से वह अवश्य इस्लाम का ऋणी है। वैष्णव भक्तिवाद में सामाजिक क्रान्ति की मांग प्रतिध्वनित है और उसके दैन्य में परिवेश से मोर्चा लेने की कटिबद्धता पर्याप्त मात्रा में मिलती है। इसीलिये वैष्णव धर्म की राम-राज्य की सम्प्रतीति राजनीतिक से अधिक सामाजिक और नैतिक है। निःसंदेह भक्तिवाद की परम्परा देशज है; परन्तु मध्ययुग में वह व्यक्तिगत साधना से कुछ अधिक व्यापक और सामाजिक दृष्टि से भी महत्वपूर्ण है। मध्ययुग के इतिहासकारों ने उसमें इस्लामी संघात की क्रिया-प्रतिक्रिया को सूक्ष्म रूप से देखा है।

अलवार वैष्णवों की रचनाओं और उनसे पहले भी बौद्ध साधकों के गीतों में भक्ति-भाव की आकुलता मिलती है और उनके द्वारा हम मध्ययुगीन भक्तिवाद को तांत्रिक युग (६०० ई०—१२०० ई०) के भीतर प्रतिष्ठित पाते हैं; परन्तु यह चेतना या तो दक्षिण तक सीमित है, या सम्पूर्ण रूप से व्यक्तिगत है। उत्तर भारत का मध्ययुगीन वैष्णव भक्तिवाद वैधी भक्ति के विरोध में तन्मयासक्तिप्रधान

रागानुगा-भक्ति को मूलाधार मान कर चलता है; परन्तु उसमें श्रेष्ठतम नैतिक गुणों और सामाजिक मूल्यों का भी आकलन है। यही मूल्य उसे समसामयिक परिवेश से सम्बन्धित करते हैं और इस्लामी समाज-दर्शन तथा जीवनादर्श की प्रतिक्रिया के रूप में देखे जा सकते हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि इस्लामी धर्म-साधना और समाज-चेतना ने उत्तर भारत के धर्मचिन्तन, चर्या तथा आचार-विचार के क्षेत्रों में जिन नये तत्वों का बीजारोपण किया, वे ही कालान्तर में वैष्णव धर्म की उस विशिष्ट परम्परा के रूप में पल्लवित हुए जो रामानन्द, कबीर, नानक से तुलसीदास, दादू, चैतन्य तक अनेक शाखाओं-प्रशाखाओं में विकसित होती है। उसका पोषण देश की मिट्टी से ही होता है क्योंकि उसकी जड़ें भागवत धर्म, महायान तथा अलवार भक्ति-परम्परा में गहरी गई हैं; परन्तु इस्लामी ऐकेश्वरवाद, आत्मसमर्पण भाव और सामाजिक संगठन उसे युगधर्म के रूप में उपयुक्त पोषक तत्व प्रदान करते हैं। इसी योजना के कारण मध्ययुगीन भक्ति-कल्पद्रुम के पुष्पों की वर्णच्छटा तथा सुगंध एकदम अप्रत्याशित और नवीन है। उसके नीचे अभिनव सांस्कृतिक समारम्भ का प्रवर्त्तन होता है जो सम्पूर्ण रूप से विशिष्ट और आत्मनिर्भर है। विभिन्न सामाजिक स्तरों तथा अनेकानेक सम्प्रदायों और परम्पराओं से संवेदनशील एवं प्रतिभाशाली व्यक्तित्वों को अपनी ओर आकर्षित कर वैष्णव संस्कृति एक ऐसे केन्द्रीय शिष्ट वर्ग को जन्म दे सकी जो परम्परा के भारवहन में ही समर्थ नहीं था, वरन् जिसमें नवीन सांस्कृतिक दिशाओं के विकास के लिये नवनवोन्मेषिनी प्रतिभा थी। १७वीं-१८ वीं शताब्दियों के हिन्दू पुनरुत्थान को हम वैष्णव धर्म और वैष्णव संस्कृति की पृष्ठभूमि देकर ही महार्घ बना सकते हैं, अन्यथा नहीं। इस भूमिका पर वैष्णव संस्कृति का महत्व ऐतिहासिक और राष्ट्रीय मत्य धारण कर लेता है।

●

: ४ :

मध्ययुगीन मानस

मध्य युग में भारतीय मन परिवार, समाज, नीति परम्परा और प्रथित धर्म के सारे बंधनों को तोड़कर उनका अतिक्रमण करने तथा अकेला खड़े रहने की चेष्टा करता है। भारतीय समाज के तीन प्रमुख बंधन रहे हैं : वर्ण (जाति), परिवार और ग्राम पंचायत। नवागन्तुकों को इन बंधनों को स्वीकार करना पड़ता था और तभी वह भारतीय लोक में दीक्षित हो सकते थे। इन तीनों में अधिकार की अपेक्षा कर्त्तव्य की भावना का प्राधान्य था। इन्हीं के द्वारा नैतिक और सामाजिक जीवन की तुष्टि सम्भव थी। वस्तुतः भारतीय एकता का मूलाधार ही यह कर्त्तव्य की धारणा है जो कर्मवाद (और फलतः नियतिवाद) से जुड़ी हुई है। धर्म और दर्शन के प्रति भारतीय भावना उदार, सहिष्णु और सारसंग्रही रही है। भारतीय समाज व्यवस्थित समाज था और एक बार सामाजिक व्यवस्था में अपना स्थान निश्चित कर लेने पर धर्म और चिन्ता के क्षेत्र में व्यक्ति को खुला छोड़ा जा सकता था। हिन्दू, मुसलमान, बौद्ध और जैन एक ही सूत्रों से बंधे हुए थे। एक प्रकार से भारतीय मेधा व्यवस्थावादी, स्थिरतावादी तथा कर्त्तव्यवादी थी। इसका सबसे प्रौढ़ स्वरूप ब्राह्मण धर्म में देखा जा सकता है जिसमें वेद, शास्त्र, ब्राह्मण, पौरोहित्य तथा वर्ण-व्यवस्था (स्मृति) का कड़ा अनुशासन था।

परन्तु आरम्भ से ही इस ब्राह्मणधर्मी व्यवस्था के प्रति विद्रोह भी चल रहे थे जो बौद्ध, जैन, आजीवक आदि सम्प्रदायों के रूप में पल्लवित हुए। स्वयं ब्राह्मण धर्म के भीतर पांचरात्र जैसे विरोधी सम्प्रदाय थे। उपनिषदों को आत्मवाद (ब्रह्मवाद) भी यज्ञवाद का विरोधी बन कर सामने आता है और समस्त भूतों में व्याप्त एक ही चिन्मय शक्ति के आधार पर मानवैक्य की नई कल्पना जाग्रत करता है। विचार की भूमि पर वह चाहे क्रांतिकारी नहीं हो; परन्तु साधना तथा व्यवहार की भूमि पर इस बात से इंकार नहीं किया जा सकता कि वह वर्ण-व्यवस्था, पुरोहित तथा प्रथित धर्म का अतिक्रमण करता है। इस प्रकार व्यवस्थित भारतीय समाज के भीतर से उसके बंधनों को शिथिल करने का प्रयत्न हुआ और मध्ययुग में इस चेष्टा ने बड़ा व्यापक रूप धारण कर लिया।

मध्य युग की यह क्रांति तंत्र, योग तथा भक्ति की भूमि पर पल्लवित हुई और इसने सम्पूर्ण व्यवस्था के अस्वीकार को ही अपना धर्म मान लिया। वैष्णव,

शैव, बौद्ध तथा जैन सभी सम्प्रदायों ने इस क्रांति को अंशतः या सम्पूर्णतः स्वीकार किया। सभी ब्राह्मणों के याज्ञिक धर्म (स्मार्त्त धर्म) के विरोधी थे और पुरोहित, धर्मव्यवस्था तथा शास्त्र से मुख मोड़ कर चरम सत्ता से अपना निजी, स्वतंत्र तथा भावनात्मक सम्बंध जोड़ना चाहते थे। उन्होंने सभी प्रकार के संकीर्ण विभेदों का विरोध किया और मनुष्य मात्र को देवोपम मान कर आभ्यंतर जीवन की नये सिरे से प्रतिष्ठा की। स्त्रियों और शूद्रों को भी धर्म-साधना में महत्वपूर्ण स्थान मिला। इसमें संदेह नहीं कि यह क्रांति पिछली किसी भी धार्मिक क्राँति से कम नहीं थी और इसमें युग का ध्यान देवता से हटा कर मनुष्य पर केन्द्रित कर दिया। वह भी खण्डित मनुष्य नहीं, अखण्डित, समग्र मानव। फलतः प्रवृत्ति में ही निवृत्ति की खोज हुई और मुक्ति तथा भुक्ति का अन्तर नष्ट हुआ। यह विद्रोह सार्वभौम था और उसने देशकालिक व्यवधान को नष्ट कर एकमात्र "चित्त" की उन्मुक्ति को महत्व दिया था।

प्राचीन भारत में ब्राह्मण और क्षत्रिय वर्ग ही शिष्ट (एलीट) रहे हैं। उनमें स्पष्ट रूप से द्वन्द्व दिखलाई पड़ता है जो ब्रह्म-क्षत्र-संघर्ष के रूप में प्रसिद्ध है। ब्राह्मणों के याग-धर्म (क्रियाकाण्ड) के विरुद्ध क्षत्रिय वर्ग ने "ब्रह्मवाद" (आत्म-वाद) को जन्म दिया, जैसे अश्वपति कैकेय, पांचालराज तथा जनक विदेह से सम्बन्धित उपनिषदों के वृत्तांतों से जान पड़ता है। जैन तथा बौद्ध धर्मान्दोलन भी इसी संघर्ष की सूचना देते हैं; क्योकि इन आन्दोलनों के प्रवर्त्तक राजन्य वर्ग के महापुरुष महावीर और बुद्ध थे। भागवत धर्म के पूर्व-पुरुष कृष्ण के सम्बन्ध में भी यही कहा जा सकता है। इस प्रकार मध्ययुग से बहुत पहले वर्ण-व्यवस्था, ब्राह्मण, पुरोहित, क्रियाकाण्ड और शास्त्र के प्रति विरोध विकसित हो चुका था और वेदांत (ब्रह्मवाद), महायान-भक्ति तथा अद्वैतवाद के रूप में उसका दार्शनिक स्वरूप भी स्पष्ट हो गया था। मध्ययुग में इन्हीं विरोधों के भीतर से अद्वैतवाद (शंकर), भक्ति (रामानुज—रामानंद), तन्त्र (वज्रयान, सहजयान, मन्त्रयान, कालचक्रयान तथा वैष्णव-शैव तांत्रिक सम्प्रदाय), योग (हठयोग, कुण्डलिनी योग आदि) और सूफी साधनाएं पल्लवित हुईं। कालांतर में इन स्वतन्त्र साधनाओं ने ब्राह्मण धर्म और उसके संगठन के बाहर अनेक सम्प्रदायों को जन्म दिया। इन सम्प्रदायों के कारण विदेशी जातियों को (जो वर्ण-व्यवस्था और पुरोहितवाद की कायल नहीं थीं।) भारतीय लोक-व्यवस्था में सम्मिलित होना सम्भव हो गया। फलस्वरूप, सेंकड़ों की संख्या में सम्प्रदायों का जन्म हुआ। यह कहा जा सकता है कि इस्लाम-पूर्व भारतवर्ष में सम्प्रदायों में ही संगठित था। उस समय समाज की कल्पना हिन्दू-अहिन्दू समाज के रूप में नहीं थी। इस्लाम के प्रवेश के साथ यह समाज हिन्दू नाम से एक विशाल समाज के रूप में संगठित हो गया और "भक्ति" के चोले में अनेक वेद-ब्राह्मण-शास्त्र विरोधी सम्प्रदाय भी उसमें प्रवेश पा गये। कुछ सम्प्रदाय -नहिन्दू न-मुसलमान" बन कर दोनों धर्मों की सीमा-रेखाओं में ही आबद्ध रहे,

जैसे गोरखनाथ का नाथ-पंथ जिसमें पूर्ववर्त्ती १२ शैव योगी-सम्प्रदाय अंतर्भुक्त थे; परन्तु कालांतर में इन्हें भी हिन्दुओं अथवा मुसलमानों में से किसी एक को चुन लेना पड़ा। इसका फल यह हुआ कि ऊपर से स्थिर हिन्दू समाज के भीतर ही उसका विरोध भी आत्मसात हुआ। इस विरोध ने उसे उदार, सहिष्णु तथा क्रांतदर्शी बनाया। फलस्वरूप, १२वीं शताब्दी के बाद का हिन्दू समाज उसके पहले के वर्ण-व्यवस्था प्रधान आर्य-समाज भिन्न है। ये विरोधी समाज मुख्यतः ब्राह्मणेतर वर्गों में दीक्षित होते हैं। इस व्यवस्था के फलस्रूप इस युग का हिन्दू समाज दो समानान्तर स्तरों में बंट जाता है : (१) पहला स्तर उच्चवर्गीय हिन्दुओं (प्रमुखतः ब्राह्मण वर्ग) का है जिनमें स्मार्त्त धर्मावलंबी, सनातनी, वेद-ब्राह्मण-शास्त्र प्रिय दृष्टिकोण की प्रधानता थी। इस वर्ग ने इस्लाम को प्रतिरोध में संकोची बहिष्कार भावना को जन्म दिया और नवीन स्मृतियों द्वारा हिन्दू वर्ण-व्यवस्था तथा कर्मकाण्ड को नई दीप्ति दी। (२) दूसरा स्तर वैश्यों तथा शूद्रों का है। इसी स्तर में वैष्णव, शैव, जैन आदि धर्म प्रिय हुए। युग का विद्रोह इसी श्रेणी के साहित्य में मिलता है। इन दोनों वर्गों की क्रिया-प्रतिक्रिया से पहले वर्ग में उदार ब्राह्मण वर्ग का भी विकास हुआ जो "भक्ति" को मान्य मान कर चला। रामानंद से तुलसीदास तक इसी उदाराश्रयी. वैष्णवधर्मी ब्राह्मण वर्ग की मान्यता पल्लवित होती है। आरम्भ में इस भक्त समुदाय को अपने वर्ग के भीतर ही विरोध का सामना करना पड़ा; परन्तु धीरे-धीरे याज्ञिक और स्मृतिधर्माश्रयी ब्राह्मणों ने इनसे समझौता कर लिया। यह पण्डित वर्ग ज्ञान को प्रधान मानता था, भक्ति को गौण। उसने कर्मकाण्ड को भी अपनी विचारधारा से एकदम बहिष्कृत नहीं किया था। वेद,ब्राह्मण, उपनिषद, पुराण और शास्त्र (स्मृतिग्रंथ) इस शिष्ट वर्ग (एलीट) के उपजीव्य थे। ज्योतिष-शास्त्र, आयुर्वेद और दर्शन-शास्त्र में भी इसकी अबाध गति थी। फलतः इस्लामपूर्व युग में यही राजशक्ति का केन्द्र था। इस्लाम के प्रवेश के बाद स्थिति बदली और यह वर्ग राजाश्रय से च्युत होकर तीर्थों, सांस्कृतिक केन्द्रों तथा ग्रामों में केन्द्रित हो गया। तीर्थों और सांस्कृतिक केन्द्रों में उसने अपनी पाण्डित्य-परम्परा जीवित रखी। इस्लामी अत्याचार से त्रस्त होकर ग्रामों में शरण प्राप्त करने वाला यह ब्राह्मण वर्ग पुराणपाठी बन गया। फल यह हुआ कि स्वयं ब्राह्मण वर्ग के भीतर उदार और अनुदार दो वर्ग हो गये; परन्तु अंततोगत्वा इससे समाज में उदारता एवं सहिष्णुता की ही सृष्टि हुई। हिन्दू समाज से बाहर मुसलमान समाज में भी सूफी संतों के कारण दो वर्ग दिखलाई पड़े जिनमें एक उदार था और दूसरा कट्टरपंथी। हिन्दुओं और मुसलमानों के ये उदार तथा सहिष्णु वर्ग कई भूमियों पर मिलते थे और इन्हीं के द्वारा असहिष्णुता और कट्टरता के उस युग में सौहार्द तथा सामंजस्य की स्थापना हुई। इन सभी वर्गों का प्रतिनिधित्व मध्ययुग के हिन्दी साहित्य में मिलता है। हिन्दुओं का वह साहित्य

जो उच्चवर्गीय पाण्डित्य-चेतना का प्रतीक था, स्मृति-ग्रंथों, दर्शन-ग्रंथों तथा भाष्यों-टीकाओं के रूप में संस्कृत में रचा गया। १५वीं शताब्दी में काशी और मिथिला संस्कृत पाण्डित्य के दो बड़े केन्द्र थे और १६वीं शताब्दी के आरम्भ तक दोनों महत्वपूर्ण बने रहे। १६वीं—१७वीं शताब्दियों में वेदांत, न्याय, सांख्य, वैशेषिक आदि दार्शनिक मतों के सम्बन्ध में अनेकानेक ग्रंथों का निर्माण इन केन्द्रों में हुआ। हिन्दू धर्म, दर्शन और आचार-विचार को इन्हीं केन्द्रों से व्यवस्था प्राप्त हुई। इस वर्ग के साहित्य ने हिन्दी के भक्ति और शृंगार साहित्य को बहुत दूर तक प्रभावित किया है। हिन्दी का रीति साहित्य इन्हीं शास्त्रगर्वी पण्डितों-आचार्यों का साहित्य है; परन्तु भक्ति-साहित्य के क्षेत्र में इस वर्ग का सक्रिय योग है। सम्भवतः आरम्भ से ग्रामों में शरण प्राप्त करने वाले पुराणवाची ब्राह्मणों ने पुराणों की लोकप्रियता देख कर ब्रजभाषा तथा अवधी में पौराणिक साहित्य का अनुवाद आरम्भ किया। पन्द्रहवीं शताब्दी में विष्णुदास और मेघनाथ प्रभृति ग्वालियेरी कवियों में यह परम्परा मिलती है। सच तो यह है कि भक्तियुग के भीतरी पौराणिक धारा भी चलती रही है जिसे पुराणवाचकों, पण्डितों तथा राजकवियों का सहयोग प्राप्त है। बाद में यह धारा भक्तिधारा के साथ समन्वय प्राप्त कर लोकप्रियता पाने में समर्थ होती है। तुलसी में हिन्दी पुराण-परम्परा के साथ भक्तिधारा का ऐसा सामंजस्य बैठा है कि उनकी रचना "रामचरित मानस" विशिष्ट कोटि की रचना बन गई है। वास्तव में प्राचीन हिन्दी साहित्य की यह पौराणिक काव्यधारा जैन अपभ्रंश-काव्य की पौराणिक धारा (१०००-१५०० ई०) की उत्तराधिकारिणी है और इसने अपने काव्यरूप, छन्द, प्रतिमान तथा नैतिक दृष्टिकोण वहीं से प्राप्त किये हैं। यह अवश्य है कि इस धारा में जैन पौराणिक (अपभ्रंश) काव्य जैसा उत्कर्ष नहीं है। इसका कारण यह है कि जैन काव्य के प्रणेता जैन-मुनि थे जिनके पास शास्त्र-चिन्ता की स्वतंत्र परम्परा थी और उन्होंने संस्कृत-प्राकृत तथा अपभ्रंश की रचनाओं में संस्कृत पुराण और काव्य की उद्धरिणी करनी चाही थी। हिन्दी पौराणिकों के पास ऐसा कोई लक्ष्य नहीं था। मध्यदेश के संस्कृत और हिन्दी पुराणों (या अनुवादों) के बीच में कई शताब्दियों का कालांतर है, जैन संस्कृत और अपभ्रंश पुराण-काव्य एक ही परम्परा की लगभग समकालीन कृतियां हैं। यह अवश्य है कि दोनों का सम्बन्ध विशिष्ट पुनरुत्थानों से है; परन्तु विशेष कारणों से हिन्दी प्रदेश में पौराणिक काव्य कन्नड़, तेलगू और तमिल पौराणिक साहित्य की भांति महाकाव्यात्मक उत्कर्ष को प्राप्त नहीं हो सका। पौराणिक भाषा-साहित्य का सबसे सुन्दर स्वरूप तुलगु-साहित्य में मिलता है और वहां पुराणों पर आधृत कथाओं को विषय बना कर अनेक श्रेष्ठ महाकाव्यों की रचना इस युग में हुई है। हिन्दी प्रदेश में १२०० ई० के लगभग पाण्डित्य-परम्परा छिन्न-भिन्न हो गई। राजाश्रय एवं अभिजात कुलों के नाश तथा स्थानांतरण से साहित्य के क्षेत्र में अव्यवस्था फैल गई। फल यह हुआ कि हिन्दी के पौराणिकों को नए सिरे से शुरू करना पड़ा और

विशाल ग्रंथ-भांडारों के अभाव में (जो इस्लामी ध्वंस के शिकार हो चुके थे) साहित्यिक मेधा उत्कर्षमयी नहीं बन सकी। वह अनुवाद मात्र पर सीमित रह गई।

इस पण्डितवर्गीय पुराण-साहित्य के नीचे उतर कर उच्चवर्णीय भक्तों का साहित्य है जो पाण्डित्यधर्मी न होकर भावधर्मी है। यह साहित्य भक्ति को ज्ञान पर प्रधानता देता है। इसकी उदार भावना राधा-कृष्ण के नये प्रतीकों का सहारा लेकर सच्चे अर्थों में लोक-साहित्य का निर्माण करती है। पुराण-परम्परा और भावप्रवण प्रतीकात्मक भक्ति-साहित्य का सुन्दर समन्वय सूरदास के "सूरसागर" में देखा जा सकता है। अन्य अनेक कृष्णभक्त कवियों में भक्ति की रहस्यात्मक भावभूमि ही प्रमुख है जो कर्म-फल, जन्मांतरवाद, वेद-शास्त्र, वर्ण-व्यवस्था, पौरोहित्य तथा ब्राह्मणवादके विरुद्ध सशक्त मोर्चा है। इन सगुण भक्तों ने अपने भाव-क्षेत्र को सब प्रकार के मानसिक और सामाजिक बन्धनों से मुक्त कर लिया है; परन्तु व्यवहार की लौकिक भूमि पर वे वर्णाश्रम-व्यवस्था और शास्त्र को मानते रहे हैं। इसीलिए सूरदास और तुलसीदास वेद-पुराण की दुहाई देते हुए नहीं थकते। इस मानसिक संकोच के कारण ही उनकी रचना उच्च वर्णों की मान्यता प्राप्त कर सकी।

परन्तु भक्ति का आन्दोलन जिस समाज पर आधारित है, वह उच्चवर्णीय समाज नहीं है। नवदीक्षित विदेशी जातियों, बौद्ध सम्प्रदायों तथा हीन वर्णों ने हिन्दू धर्म की वर्ण-व्यवस्था के विरोध में ही भक्ति-धर्म को स्वीकार किया था। तन्त्रवाद, योग और भक्ति में कर्मवाद और जन्मांतरवाद का बाध था। जीवन्मृतक की धारणा साधक को इसी जन्म में निर्वाण या मोक्ष की उपलब्धि का आश्वासन देती थी। तीनों में चित्त-भूमि ही प्रधान है। अतः समस्त साधनाएं चित्त के बंध-मोचन के लिए हैं। तन्त्रवाद ने अपने उत्तर विकास में सहजयान (सहजयोग) का रूप धारण कर लिया था। निर्गुण भक्तों ने इसी सहज योग को भक्ति का पर्यायवाची बना दिया है। भक्ति के इस विशाल आन्दोलन को हम निर्गुण भक्ति और सगुण भक्ति के द्वैध रूप में (संभवतः विरोधी रूप में) देखने के आदी हो गये हैं; परन्तु तत्वतः ये दोनों आन्दोलन विरोधी न होकर पूरक हैं। दोनों में भक्ति को ही प्राथमिकता मिली है। हमने भ्रमवश निर्गुण भक्तों को "ज्ञानाश्रयी" कहा और उन्हें प्रेममार्गी सूफियों के प्रतिपक्ष में रखा। वास्तव में निर्गुण और सगुण दोनों कोटियों के भक्त ज्ञान (शास्त्रज्ञान) के विरोधी हैं। कबीर ने जहाँ ज्ञान की आंधी के बाद प्रेम-जल बरसने की बात कही है, वहां ज्ञान से अद्वैत ज्ञान का तात्पर्य है, शास्त्रज्ञान का नहीं; क्योंकि "शास्त्रज्ञान" को तो कबीर "कागदलेखी" कह कर उपेक्षणीय मानते हैं। निर्गुण भक्तों ने नाम को प्रधानता दी और सभी प्रचलित नामों को निर्गुण अर्थ में प्रयुक्त किया; परन्तु उनका निर्गुण तत्व ब्रह्म, सहज या राम ही है जो एक ही साथ अंतर्यामिन् और सर्वव्यापी है। भेद यह है कि वह अद्वैतज्ञान या साक्षात्कार का विषय है, वह प्रतीति या भावबोध का विषय है। परिपूर्ण आत्म-

समर्पण, अपरिसीम प्रेम और निस्सीम आत्मशुद्धता के द्वारा ही यह प्रतीति सम्भव है। यह प्रतीति जाति-वर्ण-शास्त्र निरपेक्ष है। यह किसी भी प्रकार का माध्यम नहीं चाहती, अतः इसमें न प्रतीक (मूर्ति) की आवश्यकता है, न ब्राह्मण-पुरोहित ही चाहिये। इस प्रकार ये साधनाएं आत्मस्थ देवता से सीधा सम्बन्ध जोड़ती हैं। तन्त्र में गुरु का बड़ा महत्व है और उसी ने आचार्य तथा पुरोहित का स्थान ले लिया है। गुरु की यह मान्यता योग को भी प्राप्त हुई जिसमें गुह्य साधना को महत्व प्राप्त है। भक्ति-साधना में भी गुरु को महत्वपूर्ण स्थान मिला है परन्तु गुरु निर्देशक मात्र है। भक्त की साधना वैयक्तिक, अंतरंगी तथा अनुभूतिमूलक है। इस प्रकार निर्गुण भक्ति में हमें उस युग का केन्द्रीय विश्वास मिलता है जो मन की सर्वोन्मुक्ति को महत्ता देता है और उसे सर्वोपरि, चिन्मय तथा चिदानंदी मान कर मनुष्य के ऐहिक जीवन और उसकी साधना को अंतिम सत्य बना देता है। निर्गुण मतवाद में इष्टदेव के निर्गुणत्व पर जितना बल है, उससे कम उसके माधुर्य पर नहीं। भगवान् की अनुकम्पा ही भक्त का सबसे बड़ा आश्रय है। अतः निर्गुण भक्ति की साधना मूल में अबाध प्रेम-साधना ही है। "नाम-साधना" इसका वह बाह्य रूप है। निर्गुणियों ने अनहद नाद अथवा "अजपा" का भी उल्लेख किया है; परन्तु इससे उस नाम-साधना के सुक्ष्म, अंतरंगी, ओत-प्रोती तथा अनन्य रूप पर ही प्रकाश पड़ता है।

सगुण भक्तो को निर्गुण भक्तों की ऐतिहासिक भूमिका प्राप्त थी। वास्तव में महाराष्ट्र में सगुण भक्ति निर्गुण भक्ति की प्रारम्भिक भूमिका है और नामदेव ने उत्तर भारत की ध्वंसमयी पृष्ठभूमि पर ही सगुण कृष्णभक्ति को छोड़ कर निर्गुण भक्ति अपनाई थी, जैसा उनकी मराठी अभंगों तथा हिन्दी पदों के तुलनात्मक अध्ययन से स्पष्ट है। दोनों भक्ति-प्रकारों में अधिकारी-भेद भी माना जा सकता है। सगुण भक्ति निर्गुण भक्ति की "नाम" की भूमिका को तो न छोड़ सकी और तुलसी ने तो "नाम" को सगुण राम से भी बड़ा मानकर भक्ति के रहस्यात्मक तत्व को विशेष महत्वपूर्ण बना दिया; परन्तु इष्टदेव की "रूप-लीला" को उसमें विशेष महत्ता मिली है। पौराणिक भक्ति इष्टदेव के लीला-गान और उसके विग्रह की "सेवा" (उपासना) तक ही सीमित थी; यद्यपि पुराणों में "नवधा" और "दशधा" भक्ति का विवरण भी था तथा नारद-शांडिल्य भक्ति-सूत्रों में इस भक्ति-भाव को रहस्यात्मक दीप्ति मिल गई थी; परन्तु मध्ययुगीन भक्ति का तन्मयासक्तिप्रधान, विह्वलतामय तरल भाव एकदम नई चीज़ था। इसीलिए मध्ययुगीन सगुण भक्ति-साहित्य इष्टदेव की रूप-चर्चा तथा लीला-गान पर समाप्त नहीं हो जाता वह इस रूप और लीला को आत्मसाधना का विषय बनाता है। भक्त के लिए इष्टदेव का पौराणिक तथा कथात्मक रूप महत्वपूर्ण नहीं है। महत्वपूर्ण है इष्टदेव के प्रति उसका व्यक्तिगत निवेदन, अतः निजी प्राण-सम्बन्ध। पौराणिक प्रसंग भक्ति-भाव को दृढ़ करने के कारण ही सार्थक हैं। आवश्यकता इस बात की है कि हम सगुण भक्तों के इस सूक्ष्म, तरल और अंतरंगी भाव को देखें, उनके स्थूल

विवरणों तथा "लीला" विस्तार पर न जाएं। कृष्णकाव्य की प्रतीकात्मकता तो स्पष्ट ही है और सूरदास ने नन्द-यशोदा, गोपियों तथा सखाओं के माध्यम से अपने हृदय की मिलन-वियोग की बात कही है। वल्लभाचार्य ने "अणुभाष्य" में कृष्ण-कथा की यह प्रतीकबद्धता विस्तारपूर्वक चर्चित की है। परन्तु राम-कथा को उस रूप में प्रतीकात्मक न मान कर भी शाश्वत, सूक्ष्म तथा लोकोत्तर माना गया है, जैसा कागभुशुण्डि-गरुड़ संवाद तथा "हरि अनन्त हरि-कथा अनन्ता" कथन से स्पष्ट है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि सगुण भक्त की भावभूमि निर्गुण भक्त से कम सूक्ष्म, तरल तथा उत्कर्षमयी नहीं है। इष्टदेव के रूप में और उसकी लीला के सहारे मध्ययुग का पूजा-भाव जड़ोन्मुख इंद्रियों को चिन्मयोन्मुख करने में सफल हुआ है और उसने लोक के बीच से ही लोकोत्तर को पकड़ने का उपक्रम किया है। निर्गुण संतों की साधना विराग की भूमि पर पल्लवित हुई है; सगुण भक्तों ने राग के परिष्कार को ध्येय बनाया है जो अधिक सूक्ष्म और कठिन भाव-साधना है। इस सत्य को मान लें तो हम सगुण भक्तों को छोटा नहीं करें। निर्गुणियों का संसार के प्रति विराग निर्गुण सत्ता के प्रति तीव्र राग की भूमिका मात्र है, उसकी स्वतंत्र स्थिति नहीं है। इसीलिए उन्होंने अपने भक्तियोग को सहयोग कहा है और हठयोग को लांछित ठहराया है। निर्गुणी संत मन की वैराग्य-वृत्ति को ही प्रमुख मानते हैं, —इसीलिए कबीर जैसे साधक गृहस्थ-जीवन बिताते हैं। उन्होंने मानवीय सम्बन्धों के भीतर ईश्वरीय प्रकाश देखना चाहा है, इसीलिए उन्होंने सामाजिक विषमता और धार्मिक विद्वेष के विरुद्ध आवाज उठाई है। यह स्पष्ट है कि निर्गुण संतों की विराग-साधना उनकी अध्यात्म-साधना का ही अंग है। वह अद्वैत साधना बन कर ही मानवीय और नैतिक बन सकी है। उसमें लोक-मंगल की साधना भी कम बलवती नहीं है। सगुण भक्तों की रूप-लीला-साधना रागात्मक है। वह समस्त प्रपंच को इष्टदेव की लीला का प्रसार मानती है और नाम-रूपात्मक जगत को उसी का स्वरूप मानकर चमत्कृत होती है। विश्व को चिद्रूप और समस्त कार्य-व्यापार को लीला-मात्र मानने का फल यह होता है कि भोक्ता भक्त का चित्त नाम-रूप के बन्धनों को तोड़ कर अनाम-अरूप (सर्वनाम सर्वरूप) विराट चैतन्य में तल्लीन हो जाता है जो सृष्टि की सारी शोभात्माधुरी तथा समस्त रसों का भाण्डार है। इन अनाम-अरूप को ही सगुण भक्त राम-कृष्ण के रूप में प्रतीकबद्ध करता है। उच्चतम भावभूमि पर पहुंच कर राम-कृष्ण के पौराणिक उपसर्ग पीछे छूट जाते हैं और अनंत सौंदर्य, अनन्त माधुर्य एवं अनन्त आनन्द से साक्षात्कार होता है। इस भूमिका से नीचे उतर कर भक्त कवि समस्त जगत में सौंदर्य, माधुर्य एवं आनन्द का प्रसार देखता है। इस प्रकार उसका राग चिन्मय और ब्रह्ममय हो जाता है, जैसा ईशावास्योपनिषद् में कहा है : ईशावास्यमिदं सर्वम् यत्किंचन जगत्यां जगत। निश्चय ही यह भावभूमि निर्गुण संतों की भावभूमि से भिन्न है; परन्तु वह कठिन होने पर भी अधिक उत्कृष्ट है; क्योंकि उसमें जड़ से पलायन नहीं है, जड़ को चिन्मय कर लिया गया है। तंत्र-साधना में जड़-चेतन

को युगनद्ध कर भुक्ति-मुक्ति की समाहित साधना की योजना थी। सूफ़ी साधना जड़ को चेतन का इंगित मान कर लौकिक में अलौकिक को भासमान करने का उपक्रम करती थी। निर्गुण साधना ने जड़ को चैतन्य की विवृत्ति मान कर उसकी ओर से आँख हटा ली परन्तु सगुण भक्ति-साधना जड़ में ही चेतन की लीला देख कर द्रवित होती थी। इस प्रकार सगुण भक्ति-साधना प्रवृत्ति में ही निवृत्ति मान कर चलती है और उसमें जड़ोन्मुख लोक-जीवन के चैतन्यीकरण की प्रबल भावना सन्निहित है। उसका दृष्टिकोण सूफ़ी दृष्टिकोण से इस अर्थ में भिन्न है कि जहां सूफी जड़ को चेतन का प्रतीक मानते हैं, वहाँ सगुण भक्त जड़ को चेतन का प्रतिरूप अर्थात् चेतन ही मानता है। निर्गुण काव्य में जड़ की अस्वीकृति है जो सगुण काव्य को मान्य नहीं है। एक प्रकार से भक्तों का दृष्टिकोण तांत्रिकों (सिद्धों) के दृष्टिकोण से भी अधिक उत्कृष्ट एवं परिष्कृत है क्योंकि जहां तंत्र जड़ और चेतन को विरोधी परन्तु संतुलित शक्तियां (युगनद्ध) मानते हैं, वहां सगुण भक्त जड़को चेतन ही मानकर जड़त्व का नाश कर देता है।

मध्ययुग का भक्ति-भाव जीव तथा ब्रह्म के विभिन्न सम्बन्धों पर आधृत है। आद्य शंकराचार्य ने जीव को ब्रह्म की विवृत्ति मान कर जीवन की स्वतन्त्र सत्ता को अमान्य ठहरा दिया। अर्थात् जीव चैतन्य है, जड़ मानना भ्रम है क्योंकि जड़ता मात्र ही भ्रम है। भ्रम का निवारण ज्ञान से हो सकता है; परन्तु यह ज्ञान शास्त्रज्ञान न होकर अद्वैतज्ञान है, अर्थात् अद्वैतात्मक अंतर्दृष्टि जो योग तथा ज्ञान-साधना का विषय है। इस भूमिका पर भक्त भगवान से भिन्न नहीं रह जाता। फलत: भक्ति की कोई आवश्यकता नही रहती; क्योंकि भक्ति तो भक्त और भगवान के बीच का सम्बन्ध भाव है। भक्ति हृदय की पिपासा है। इसीलिए भक्त हृदय के समाधान के लिए जीव तथा ब्रह्म को दो स्वतन्त्र इकाइयां मान कर उनके परिमाण-भेद (विशिष्टाद्वैत), प्रकार-भेद (द्वैत) तथा अनिर्वचनीयता भेद (द्वैताद्वैत) के आधार पर क्रमशः रामानुज, मध्व और निम्बार्क के तीन विशिष्ट भक्ति-दर्शनों को जन्म दिया। अंत में वल्लभाचार्य ने शुद्धाद्वैतवाद में जीव को ब्रह्म मान कर शांकरा-द्वैत की प्रपत्ति को सत्, चित् आनन्द गुणों के तिरोभाव-आविर्भाव के द्वारा व्याख्यापित किया। इस प्रकार अद्वैतवाद के भीतर ही भक्ति की जगह निकल आई। चेतन जीव इष्टदेव की रूप-लीला में डूब कर आनन्द की उपलब्धि करने पर परिपूर्ण ब्रह्म बन जाता है। इस प्रकार आनन्दोपलब्धि ही भक्ति धर्म बन गई। वज्रयानियों ने शक्ति-शक्तिमान् की युगनद्धता (कमल-कुलिश-साधना) के द्वारा और सहजयानियों ने सहज साधना के द्वारा जिस सहजानंद का लाभ किया था, उसे सगुण भक्त राधा-कृष्ण की निकुंज-लीला या रास में भावित करने लगे। फलस्व-रूप माधुर्य-भक्ति को तांत्रिक सहज साधना (महासुहवाद) का उत्तराधिकार प्राप्त हो गया। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि मध्ययुग में मध्यदेशीय मन जड़ का अतिक्रमण करने की भीषण प्रतीज्ञा लेकर ऊपर उठता है और समस्त भौतिक-

अभौतिक बन्धनों को तोड़ कर अपने भीतर ही अक्षय आनन्द की सृष्टि करने में समर्थ होता है। इस अक्षय आनन्द को ही उसने श्री विष्णु, सीता-राम और राधा-कृष्ण के लोकोत्तर प्रतीकों में मूर्तिमान किया है। उसने अपने बाहर जड़ जगत में भी इसी आनन्द का प्रसार देखा है और जड़ के भीतर भी चैतन्य का अनुभव किया है। चैतन्य ही नहीं, उसने वहां आनन्द भी पाया है। जड़ तो है ही नहीं,सब कही चैतन्य और आनन्द ही की व्याप्ति है। इसी चैतन्य और आनन्द को मध्ययुग के भावेक भक्त ने राधा-कृष्ण के महारास (माधुर्य) और भगवान राम के सौदर्य, शील तथा शौर्य में परिकल्पित किया है। सौंदर्य, शील, शौर्य, माधुर्य की साधना ही मध्ययुगीन भारतीय मन की महान साधना है। इस साधना की कथा प्रचलित इतिहास के पृष्ठों में नही मिलती, परन्तु साहित्य, कला, संगीत और शिष्ट जीवन-व्यवहार में उसका रूप खूब निखरा है। सोलहवीं शताब्दी के अंत तक मध्ययुगीन मनुष्य के इस एकान्वित मन का निर्माण हो चुका था और बाद की दो शताब्दियों में यही महार्घ मन विभिन्न भूमियों पर अपनी अप्रतिम छाप छोड़ने में समर्थ हुआ। रीतिकाल का भावक जड़ को चेतन का वरदान मानकर अकुंठित भाव से उसे स्वीकार करता है और उसे अपनी रस-साधना का केन्द्र बनाता है। यह रस-साधना उसके चित्त को निर्मल करती है और उसके सौदर्य-बोध को परिष्कृत कर उसमें शील और सौदर्य के अजस्र स्रोतों को उन्मुक्त करतो है। रीतिकाल के कवि की सौदर्य-साधना उसके हृदय की इसी माधुर्य-वृत्ति से प्रकाशवान है। इससे उसकी सौंदर्य-चेतना का संस्कार हुआ है और उसके आनन्द से प्रकृति का प्रत्येक कण रागरंजित बन गया है। इष्टदेव के रूप-लीला-माधुर्य में डूब कर उस युग का विलासी सहज भाव से सांसारिक सुखों का उपभोग करता है परन्तु उसके इस उपभोग में तृष्णा की लालसा नहीं है, तृप्ति का संतोष है। यही तृप्ति उसे जीवन-व्यापार में शील तथा सौन्दर्य के सम्पादन के लिए अपूर्व क्षमता प्रदान करती है। उसके देवार्पण में कुछ भी कमी नहीं है, अतः उसके लिये कुछ भी अग्राह्य नहीं है। भीतर के सौन्दर्य और माधुर्य से छक कर वह विराट् विश्व में शील और शौर्य के संग्रह के लिये निकल पड़ता है। इस प्रकार जड़ को चिन्मय बना कर और जग को "सियाराममय" जानकर मध्ययुग का मानस अपने ही अखण्ड विश्वास और अप्रतिम माधुर्य का आस्वादन करता है। यही उत्कृष्ट वैष्णव दर्शन है। यही परिपूर्ण और अखण्डित जीवनदृष्टि मध्ययुग के सर्वश्रेष्ठ काव्य "राम-चरित मानस" की देन है परन्तु इस "मानस" को देखने के लिये "मानस-चख" (चिन्मय दृष्टि) चाहिए, जड़ आंखों से हम उसे नहीं देख सकेंगे। इसी चिन्मय दृष्टि को ग्रहण कर रीति-कवि अकुंठित भाव से जड़ देह का सौन्दर्य वर्णित कर जाता है और अन्ह्निक विलास-चर्या भाव-लोक की माधुर्य-सृष्टि बन जाती है। यह दृष्टि वहां से आरंभ होती है जहां नीति की लक्ष्मण-रेखा समाप्त होती है। अतः मध्य युग के काव्य को नीति-अनीति के छिछले मापदण्ड पर न नाप कर हम यह देखें

कि उसमें आनन्द के कौन से आयाम किन स्तरों पर आलोक बिखेर रहे हैं। इस मन:भूमिका पर हम भक्ति-युग तथा रीति-युग के काव्यों को परस्पर विरोधी न मानकर उनके ऐतिहासिक विकास-क्रम को सार्थकता देगे क्योंकि दोनों में ही मध्ययुग के अखण्डित मन का अक्षुण्ण तथा निर्बाध प्रवाह है और दोनों को उसने अपनी मुद्रा से मुद्रित किया है। आवश्यकता इस बात की है कि हम पूर्वतन युगों पर अपने भौतिकवादी, विज्ञानवादी, नैतिकवादी युग की प्रपत्तियों का आरोप नहीं करें और बीते हुए जीवन को खुलकर बोलने की स्वतन्त्रता दें।

देखना यह है कि मध्ययुगीन साहित्य में इस मध्यदेशीय मन की अभिव्यक्ति किस प्रकार हुई है और उसकी वास्तविक स्थिति क्या है। साहित्य का इतिहास और साहित्यिक परम्परा सांस्कृतिक परम्पराओं और प्रयोगों के प्रसारण का माध्यम है और बाद में स्वयं सांस्कृतिक परम्परा उससे प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकती। वास्तव में साहित्य और संस्कृति परस्पर प्रभाव से ही विकसित होते हैं। मध्ययुग में इस दो-तरफा आदान-प्रदान का क्या स्वरूप था, यह विचारणीय विषय है।

विद्वानों का विचार है कि आरंभ से ही भारतीय साहित्य में दो परम्पराएं चल रही हैं। पहली परम्परा संस्कृत-साहित्य की है जिसके निर्माण में एक विशिष्ट वर्ग (एलीट) ने भाग लिया है और जिसने विभिन्न साहित्य-रूपों तथा शैलियों में एकता स्थापित की है। यह साहित्य अखिल भारतीय साहित्य है और जनपदीय सूत्रों से ऊपर उठ कर समस्त राष्ट्र को एक ही स्पन्दन के सूत्र में जोड़ता है। यह नहीं कहा जा सकता कि इस साहित्य के निर्माण में प्रादेशिक अथवा जनपदीय उपकरणों (लोकवार्त्ता, लोकगीत तथा लोक-छंद) का क्या हाथ था, परन्तु पहली शताब्दी के बाद जब संस्कृत का साहित्य रचा जाने लगा तो उसने अपने विशिष्ट संदर्भों, प्रतीकों, देवताओं (मिथ), आदर्शों, काव्यरूपों तथा छंदों का निर्माण कर लिया था। संस्कृत देववाणी बन गई और उसका साहित्य सुसंस्कृत भारतीय मन का प्रतिनिधित्व करने लगा। इस राष्ट्रीय साहित्य की मुद्रा अंग्रेजी साहित्य के प्रवेश तक अर्थात् अठ्ठारहवीं शताब्दी के अंत तक बराबर मान्य रही है। लगभग दो सहस्र वर्षों के इस लम्बे काल में संस्कृत साहित्य ने भारतीय जीवन-चिंतन तथा संस्कृति को स्थैर्य दिया है और उन्हें बदलते जीवन-मूल्यों में निरन्तर निश्चित मान (नार्म) की ओर लौटाया है। यह कम महत्व का कार्य नहीं है क्योंकि यह साहित्य की भारतीय परम्परा का बल है। भारतीय शिष्ट समाज ने सब कहीं समान सामाजिक परम्पराओं की स्थापना की थी जो अराजकता के युगों में भी नष्ट नहीं हो सकीं। उथल-पुथल के केन्द्रों से अलग इन दूरवर्ती समाजों ने साहित्यिक प्रयोगों को जांचा-परखा और उन्हें परम्परा से जोड़ा। वास्तव में न तो ये प्रयोग एक दम क्रान्तिकारी थे, न इतने अधिक थे कि परम्परा को कोई बड़ी चुनौती देते। दूसरी साहित्य-परम्परा का सम्बन्ध शिष्ट वर्ग से न होकर जनपदीय समाज से था जो गीतों, वार्त्ताओं, कथाओं और लोक-छन्दों आदि के रूप में लोक-मानस की अभिव्यक्ति

करता था। यह प्रथित मान के प्रति विद्रोह था और इसका अपना प्रादेशिक और विभाषीय रंग था। यह दूसरी परम्परा कभी-कभी पहली परम्परा में अन्तर्मुक्त हो गई है और फलस्वरूप शिष्ट साहित्य जन-साहित्य भी बन गया है और शताब्दियों तक यह योगायोग अखण्ड बना रहा है। मध्ययुगीन हिन्दी काव्य में इस उभयपक्षीय आदान-प्रदान और योगायोग की प्रक्रिया को स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है।

क्यों ऐसा हुआ, इसका कारण जानने के लिये हमें भारतीय राज-व्यवस्था का अध्ययन करना होगा जो विकेन्द्रीकरण पर आधारित थी और जिसने जनपद-शासन को स्वतन्त्रता प्रदान कर दी थी प्रत्येक जनपद अपनी भाषा,लोकवार्त्ता,संगीत-परम्परा तथा आचार-विचार को लेकर चलने में स्वतन्त्र था; क्योंकि आर्थिक दृष्टि से वह परिपूर्ण इकाई था और उस पर नागरिक शिष्ट जीवन का प्रभाव कम पड़ता था। फलतः विद्रोह के बदले स्वीकार तथा समन्वय की भावना प्रबल हुई। वर्ण-व्यवस्था, सम्मिलित कुटम्ब, श्रेणी-योजना समाज के सुसंगठित और व्यवस्थित रखने के साधन थे और कर्मवाद ने सहिष्णुता तथा उदारता के लिये पर्याप्त अवकाश निकाल लिया था। अतः धर्ममतों, सम्प्रदायों तथा साधना-मार्गों में सहनशीलता का प्रसार हुआ था। सारा समाज एक संतुलित, मर्यादित इकाई के रूप में गतिमान था और वर्ण-व्यवस्था के भीतर से किसी प्रकार के विरोध के फूटने के आशंका भी नहीं थी। इस प्रकार जनपदीय संस्कृति अपने सीमित क्षेत्र में परिपूर्ण संस्कृति थी और वह अखिल भारतीय संस्कृति के भीतर परन्तु उससे स्वतन्त्र रह कर निरन्तर विकास-मान थी।

यह नहीं कि इस जनपदीय संस्कृति में (जो प्राकृत साहित्य के माध्यम से प्रकाशवान थी) और राष्ट्रीय संस्कृति में (जो संस्कृत साहित्य में प्रतिबिंबित थी) किसी प्रकार आदान-प्रदान ही नहीं हुआ हो। वास्तव में संस्कृत और प्राकृतों (जनपदीय भाषाओं) में आदान-प्रदान निरन्तर चलता रहा है। महाकाव्य-युग के संस्कृत साहित्य में प्राकृत के विषय तथा काव्य-रूप बराबर समाहित होते रहे हैं। संस्कृत नाटकों के अधम पात्र और नारी-पात्र प्राकृत में वार्त्तालाप करते थे और भारतीय साहित्य-शास्त्र में "रीति" के माध्यम से प्रादेशिक काव्य-शैलियों (वैदर्भी, गौड़ी, लाटी, नागरी आदि) को प्रधानता मिली है। प्राकृत साहित्य भी संस्कृत-साहित्य को आदर्श मानता रहा है और उसने स्वयं को उसी के ढाँचे में ढालने का प्रयत्न किया है। सच तो यह है कि संस्कृत-परम्परा का आधिपत्य रहा है और यह बात केवल साहित्य के क्षेत्र में ही लागू नहीं होती, दर्शनशास्त्र (चिन्तन) और संगीत के क्षेत्र में भी उसी प्रकार सत्य है। ब्राह्मण-धर्म और संस्कृत-साहित्य के माध्यम से ही शिष्ट संस्कृति (जिसे यूरोपीय विद्वानों ने सांस्कृतिक संस्कृति कहा है) का समग्रगत प्रभाव बढ़ा और समस्त जनपदों पर छा गया। सोलहवीं शती में तुलसी और केशव जैसे पण्डित कवि भाषा-काव्य को लांछित मानते हैं, इससे यह स्पष्ट है कि शिष्ट भाषा (संस्कृत) और संस्कृति (ब्राह्मण संस्कृति) की कितनी बड़ी धाक थी।

मध्ययुग के आरम्भ में विशेष कारणों से केन्द्रीय शिष्ट संस्कृति का प्रभाव दुर्बल पड़ गया और अनेक जनपदीय संस्कृतियां स्वतंत्र इकाइयों के रूप में विकसित होने लगीं। पुष्पदन्त और राजशेखर ने अपने ग्रंथों में अनेक जनपदों का उल्लेख किया है जो वास्तव में स्वतंत्र भाषा-क्षेत्र थे। इन जनपदों में नई विदेशी जातियां-प्रजातियां आकर बस गई थी और उन्होंने अपने संगीत, लोकवार्त्ता, नृत्य तथा छंद का आविष्कार किया था। ७५० ई० के बाद ही हमें सिद्ध काव्य में स्थानीय राग-रागनियों का निर्देश मिलता है और जैन कवियों की रचना में रास, चांचर, फागु, बेलि आदि ऐसे छन्दों एवं काव्यरूपों की प्रधानता है जो मूल रूप से विभिन्न प्रजातियों के नृत्य-छन्द थे। १०वीं शताब्दी में क्षेमेन्द्र और १२वी शताब्दी में जयदेव को अपने संस्कृत काव्य में इस नई संगीत-परम्परा का उपयोग करना पड़ा। गीति-काव्य (पद-साहित्य) की नई परम्परा स्पष्टतः नए समाज-तत्व की ओर इंगित करती है, जो संस्कृत साहित्य की बंधी हुई छन्द-परम्परा के स्थान पर तरल, मुक्त तथा अनुभूतिप्रवण नये छन्दों को प्रश्रय देता है। सम्पूर्ण मध्ययुगीन हिन्दी काव्य में जन-कण्ठ का योग मिलता है और दूहा (दोहा), चौपाई, पद, घनाक्षरी (कवित्त), सवैया आदि छन्दों के रूप में प्राकृत जीवन का उन्मेष ही उद्घोषित होता है। ये नए छन्द भावक चित्त के नए मोड़ की सूचना देते है। धीरे-धीरे संस्कृतज्ञ ब्राह्मण वर्ग इन छन्दों को अपना बना लेता है और संस्कृत के महाकाव्यों के अनुरूप नई रचनाएं प्रस्तुत करता है जो प्रौढ़ता, मर्यादा और संतुलन में पूर्वतन संस्कृत साहित्य का अनुसरण करती है। तुलसी के साहित्य में संस्कृत साहित्य और ब्राह्मण संस्कृति की विजय ही प्रतिध्वनित है। सच तो यह है कि पूर्व मध्ययुग में भारतीय मन प्रादेशिक परम्पराओं में खण्ड-खण्ड हो गया था और उसकी अभिव्यक्ति अनेक जनपदीय भाषाओं में अनेक स्थानीय संस्कारों के भीतर से हुई। धीरे-धीरे भक्ति के व्यापक आन्दोलन ने इन खण्ड इकाइयो को एक सूत्र में गूंथ कर सार्वभौमिक चेतना का रूप धारण किया। मध्ययुग के आरम्भ में हिन्दी क्षेत्र के आन्दोलन वर्गीय आन्दोलन थे। बौद्ध (सिद्ध), नाथ (योगी), जैन, चारण, सूफी आदि अपने-अपने क्षेत्रों के लिए काव्य-रचना कर रहे थे। यह वर्गीय चेतना प्रादेशिक संस्कृतियों के उत्कर्ष की सूचना थी; परन्तु इसमें राष्ट्र के लिए कोई योजना नही थी। वैष्णव भक्ति के आन्दोलन ने प्रादेशिकता को जीवित रखा; परन्तु उसके द्वारा रामकृष्ण के व्यापक प्रतीकों का उपयोग होने के कारण भक्ति-चेतना को राष्ट्रीय चेतना बनाने का अवकाश मिला। मध्ययुगीन भारतीय मन की अखण्ड तथा समग्र चेतना वैष्णव साहित्य में ही अभिव्यक्ति पा सकी है। राम-भक्ति अपेक्षाकृत छोटे क्षेत्र को लेकर चली। अवध ही उसका केन्द्र रहा, या अधिक-से-अधिक अवध से जनकपुर तक उसकी व्याप्ति थी। इस क्षेत्र से बाहर राम-भक्ति को लोकप्रियता नहीं मिल सकी। अतः वह अपने वर्गीय रूप का अतिक्रमण नहीं कर सकी। यह अवश्य है कि तुलसीदास जैसे समर्थ कवि की रचनाओं में उसने राष्ट्रीय उत्कर्ष प्राप्त कर लिया। परन्तु कृष्णभक्तिकाव्य प्रादेशिक भाषाओं को अधिक रससिक्त कर सका और उसी के द्वारा ब्रजभाषा

कृष्ण-काव्य की प्रतीक-भाषा बन गई। हिन्दी क्षेत्र के बाहर "ब्रजबुलि" आदि नामों से उसका उपयोग इसी तथ्य को प्रमाणित करता है।

वैष्णव भक्ति के आन्दोलन ने स्थानीय चेतनाओं तथा वर्ग-संस्कारों को ही समन्वित नहीं किया, उसने इस्लाम के संघात को भी आत्मसात किया और उसी के द्वारा धर्म के क्षेत्र में एक नए समन्वय की सिद्धि हुई। भक्ति और रहस्यवादी साधनाओं का आविर्भाव मध्ययुग की एक बड़ी भावक्षेत्रीय आवश्यकता की पूर्ति है क्योंकि यही साधनाएं दोनों विरोधी धर्मों और सम्प्रदायों के बीच में सेतुबन्ध का कार्य कर सकती थीं। दोनों धर्म पुरोहितवाद से त्रस्त थे, अतः इस नए अध्यात्म ने इसके विरोध में व्यक्तिगत साधना को प्रमुख माना। इसके अतिरिक्त कर्मवाद, ज्ञानमार्ग तथा ब्राह्मणोक्त कर्मकाण्ड के विरोध में इसने प्रेम (भक्ति) को प्रधानता दी। वंद समाज में रहस्य-धर्म ही जड़ बन्धनों का विद्रोही स्वर बन जाता है और उसी के द्वारा अति-सवेदित प्राणी समाज के चिर प्रथित ढांचे का अतिक्रमण करते हैं। हिन्दू और मुसलमान दोनों समाजों के मर्मियों (संतों, भक्तों और सूफियों) ने इसी हृदय-धर्म को जाग्रत किया और इसी को नए प्रतिमानों, प्रतीकों तथा रूपकों में अपने हृदय की सारी मधुरिमा के साथ प्रस्तुत किया। उन्होंने यौन-प्रतीकों और मादन-भाव के भीतर से आत्मा के निःसंकोची परिणय की बात कही। ये यौन-प्रतीक ही मध्य युग के आत्मसमर्पी मन की वाणी हैं। इन्हें मादन रस से सिक्त करना और इनमें मनन को मधुमती भूमिका पर उठाने की शक्ति भरना कम श्रम-साध्य नहीं था। इसके लिए भाषा, छन्द और संगीत की अप्रतिम योग्यता अनिवार्य थी। मध्ययुग के साहित्य में इस साधना की कहानी अंतर्हित है। भाषा की माधुर्य-शक्ति तथा सांकेतिक अभिव्यंजना को भीतर की ओर मोड़ना कम साहस का काम नहीं था। सैंकड़ों पदों में अबाध और उच्छ्वसित गति से सूरदास राधा-कृष्ण के हास-विलास, परिणय, निकुंज-बिहार, रास और विपरीत रति को जिस अकुंठित और खुले कण्ठ से कह गये हैं, वह भाव और वैसा साहस विश्व के आध्यात्मिक साहित्य में दुर्लभ है। इस साहस ने ही अनेक काव्य को साक्षात्कार का काव्य बना दिया। इस साक्षात्कार की चरम अभिव्यक्ति कूट पदों में मिलती है, जहां युगल दम्पति की केलि को आत्मोपलब्धि की भूमिका के रूप में प्रस्तुत किया गया है।

साहित्य-क्षेत्र में भक्तिवाद का एक प्रभाव यह भी पड़ा कि उसने जनपदीय भाषाओं और जनपदीय संस्कारों में नवजागरण का बोध भर दिया। इस युग के विभाषीय साहित्य में स्थानिक सांस्कृतिक प्रवृत्तियों और विशेषताओं का अनिवार्य रूप से प्रकाशन हुआ है। एक ही राम-कथा विभिन्न भाषा-क्षेत्रों में भिन्न-भिन्न रूप धारण कर लेती है। यद्यपि संस्कृत की स्तोत-शैली की परम्परा से भी हिंदी का विनय-काव्य प्रभावित है; परन्तु उसकी कोटि पूर्ववर्ती भक्ति-काव्य से नितान्त भिन्न है। कहने का तात्पर्य यह है कि मध्ययुग का मानस अपने अनुरूप नए छन्दों, प्रतीकों, भाव-भूमियों तथा अभिव्यंजना-शैलियों का आविष्कार करने में समर्थ हुआ है

और साहित्यिक रूपों की विभिन्नताओं के भीतर भी अर्थ, बोध और लक्ष्य की एकता बराबर बनी रही है। संस्कृत का साहित्य छोटे से शिष्ट वर्ग में सिमट कर रह गया; परन्तु भाषा-कवियों का साहित्य प्रादेशिक लोक-मानस को रसविभोर करता रहा। इसीलिए कबीर ने ठीक ही संस्कृत को कूप-जल और भाषा को "बहता नीर" कहा है।

परन्तु यह स्थिति अंत तक नहीं बनी रह सकी। जिस प्रकार परम्परित धर्मों ने रहस्यवादी साधनाओं और सम्प्रदायों को अपने भीतर सिमेट कर उन्हें पंगु बना दिया, उसी प्रकार नए काव्यरूप प्राचीन काव्यरूपों का अनुसरण करने के कारण निःशक्त हो गए। नए आन्दोलनों ने वर्ण-व्यवस्था की कठोरता को दूर कर उसे उदार बनाया था; परन्तु यह उदारता ही इन आन्दोलनों के लिए घातक सिद्ध हुई क्योंकि वे स्वयं परम्परा और व्यवस्था के अंग बन गए। इसी प्रकार भक्ति-साहित्य संस्कृतनिष्ठ होकर शिष्ट साहित्य का प्रतिरूप बनने लगा। धीरे-धीरे उसकी प्रगतिशीलता और लोकपरता नष्ट हो गई। धर्म के क्षेत्र में स्मृतियों पर आधृत नए आन्दोलनों का जन्म हुआ जिन्होंने वर्ण-व्यवस्था को और भी कठोर बनाने का उपक्रम किया। वास्तव में ये आन्दोलन आरम्भ से ही चल रहे थे; परन्तु भक्तिवाद के तेज ने उन्हें कुंठित कर दिया था। भक्ति-भावना के दुर्बल हो जाने पर वे सतह पर आ गये। टीकाओं, भाष्यों-उपभाष्यों का युग आरम्भ हुआ और साहित्य लक्षण-ग्रंथों के भार से बोझिल हो उठा। सर्जना का स्थान आत्मप्रवंचना ने लिया जो निरुद्देशीय कल्पना, अमर्यादित भावना तथा आयाससिद्ध कलाकारिता को ही काव्य समझने लगी। एक प्रकार की जड़ता और स्तब्धता का समावेश हुआ; यद्यपि अब भी कोई-कोई कवि पिछले कवियों की उदात्त भावभूमि स्पर्श कर जाता था। रीति-काव्य के अनेक कवियों ने भक्ति-युग के समीकरण को राधा-कृष्ण के शृंगारिक प्रतीकों के सहारे आगे बढ़ने का प्रयत्न किया; परन्तु वे "कविताई" के दावेदार होकर रह गए और लीला-गान उनके लिए परम्परा-पालन मात्र रह गया। यह अवश्य है कि अनेक रीति-कवियों में युग-धर्म के रूप में यह समीकरण अनायास ही मुखरित हो उठा है और पूर्वतन युगके अध्यात्म ने रीति युग की शृंगारी कविता को भी अतीन्द्रिय, लोकोत्तर तथा अध्यात्मिक भावभूमि दे दी है; परन्तु यह प्रगट है कि समाधि खण्डित हो चुकी है और समग्रता का आकांक्षी भारतीय मन अरूप के हिम-शिखर से नीचे उतर कर रूप के शीशमहल में खो गया है। रीतिकाव्य में उसका यही विभ्रम प्रतिबिंबित है। उसमें रूप में अरूप को देखने की अकांक्षा बलवती है और भक्ति युग के प्रतीक इस दिशा में उसके सहायक हैं; परन्तु सब कहीं वह अपनी इस अकांक्षा को मूर्त्तिमान नहीं कर सका है। रीति-युग का काव्य दरबारी अभिरुचि में पीड़ित है और उसे लोक-रुचि का प्रतिनिधि नहीं कहा जा सकता। यह स्पष्ट है कि उसमें शिष्य वर्गों का पाण्डित्य और उसकी कलाधर्मी चेतना ही अधिक रूपायित है, क्राँतदर्शी मर्मियों तथा अंतर्दृष्टि-सम्पन्न भावकों को तोष देने की सामर्थ्य उसमें नहीं है। परन्तु इसी

रीति-काव्य में घनानन्द, मतिराम, पद्माकर और ठाकुर जैसे कवि भी हैं जो रूप के भीतर अरूप की खिड़कियां खोल देते हैं और जिनमें मध्ययुग का सौंदर्यान्वेषी मन माधुर्य के नये-नये रस-स्रोतों की ओर उन्मुख होता है। उसने और आगे बढ़ कर शील और शौर्य के वर्जित प्रदेशों को भी छूना चाहा है और छत्रसाल के काव्य में यह ध्वनित है कि कहीं-कहीं उसका प्रयत्न सफल भी हुआ है। इस सफलता के प्रमाण इतिहास के पृष्ठों पर खोजे जा सकते हैं अथवा वे इस युग की वास्तुकला, संगीत-कला तथा चित्र-कला में आभासित हैं। इसमें सन्देह नहीं कि महार्घ मूल्यों से मंडित मध्य युग का मानस साहित्य में अपनी सम्पूर्ण प्रतिभा का प्रकाशन नहीं कर सका है; परन्तु उसका अखण्ड भावबोध, उल्लास, चैतन्य तथा आनंद उसमें सहस्र-धारा बन कर बहा है।

मध्य युग के वैचारिक रूप साधनात्मक व्यक्तित्व को समझने के लिये हम शंकराचार्य (७८८-८२० ई०) और बल्लभाचार्य (१४७८-१५३०) के दो छोरों को पकड़ना होगा; क्योंकि इन दशाब्दियों का तत्त्वज्ञान इन्ही दो व्यक्तित्वों को केन्द्र बना कर घूमा है। शंकराचार्य ने अद्वैतवाद के द्वारा सूक्ष्म जगत की एकता की कल्पना की और स्थूल जगत को भी सूक्ष्म जगत की विवृत्ति मान कर चलने का आग्रह किया। इसीलिए उन्हें विवर्त्त (माया) का सिद्धात गढ़ना पड़ा। द्विधात्मकता आभास-मात्र है, एकता ही चरम सत्य है; परन्तु इससे व्यवहार की भूमि पर कठिनाई पड़ती है। अतः उन्होंने पारमार्थिक सत्य और व्यावहारिक सत्य के रूप में सत्य के दो पहलुओं की कल्पना की। इससे उन्हे अधिकार-भेद तथा भक्तिवाद को अपने अद्वैत-वादी तंत्र में स्थान देने की छूट मिल गई। परन्तु प्रश्न यह है कि इस द्विधा से कर्म कुंठित हो जाता है और भावना की सारी भूमि व्यावहारिक, अतः यान्त्रिक, बन जाती है। शंकर जैसे महान व्यक्तित्व को इन दो विरोधी भूमियों पर चलना सरल रहा होगा; क्योंकि मन भी ब्रह्म की भांति विरोधी और धर्माश्रयी है; परन्तु सबके लिए यह उतना सरल नहीं था। फल यह हुआ कि संन्यासियों के अखाड़े बन गये और व्यवहार ही प्रधान हो गया। परमार्थ पीछे पड़ गया। माध्यमिक आचार्यो ने बुद्ध की ऐतिहासिकता-अनैतिहासिकता तथा उसके स्वरूप के विषय में त्रिकाय-कल्पना द्वारा समाधान प्रस्तुत करना चाहा था और बाद में विशुद्ध भावात्मक बुद्ध को भावाभाव से परे निर्वाण में स्थापित कर "शून्यवाद" की कल्पना हुई। निर्वाण के "बोधिचित्त" की व्याख्या के लिए "महासुह" का रूपक ग्रहण हुआ। फलतः बुद्ध (शून्य, निरंजन) ब्रह्म के निकट आ गये और शून्यवाद ब्रह्मवाद बन गया।

शंकराचार्य के इस समीकरण ने धार्मिक क्षेत्र की उस प्रक्रिया को बल दिया जो बौद्ध धर्म के ब्राह्मण धर्म में लयमान होने से उत्पन्न हो रही थी। यह स्पष्ट है कि शंकराचार्य का यह समाधान बौद्ध धर्म तथा उसके परवर्ती विकास से उत्पन्न समस्याओं का निरूपण है और उसमें व्यावहारिक सत्य के रूप में अनेक सम्प्रदायों, विचारधाराओं, साधनाओं तथा प्रतीकों के ग्रहण की क्षमता है; परन्तु एक बार

क्रांतिकारी सिद्ध होने पर भी कोई सिद्धान्त सदा के लिए क्रान्तिकारी नहीं हो जाता। इसके लिये यह आवश्यक है कि उसकी नई आवश्यकताओं के अनुरूप नई व्याख्या हो।

रामानुज, मध्व और निम्बार्क ने "भक्ति" को स्थान देने के लिये अद्वैतवाद की नई और स्वतन्त्र व्याख्याएं प्रस्तुत कीं और अद्वैतवादी दर्शन के ब्रह्म-जीव समीकरण को विशिष्टाद्वैतवाद (रामानुज), द्वैतवाद (मध्व) तथा द्वैताद्वैत (निम्बार्क) के रूप में तीन नई भूमियां दीं। तीनों में माया की अवस्थिति अस्वीकार्य है। अध्यास के रूप में उसे अमान्य समझा गया है यद्यपि ब्रह्म की प्रकृति या शक्ति के रूप में वह मान्य रहा है। इस योजना में वह कल्याणकारी बन गई है। उसके माध्यम से ही ब्रह्म तक पहुंचा जा सकता है। परिणाम-भेद, प्रकार-भेद तथा अनिर्वचनीयतावाद के रूप में ये तीन वैष्णव दर्शन उत्तरोत्तर भक्ति को अधिकाधिक बहुमान देते है; परन्तु प्रकृति (जड़) के सम्बन्ध में उनके समाधान ऐसे नही हैं कि पारमार्थिक तथा व्यावहारिक दृष्टिकोणों में एकरूपता स्थापित हो। रामानुज प्रकृति को अंतर्यामिन् की देह मानते है और इस प्रकार जड़ को चैतन्य से ओतप्रोत करना चाहते हैं; परन्तु इस दर्शन में जड़ की चैतन्य से अलग स्वतन्त्र स्थिति है। फलस्वरूप, रामानुजी भक्ति "सियाराममय सब जग जानी" कह कर जड़ पर चिन्मयता का आरोप कर सकता है; परन्तु उसे एक दम तिरोभूत नहीं कर सकता। अद्वैतवाद का "अध्यास" बना ही रहता है।

इस तात्विक विभ्रम का निराकरण वल्लभाचार्य के द्वारा हुआ। उन्होंने "अद्वैतवाद" को शुद्ध किया और फलतः उनका दर्शन "शुद्धाद्वैतवाद" कहलाया। उन्होंने सत् (स्थिति), चित् (चैतन्य) और आनन्द के रूप में तीन मूल गुणों की कल्पना की जो सृष्टि में ओतप्रोत हैं। ये तत्व सामासिक हैं, ब्रह्म-रूप हैं। ब्रह्म, जीव और प्रकृति (जड़) तीनों में समान रूप से इनकी अवस्थिति है, अंतर केवल यह है कि इनका तिरोभाव-आविर्भाव हो सकता है। ब्रह्म में तीनों हैं, जीव में स्थिति और चैतन्य हैं। इस प्रकार जीव के लिये "आनन्द" तत्व का उपार्जन परमावश्यक हो जाता है। वह ब्रह्मरूपा है, आनन्द का आविर्भाव उसकी साधना है। कृष्ण इसी आनन्द के प्रतीक हैं। यह वैष्णव आनन्दवाद है। भक्त की साधना आनन्द की साधना है; परन्तु आनन्द बाहर नहीं है, भीतर है। भीतर आनन्द के स्रोत उन्मुख होने पर चैतन्य जड़ के बंधन से मुक्त हो जाता है। इस भीतर के आनन्द को मुक्त करने के लिये ही आचार्य ने "लीलावाद" की प्रतिष्ठा की है और "लीलावत्तु कैवल्यम्" (लीला ही कैवल्य है) कह कर इस प्रपंच को चिन्मय की लीला बतलाया है।

व्यवहार-भूमि पर इस नए तत्वदर्शन का फल हुआ कि सारा परिवेश आनन्दमय हो गया और युग की सीमाओं से ऊपर उठ कर मध्ययुगीन मानस चिदानन्द-सन्दोह भगवान कृष्ण के रूप-लीला-रस में विभोर हो उठा। प्रकृति ही

नहीं, मानवीय सम्बन्ध भी चिन्मय बन गये। जहां सूफियों ने प्रकृति और मानवीय सम्बन्धों को लोकोत्तर की ओर इंगित माना था, वहां शुद्धाद्वैती और भी आगे बढ़ कर जड़ में चैतन्य ही देखने लगे क्योंकि जड़ तो है ही नहीं। उन्होंने जड़ में चैतन्य ही नहीं, आनन्द की भी परिकल्पना की। इस प्रकार समस्त मानवीय सम्बन्ध आनन्दमय बन गये। कृष्ण की बाल-लीला और किशोर-लीला में वात्सल्य, सख्य तथा शृंगार के तत्व थे। अतः आचार्य ने "षोडश ग्रंथ" में भक्त की भाव-साधना में इन तीनों की व्यवस्था की। शृंगार साधना के लिये उन्होंने मिलन तथा वियोग दोनों को उपादेय माना। परन्तु विरह भी भक्त के लिये "आनन्दमय" है; दुःखमय नहीं, ऐसी उनकी मान्यता है। निश्चय ही यह दृष्टिकोण सूफियों तथा संतों के दृष्टिकोण से भिन्न है। सूफी और संत "प्रेम की पीर" को "पीर" (पीड़ा) मानते हैं और उसे अपने साधक व्यक्तित्व के परिमार्जन का साधन समझते हैं; परन्तु शुद्धाद्वैती के लिये तो आनन्द ही उपजीव्य है। उद्धव के ब्रज पहुंचने पर गोपियों में जो विरह-भाव उमड़ा था, उसे आचार्य ने "महोत्सव" कहा है और वैसा महोत्सव उनके मन में कब घटि होगा, ऐसी प्रार्थना की है। अतः उनके मत में आनन्द ही स्पृहणीय है, विरह नहीं। इसीलिए सूरदास की साधना विरह की साधना न होकर आनन्द की साधना है। इसी भूमिका पर जायसी से उनका अंतर स्पष्ट हो सकेगा।

जीवन की परिपूर्ण उपलब्धि ही शुद्धाद्वैत दर्शन है क्योंकि जीवन 'सच्चिदानंद' है। उसमें अस्वीकार्य कुछ भी नहीं है। अतः विरक्ति के स्थान पर राग का उपयोग आवश्यक माना गया है और राग को जड़ोन्मुखता से हटा कर उसे चिन्मयोन्मुख बनाने की आनन्दमयी चेतना को ही साधना माना गया है। "वार्त्ता" के नंददास के वृतान्त से इस धारणा की पुष्टि होती है और बल्लभकुल के आचार्य की परिवार-निष्ठा इसका उदाहरण है। भक्त आत्मसमर्पित (निवेदित) है, अतः "निवेदन" के बाद उसके लिये कुछ भी वर्जनीय नहीं रह जाता। आवश्यकता यह है कि यह निवेदन आंतरिक, द्विधाहीन तथा सम्पूर्ण हो, जैसा भागवत के चीर-हरण प्रसंग में उदाहार्य है। आचार्य की भांति सूर ने भी इस आत्मनिवेदन की परिपूर्णता रास-प्रसंग में देखी है।

ऊपर की विवेचना से यह स्पष्ट था कि शंकराचार्य का समाधान मूलतः दार्शनिक था और उसमें बौद्ध चिंताधाराओं तथा सम्प्रदायों को ब्राह्मणधर्म में आत्मसात होने की सुविधा प्राप्त हुई। शैव, शाक्त, गाणपत्य, सौर तथा वैष्णव साधनाओं को वैष्णव धर्म में अन्तर्भुक्त करके आद्य शंकराचार्य ने बौद्ध धर्म के विरुद्ध एक संगठित मोर्चा खड़ा किया और आर्ष-चेतना को एकदम बंधन-मुक्त कर दिया। माध्यमिक तथा योगाचार बौद्ध मतवादों का श्रेष्ठतम उनके बुद्धिवाद (ब्रह्मवाद) में ग्रहीत हुआ और मध्ययुग के अनेक धर्म-सम्प्रदाय अद्वैतवाद की समान-धर्मी भूमि पर एक सूत्र में गुंफित हुये। १०वीं शताब्दी के अन्त तक यह प्रक्रिया बहुत दूर तक आगे बढ़ चुकी थी और ११वीं-१२वीं शताब्दियों में स्मार्त्त धर्म मध्य-

देश का सार्वभौमिक धर्म बन गया। परन्तु १२वीं शताब्दी के अंत में इस्लामी आक्रमण तथा आधिपत्य ने एक बार फिर विघटन की चुनौती उपस्थित की और भारतीय मनीषा को उसका उत्तर देना पड़ा। ११वी शताब्दी में रामानुज (१०१७-११३७ ई०) दक्षिण भारत की आलवार भक्ति का सम्बन्ध अद्वैतवाद से जोड़ कर भारतीय धर्मचिन्ता को भावप्रधान बना चुके थे और पाँचरात्र जैसे महत्वपूर्ण भारतीय प्राचीन भक्ति-सम्प्रदाय वैष्णवधर्म में अंतर्भुक्त हो गये थे। यह भी कहा जा सकता है कि इन सम्प्रदायों की प्रबलता ने ही अद्वैतवादी चिन्तन को नया भक्तिपरक मोड़ दिया जो विशिष्टाद्वैत के रूप में सामने आया। इसके बाद उत्तरोत्तर व्यापक और सूक्ष्म भूमियों पर भक्ति का प्रवेश चिन्तन और साधना के क्षेत्र में होता गया और दक्षिण से हमें दो नये समीकरण द्वैतवाद (मध्व) तथा द्वैताद्वैत (निम्बार्क) के रूप में प्राप्त हुए। १४वीं शताब्दी में विष्णुस्वामी ने भी इसी प्रकार दार्शनिक समीकरण उपस्थित किया और वल्लभाचार्य के शुद्धाद्वैत-दर्शन से उनका सम्बन्ध जोड़ा जा सकता है; परन्तु अनुश्रुति से अधिक पुष्ट प्रमाण इस सम्बन्ध में हमें उपलब्ध नहीं हैं।

उत्तर भारत की हिन्दू-मुसलमान समस्या का समाधान इन दार्शनिक समाधानों से सम्भव नहीं था। इस्लामी दर्शन आत्मसमर्पी है। उसमें जीवन-चिन्ता की अपेक्षा जीवनचर्या का अधिक महत्व है। विशुद्ध इस्लामी दर्शन की भूमि पर इस समस्या का निराकरण असम्भव था। परन्तु स्वयं इस्लामी दर्शन के भीतर सूफी दर्शन के रूप में एक विरोध पल्लवित हो रहा था। इस विरोध ने ही कालांतर में इस्लाम को उदाराशयी, भावुक तथा लोकधर्मी बनाया। सूफी विचारणा में बौद्ध योग तथा वेदान्त का समीकरण बहुत पहले ही हो चुका था और इसीलिये यह विचारधारा मध्ययुगीन भारत की भूमिका ग्रहण कर सकी। दक्षिण के भक्तिवाद के रूप में एक नई साधना-धारा और विचारणा उत्तर भारत में प्रविष्ट हुई थी। इस भक्तिवाद से सूफीवाद में अधिक भेद नहीं था। अंतर केवल इतना था कि वैष्णव भक्ति उतनी दूर तक भावना के सूत्रों को खोल नहीं सकी थी। वह अब भी वैधी भक्ति से बंधी थी। मध्ययुगीन हिन्दी साहित्य में नवधा और दशधा भक्ति की चर्चा परम्परा की ओर इंगित करती है। अतः आवश्यकता थी कि शास्त्रोन्मोदन के इस बन्धन को खोला जाये और भक्ति को एकांतिक, सर्व भुक् और तरल बनाया जाये। निम्बार्क के द्वैताद्वैत-भाव और राधा-कृष्ण की प्रतीकात्मकता में ऐसे संस्कार थे जिनको आधार बनाकर यह परिवर्तन किया जा सकता था। आरम्भ में नामदेव (१२७०-१३५०) और रामानन्द (१२९९-१४१८) ने इस्लामी सूफी भावना और वैष्णव भक्तिवाद के बीच में सेतु बन्धन का कार्य किया और भक्ति को व्यक्तिगत, सूक्ष्म तथा अंतरंगी बनाया। रामानन्द में सामाजिक चेतना भी पर्याप्त थी और उन्होंने मध्ययुग के उपचेतन का ही प्रतिकारात्मक संगठन नहीं किया, चेतन मन के उपयोग से भी भक्तिवाद को पुष्ट किया। हनुमद्भक्ति और रामोपासना के द्वारा

उन्होंने हिन्दू मात्र में पौरुष जाग्रत किया और पराभूत हिन्दू मन को जीवित आस्था दी। युग पुरुष के रूप में उन्होंने राम के प्रतीक को स्वीकार किया और उसकी निर्गुण-सगुण व्याख्याओं द्वारा चेतन-अवचेतन दोनों स्तरों का स्पर्श किया। फलतः राम (नाम) के माध्यम से मध्ययुग की विभक्त चेतना एक सूत्र में गुंफित हुई और अद्वैतवाद भक्तिपरक बना। रामानंदी सम्प्रदाय के प्रथित ग्रंथ अद्वैतवादी हैं; परन्तु रामानन्द के शिष्यों में विशिष्टाद्वैत की झलक भी स्पष्ट है और तुलसीदास (१५३२-१६२३) में तो दोनों मतवाद इतने संग्रथित हैं कि उन्हें अलग करना असम्भव बात है।

यह स्मरण रखना होगा कि मध्ययुग का आर्ष मन नए परिवर्त्तनों को स्वीकार करने के लिये तैयार नहीं था और पुराणों के कलियुग-वर्णन में यह प्रतिक्रिया स्पष्ट रूप से दिखलाई देती है। वायुपुराण (२री शती पूर्व) से ही यह प्रतिक्रिया आरम्भ हो जाती है क्योंकि इसी समय के लगभग पश्चिमी आक्रमणों से वर्णव्यवस्था और कर्मकाण्डी चर्या संकट में पड़ने लगी थी। कालांतर में "आपद्धर्म" तथा "कलियुग" एवं "वर्णसंका" की कल्पना से आर्ष-मन ने सान्त्वना प्राप्त की। १५वीं शताब्दी तक पुराणों-उपपुराणों की रचना हुई है और सभी पुराणों में कलियुग-वर्णन का समावेश हुआ। साथ ही उस आत्मप्रवंचना का दूसरा रूप "रामराज्य" के रूप में कल्पित हुआ। १६वीं शताब्दी में रामचरितमानस, मनुचरित्र तथा सत्रहवीं शताब्दी में समर्थ रामदास की रचनाएं इस आदर्श को अनेक रूपों में पल्लवित करती हैं। इसी आर्ष-मन ने नवीन स्मृतियों तथा निबन्ध-ग्रंथों का निर्माण किया और हेमाद्रि जैसे महापण्डित को जन्म दिया जिसने लगभग दो सहस्र व्रतों-आचारों को स्मृति-चर्या में गूंथने का उपक्रम किया। यह उच्च वर्ग (ब्राह्मण) की आत्मरक्षा का प्रयत्न था जो मध्ययुग में बराबर चलता रहा। व्रतों-आचारों, व्यक्तिगत शुद्धता के आदर्शों तथा वर्ण-व्यवस्था एवं अस्पर्श्यता के कूर्म-कवच के द्वारा इस प्रयत्न को लौह-दुर्ग का रूप देने की चेष्टा हुई; परन्तु समय-समय पर इस रक्षा-पंक्ति में दरारें पड़ती रहीं और सामाजिक लोकप्रियता के आग्रह से आचार्यों और पण्डितों ने भक्तिवाद को ब्राह्मण-धर्म में स्थान देना पड़ा; परन्तु भक्तिवाद अकेला नहीं आया, उसके साथ अनेक द्वन्द्वों का प्रवेश हुआ। १६वीं शताब्दी के अन्त तक ब्राह्मणवाद और भक्तिवाद का विरोध बहुत कुछ समाप्त हो चुका था क्योंकि भक्तिवाद ने ब्राह्मण-धर्म के भीतर प्रवेश पा लिया था। यह भक्तिवाद पौराणिक भक्ति के रूप में संगठित हुआ और इसने मर्यादा के नाम पर वर्णव्यवस्था और पौरोहित्य से समझौता कर लिया था। तुलसी का "मानस" (१५७५) इसी समझौते का प्रतीक है।

परन्तु उच्च वर्गों में भी ऐसे द्रष्टा थे जिनके लिए यह समझौता अंतिम समझौता नहीं हो सकता था। वे जाति के नवीन स्पन्दन से परिचित थे और भक्तिवाद को उच्चतम सांस्कृतिक अभिव्यक्ति का माध्यम बनाना चाहते थे। बल्लभाचार्य

ऐसे ही द्रष्टा थे। उन्होंने अपने ग्रंथ 'कृष्ण-स्तुति'' में इस्लामी आतंक द्वारा उत्पन्न अराजकता का मार्मिक चित्रण किया है और इसके दिए कृष्णार्पण का मोर्चा बांधा है; परन्तु यह कृष्णार्पण क्या है। इस कृष्णार्पण का दार्शनिक पहलू शुद्धाद्वैत है और धार्मिक एवं साधनात्मक पहलू पुष्टिमार्ग और सेवामार्ग। शुद्धाद्वैत-दर्शन ने जड़-चेतन अथवा जीव ब्रह्म के समस्त विरोधों का परिहार किया और आनन्द की भूमिका देकर युग की संस्कारी भावना को सौन्दर्य, माधुर्य तथा शक्ति की ओर प्रेरित किया। चैतन्य को जाग्रत करने के लिए आनन्द का सबसे बड़ा साधन हो सकता है। अतः विरोधीधर्माश्रयी ब्रह्म (आनन्द) के प्रति सम्पूर्ण समर्पण भक्तिवाद की शर्त्त बन गया। उन्होंने मन में किसी प्रकार का निरोध स्वीकार नहीं किया। फल हुआ कि वैष्णव भक्ति के लिए ऐहिक जीवन. भौतिक परिवेश तथा मानवीय सम्बन्ध माधुर्य और आनन्द से ओतप्रोत हो गए। इस आनन्दवाद के प्रतीक के रूप में कृष्ण-लीला की प्रतिष्ठा हुई और वात्सल्य, सख्य तथा शृंगार की अनेकानेक भूमियां युग के काव्य में उद्घटित हुईं। पिछले युगों के तन्त्रवाद को भी राधा-कृष्ण की नई भूमिका मिली और इस प्रकार अनेक तान्त्रिक परम्पराएं युगनद्धी मान्यताएं कृष्ण-भक्ति में समाहित हुईं। इस प्रकार वैष्णव भक्तिवाद पूर्वतन युग के तंत्रवाद का सच्चा उत्तराधिकारी बना। सिद्ध तथा सूफ़ी साधनाओं के मौन प्रतीक कूट काव्य के रूप में कृष्ण-भक्ति-काव्य में भी आ गये; परन्तु अधिकांश कृष्ण-काव्य अकुंठित, नैसर्गिक तथा सर्वमुखी जीवन-स्वीकृति बन गया। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि रामानंद का मध्य युग के मन को खोलने का वल्लभाचार्य की नई अद्वैतवादी व्याख्या में ही सम्पूर्णतः सफल हो सका। बीच के सोपान महत्वपूर्ण है; परन्तु उनकी परिणति शुद्धाद्वैत में ही हुई है। हिन्दी साहित्य को यह श्रेय प्राप्त है कि इस दार्शनिक मान्यता की अभिव्यक्ति सूरदास जैसे सशक्त, भावुक तथा साक्षात्कारी कवि के द्वारा हुई। उनका "सागर" निश्चय ही मध्ययुग की आत्म-निष्ठा, सौन्दर्याकांक्षा, माधुर्य-साधना तथा भावमुक्ति का सागर है। उसमें युग का समस्त अवचेतन हिल्लेलित है। उसमें मध्य-युगीन मन अपने भीतर के सभी बन्धनों को तोड़कर अपने ही सौन्दर्य, माधुर्य तथा तारल्य का आस्वादन करता है। वह "मानस" (तुलसी) से भिन्न है जो युग के चेतन मन की सक्रिय, जागरूक और प्रतिबद्ध (संकल्पी) चेतना का प्रकाशन है। दोनों युग-मन के दो स्तरों की अभिव्यक्तियां हैं। फलतः उनकी अभिव्यक्ति के स्वरूप तथा प्रकाशन में अंतर है। मध्ययुग की सौन्दर्य-साधना वास्तुकला, चित्रकला, संगीत तथा काव्य के माध्यम से मूर्त्तिमान हुई है और इन सभी को कृष्ण-रंग से रंग दिया गया है। १६वीं शताब्दी से १९वीं शताब्दी के मध्य तक हम नागरी राधा और नटनागर श्याम के सौन्दर्य तथा माधुर्य के प्रतीकों में मध्यदेशीय कला-साधना की अभिव्यक्ति पाते हैं। ऐसा बहुमुखी, बहुमानी तथा व्यापक आन्दोलन कदाचित् किसी भी देश में नहीं मिलेगा। राजपूत चित्रकला,

ध्रुपद-धम्मारख्याल की गायकी और पदों तथा कवित्त-सवैयों में जिस अपार रूप-माधुरी के दर्शन हमें होते हैं, वह अन्यत्र अलभ्य है। यह बहुमुखी साधना वर्जनीय को संग्रहणीय बना देती है और इसमें कहीं भी संकोच, कुंठा तथा पराजय के दर्शन नहीं होते। मध्य युग के मन ने भाव-जगत को अपनाया था और उसके लिए भाव-सत्य ही एकमात्र सत्य था। इसे वस्तु-सत्य से पलायन कहा गया है; परन्तु यह नहीं कहा जा सकता कि इस भाव-सत्य ने कालान्तर में हमें वस्तु-सत्य के प्रति भी अधिक जागरूक एवं खड्गहस्त नहीं बनाया।

साहित्य और कल्पना के क्षेत्रों में सब कुछ स्थूल अर्थों में प्रयोजनीय नहीं होता। अतः मध्ययुगीन साहित्य से हम सामान्य ढंग की वस्तुमुखी रचनाओं की आशा नहीं कर सकते। यह नहीं कि ऐसी कृतियों का नितांत अभाव है और चारण-काव्य तथा रीति-काव्य में प्रशस्तियों की मात्रा भी कम नहीं है। दोनों का दृष्टिकोण इहलोकिक ही है। सिद्ध-काव्य तथा नाथ-काव्य के सम्बन्ध में प्रचारात्मकता की आवाज़ उठाई गई है और वैष्णव काव्य में भी बहुत कुछ ऐसा है जो मात्र पौराणिक या साम्प्रदायिक है। यह स्पष्ट है कि सम्प्रदाय-बद्ध रचनाओं में कवि व्याख्याता अधिक होता है या वह गतानुगत का वाहक बन जाता है। मध्ययुग के अनेक प्रचण्ड साधक बाद में सम्प्रदायों के प्रवर्त्तक माने जाने लगे (यद्यपि इसमें संदेह है कि उन्होंने स्वयं इन सम्प्रदायों का प्रवर्तन किया होगा) और उनकी तेजस्वी ज्वलन्त वाणी अपनी मौलिकता खोकर परम्परा बन बैठी। इस प्रकार के साहित्य को हम प्रयोजनीय ही मान सकते हैं; परन्तु मध्य युग के सर्वश्रेष्ठ को पाने के लिए हमें सर्वश्रेष्ठ कृतियों को (और सम्भवतः उन कृतियों के भी सर्वश्रेष्ठ को) चुनना होगा। इस सर्वश्रेष्ठ ने ही युग-मन का प्रतिनिधित्व किया है, क्योंकि शेष समस्त सामान्यता के धरातल पर जीवित रह कर एक दिन काल का ग्रास बन गया। मध्ययुग के एक छोर पर सरहपा, गोरखनाथ, रामान्द और कबीर हैं और दूसरे छोर पर सूर, तुलसी, मीरा और हितहरिवंश हैं। इन दोनों छोरों के बीच में साधना और उपलब्धि के अनेक स्तर हैं। यह स्पष्ट है कि मध्य युग का मन किसी बंधी हुई लीक पर नहीं चला है उसने नए-नए समाधानों को प्रस्तुत किया है और सौन्दर्य तथा माधुर्य के नए-नए स्रोत उन्मुक्त किये हैं। उसमें जहां निम्न वर्गों का विद्रोह पल्लवित है, वहां उच्च वर्गों का औदात्य और आत्मदान भी मुखरित है। वैष्णव भक्ति के धरातल पर वर्गीय भेद-भाव समाप्त हो जाता है और "हरि को भजै सो हरि को होई" रामानन्दी मन्त्र के अनुसार केवल मानवता शेष रह जाती है। इस साहित्य की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि वह अद्वैत की ऊंचाई तक उठ कर और फिर नीचे उतर कर समाज को छूता है और उसी ऊंचाई पर ले जाने को उपक्रम करता है। समस्या चाहे सामाजिक हो परन्तु समाधान आध्यात्मिक है; क्योंकि अध्यात्म ही मनुष्य के भीतर के चैतन्य का स्पर्श कर सकता है। यह नहीं कहा जा सकता कि मध्ययुगीन साहित्य ने उस युग के मनुष्य की समस्त

समस्याओं का समाधान कर दिया था; परन्तु यह निश्चय है कि वह मूलभूत और अन्तरंगी समाधानों का कायल था और इस दिशा में उसकी सफलता अप्रत्याशित ही कही जा सकती है, क्योंकि उसकी कलाकृतियों, जीवन-व्यवहार तथा साहित्यिक चेतना में अपूर्व संतुलन है। मध्ययुगीन साहित्य को युग-मानस की अन्य अभिव्यक्तियों के समकक्ष रख कर हम उसके प्रति न्याय कर सकेंगे और शब्द तथा अर्थ के बीच के महान रिक्त को भरने में सफल होंगे।

: ५ :

मध्यदेशीय समाज

यह स्पष्ट है कि पूर्वमध्ययुगीन समाज दो वर्गों में बांटा गया है : वैदिक और अवैदिक। वैदिक स्मृति-शास्त्रों के अनुयायी थे और वर्णाश्रम तथा वेद के प्रति उनकी सम्पूर्ण आस्था थी। इसके विपरीत विस्तृत अवैदिक समाज था जिसे स्मृतिकार निंदनीय मानते है। इस समाज में बौद्ध, पाशुपत, जैन, लोकायतिर्क, कापिल (कापालिक), सात्वत आदि आते है जिन्हें स्मृति लेखकों ने अस्पर्श्य और दूराचारः शौचाचार-वहिष्कृतः कहा गया है। (स्मृतिचन्द्रिका, २ पृ ३१०) मध्य एशिया से आने वाली अनेक जातियां इन्ही अवैदिक समाजों में दीक्षित होती थीं; क्योंकि इनमें किसी भी प्रकार का वर्णभेद नहीं था और इनके आचार-विचार भी वेदवाह्य थे। कुषाणों ने बौद्ध और शैव धर्म को स्वीकार कर लिया था, ऐसा कुषाण-सम्राटों की मुद्राओं के उल्लेखों से प्रगट है। इसी प्रकार भागवत पुराण (४, १५) के अनुसार किरात, हूण, आंध्र, पुलिन्द, पुक्कस, आभीर, यवन, खसादि वैष्णव धर्म में दीक्षित हो गए। वैष्णव भक्तों ने इन्हें अशुचि और पापी कहा है और विष्णु की प्रशंसा की है जिसने इन्हें आश्रय दिया। इससे स्पष्ट हो जाता है कि कालांतर में वर्णहीन जातियों के निरन्तर प्रवेश से यह अवैदिक समाज अत्यंत विराट् और शक्तिशाली बन गया और वैदिक समाज इस महाजन समुद्र में डूब गया। इन विदेशी समाजों में शूद्र तो कोई था ही नहीं, स्त्रियों को भी सम्माननीय स्थान प्राप्त था और धर्म के क्षेत्र में उसे पूर्ण स्वतन्त्रता थी। अतः अवैदिक समाज उदार, सहिष्णु तथा स्त्री-पुरुष में समान भाव रखने वाला खुला समाज कहा जा सकता है। वैदिक समाज ने इसे म्लेच्छ कहा है और इसके विरुद्ध वर्णाश्रम के मोर्चे को और भी दृढ़ किया है, परन्तु धीरे-धीरे इस उदार चेतना को उसे भी आत्मसात करना पड़ा। इसी वैदिक समाज "कलियुग" और इसके विपरीत "कृतयुग" की कल्पना की। बाद में यही "कृतयुग" "रामराज्य" बन गया क्योंकि कलियुग की उच्छृंखलता के विरोध में मर्यादावादी युग के रूप में रामराज्य की कल्पना की जा सकती थी। इस चतुर्दिहि-व्यापी कलियुग के बीच में से मार्ग निकालने के लिए व्रतोपासनाओं की विस्तारपूर्ण आयोजना हुई और असफल होने पर या संक्रांति काल में "आपद्धर्म" का आविष्कार हुआ। इस प्रकार पुराणों की कलियुग की योजना आत्मरक्षा का कवच मात्र थी।

वैष्णवों में पांचरात्र वर्ग सबसे प्रमुख था जिसमें यति, ऐकांतिन्, वैखानन, कर्मसास्वत. शिखिन्, आप्त, अनाप्त, आरम्भिन्, समप्रवर्त्तिन्, योगिनन्, जपनिष्ठ,

तापस, शास्त्रज्ञ और शास्त्रधारक आदि अनेक वर्ग थे। वास्तव में ये भेद साधना-सम्बन्धी भेद थे और इनका किसी प्रकार के वर्णव्यवस्था से सम्बन्ध नहीं था। समस्त वैष्णव समान थे। ग्रीक, यवन, शक, पह्लव, कुषाण, आभीर आदि विदेशी वर्णहीन जातियां बड़े व्यापक रूप से इन्हीं वर्गों में दीक्षित हुईं। इन्हें राजशक्ति भी प्राप्त हो गई जिससे अवैदिकों का प्रभाव कम हुआ। इसके अतिरिक्त नन्द, मौर्य और आंध्र जैसे शूद्र शासकों ने स्पष्ट रूप से वर्णव्यवस्था और पौरोहित्य का विरोध किया।

इस प्रकार धर्मक्षय के प्रमाण में पुरुषोत्तम (यज्ञ) की हानि, वेद के प्रति अनादर और नास्तिक मतों का प्रभाव तीन मुख्य तथ्यों को प्रस्तुत किया गया है। अवैदिक समाज में ये तीनों तथ्य व्याप्त थे। पुराणों के कलियुग-वर्णनों से हमें वैदिक समाज का दृष्टिकोण ही प्राप्त होता है। वायु (अध्याय ५८), मत्स्य (अध्याय १४४), ब्रह्माण्ड (: ३१), भागवत (१० : २) विष्णु (६ : १) और कूर्म (१ : २६) १००० ई० से पहले के पुराण हैं और उनमें एक ऐसे समाज का चित्र आता है जो वर्णाश्रम के नियमों का विरोधी था और अब्राह्मण तथा ब्राह्मण-विरोधी विचारधारा का पोषक था। इस वर्ग का प्रभाव इतना व्यापक हो गया था कि वैदिक वर्ग भी उससे बच नहीं सका। स्पष्ट रूप से यह स्थिति २०० पू० ई० से १०० ई० के समाज की सूचक है। यह स्पष्ट है कि इस समाज में वैदिक धर्म और विचारधारा की प्रधानता नहीं रह गई है।

तीसरी शताब्दी से छठी शताब्दी तक वैदिक (ब्राह्मण) वर्ग ने भारतीय समाज को वर्णाश्रम तथा वेदमान्यता के आधार पर पुनः संगठित करने का प्रयत्न किया; परन्तु आभीर, गर्दभिल्ल, शक, यवन, वाह्लीक और अन्य विदेशी जातियां आंध्रों के उत्तराधिकारियों के रूप में आती रहीं और महाराष्ट्र में आभीरों ने अपनी शासकीय सत्ता स्थापित कर ली। गुप्त युग (२५० ई०-४७५ ई०) में वैदिक समाज का प्राबल्य रहा; परन्तु तोरमाण की मृत्यु (५०२ ई०) के बाद हूणों की अराजकता बढ़ी और भारतीय वर्णव्यस्था फिर एक बार संकट में पड़ गई। ५२८ ई० में यशोधर्मन् ने मिहिरगुल को परास्त किया और लगभग ५०० वर्षों तक भारतवर्ष विदेशी आक्रमणों से बचा रहा जिसके बाद मुसलमानों के आक्रमणों ने फिर एक बार मध्यदेश की शान्ति नष्ट कर दी।

इन अवैदिक मतवादों को एक सूत्र में बांधने का कार्य तन्त्रवाद द्वारा सम्पादित हुआ। पांचरात्रों की प्रसिद्ध ज्यास्थ संहिता (४५० ई०) से यह स्पष्ट हो जाता है कि पाँचवीं शताब्दी के मध्य में ही यह प्रभाव काफी व्यापक हो चुका था। स्पष्ट ही तन्त्र अब्राह्मण थे और उन्हें तन्त्रव्यवस्था तथा वेद मान्य नहीं थे। पांचरात्र संहिताओं की भांति जैनागमों में भी यह प्रभाव शीघ्र ही मिल जाता है और सातवीं शताब्दी में "कुब्जिकामततन्त्र" के दर्शन होते हैं। तन्त्र का सारा वातावरण ही वेदिकाचार का विरोधी था और उसमें वर्ण, जाति तथा लिंगभेद को

कोई स्थान नहीं मिला था । पुराणों ने तांत्रिक धर्म का ऐसा संस्करण तैयार किया जो स्मार्त्त ब्राह्मणों को भी स्वीकृत हो सकता था और जिसके द्वारा वर्ण-व्यवस्था, ऋण, व्रतादि का प्रचार हो सकता था; परन्तु वैदिक ब्राह्मणों में यह पौराणिक धर्म सदा निंदनीय रहा । व्यास के एक श्लोक में वैदिकों का यह दृष्टिकोण स्पष्ट हो जाता है । श्लोक इस प्रकार है :—

धर्मशुद्धिम् अभीप्सद्भिर न वदाद अन्यद् इष्यते ।
धर्मस्य कोरणम् शुद्धम मिश्रय अन्यत् प्रवीतितम् ।।
अतः स पदमोधर्म : यो वेदाद अवगन्यते ।
अवर : स तु विलेयो य : पुराणदिसुस्थितः ।।

(देखिए, हाजरा, पृ० २२७)

फल यह हुआ कि स्वयं वैदिक सम्प्रदाय दो वर्गों में बंट गया : (१) विशुद्ध वैदिक (स्मार्त्त) (२) पौराणिक । बहुत दिनों तक दोनों वर्ग साथ-साथ चलते रहे; परन्तु वैदिकों की संख्या उत्तरोत्तर कम होती गई ।

शंकराचार्य ने भारतीय समाज को और भी दृढ़ किया और स्मार्त्त विचारधारा को प्रश्रय दिया; परन्तु उनमें शैव, वैष्णव तथा शाक्त विचारधाराएं भी परिपूर्णतः मिलती हैं । पंचदेवोपासना एक प्रकार से पौराणिक धर्म को स्वीकृति ही थी । शंकर का मूल विरोध बौद्ध धर्म से था । उन्होंने उसकी अनेक दार्शनिक प्रपत्तियों को अपना लिया और औपनिषिदिक आत्मवाद की इस प्रकार व्याख्या की कि वह शंकराति (ब्रह्मवाद, मायावाद) बन गया । माध्यमिक और योगाचार बौद्ध दर्शन ने जिस शून्यवादी दर्शन को विकसित किया था, वह शंकर दर्शन से बहुत भिन्न नहीं है । सरहपा की रचनाओं से यह स्पष्ट हो जाता है कि वज्रयानियों की अन्यता सम्बन्धी धारणा अद्वैतवादियों से बहुत निकट है । दर्शन से नीचे उतर कर धर्म के क्षेत्र में भी बौद्ध धर्म शैव और वैष्णव धर्मों के निकट आ गया क्योंकि जहां बौधिसत्व को शिव के रूप में कल्पित किया जाने लगा (दोनों के ध्यान, पार्श्वद तथा वाहनादि एक था) वहां उन्हें भगवान (विष्णु) भी माना गया । इस्लाम के प्रवेश के समय बुद्ध निरंजन के रूप में भी प्रसिद्ध थे । कालांतर में निरंजन-सम्प्रदाय के रूप में एक स्वतन्त्र सम्प्रदाय खड़ा हो गया जिसके अवशेष कबीर और कबीर-पंथी साहित्य में मिलते हैं ।

इस्लाम के आक्रमण ने भारतीय समाज-संगठन के सामने एक चुनौती उपस्थित की । वैदिक हिन्दू बन गये । समाज हिन्दू, मुसलमान और इन दोनों से बाहर "न-हिन्दू न-मुसलमान" वर्ग में बंट गया । यह अवैदिक वर्ग था । इस अवैदिक वर्ग के लिए इस्लाम जैसे संगठित समाज के समकक्ष खड़े रहना कठिन था । फलतः उसे हिन्दू या मुसलमान समाज में से किसी एक को चुन लेना पड़ा । अवैदिक समाज वर्गहीन था जिसमें ब्राह्मण जैसा कोई वर्ग नहीं था । उसका संगठन इस्लाम के निकट था । अतः ऐसे वर्ग बहुत शीघ्र ही इस्लाम में दीक्षित हो गये । नाथपंथी

जुलाहों का ऐसा ही वर्ग था। ये वर्ग हिन्दू धर्म में दीक्षित होने पर नीचे के सोपान (शूद्र वर्ग) पर ही रह गये। परन्तु हिन्दू संगठन में उनका प्रवेश आत्मरक्षात्मक था। इन सम्प्रदायों में गुरु का अपना महत्व था। वह पुरोहित के रूप में स्वीकृत हुआ और कालांतर में च्युत ब्राह्मण माना जाने लगा। इस्लाम में इन वर्गों ने लोकप्रिय सूफ़ी साधना और विचारधारा को अपनाया और कट्टर इस्लाम से उनका विरोध रहा। इस्लाम के भीतर सूफ़ियों के अपने स्वतन्त्र संगठन रहे हैं। इसी प्रकार हिन्दुओं में योगी (शैव) और संत वैष्णव सम्प्रदाय विकसित हुए और भक्तिवाद का प्रादुर्भाव हुआ। यह भक्ति-भाव अत्यन्त क्रांतिकारी धारणा था क्योंकि वह जाति-पांति का बहिष्कार करता था और सारे समाज को एक विराट् स्पन्दन के रूप में जोड़ता था। उदारचेता ब्राह्मणों ने इस आन्दोलन का स्वागत किया और इसके द्वारा हिन्दू समाज में नई चेतना आई। पहले यह आन्दोलन नव शूद्रों में विकसित हुआ। आलवार (दक्षिण), हरिदासी (कन्नड़), वारकरी (महाराष्ट्री) और रामानन्दी (उत्तरभारत) सम्प्रदायों का मूलाधार शूद्र ही थे। ज्ञानेश्वर और रामानन्द अवश्य ब्राह्मण थे जिन्होंने उच्च वर्णों और हीन वर्णों के बीच में सेतुबन्ध का कार्य किया। इनमें ज्ञानेश्वर तो स्पष्टतः ब्राह्मण समाज के बहिष्कृत थे और सामाजिक उदारता के कारण रामानन्द को ब्राह्मण समाज छोड़ना पड़ा था। इस प्रकार हिन्दू समाज कट्टरपंथी वैदिक ब्राह्मणों (स्मार्तों), उदाराशयी भक्तिपंथी ब्राह्मणों (वैष्णवों, शैवों) और ब्राह्मणेतर भक्त समाज में विभाजित हो गया। जैन-समाज में भी ऐसे भक्तिपंथी और रहस्यवादी वर्गों का समावेश हुआ है, यह जैन मर्मी कवियों रामसिंह मुनि और जोइंदु के काव्य से सिद्ध है। वास्तव में तन्त्रवाद और भक्तिवाद मध्ययुगीन धारणा की वे समान भूमियाँ हैं जो वर्णाश्रम-व्यवस्था का प्रतिरोध करती हैं और मनुष्य को सूक्ष्म भावसूत्रों से जोड़ती हैं। व्यवहार में वर्णाश्रम-संस्था बनी रही; परन्तु भावना में भक्ति की सामान्य भूमि पर मानव-मात्र की एकता उद्‌घोषित हुई। इस प्रकार भक्तिवाद उदार समाज-चेतना का प्रतीक बना।

उच्च वर्णीय हिन्दुओं ने इस भक्तिवाद को पौराणिकता से जोड़ा और आगमग्रंथों की भक्तिपरक व्याख्या हुई। फलतः अंतस्साधना (निर्गुणवाद) पौराणिक भक्तिवाद (सगुणवाद) में परिवर्तित हो गई और "नाम"भक्ति का स्थान रूप-लीला भक्ति ने ले लिया। इस प्रकार भक्तिवाद में इष्टदेव के ध्यान, लीला-गान तथा आन्हिक-चर्या (अष्टयाम) का प्रचार हुआ। वैष्णव भक्तिवाद में राम और कृष्ण के प्रतीक लोकप्रिय हुए और उनकी लीलाओं के नवीन संस्करण प्रचलित हुए। दोनों की लीलाओं की पौराणिक प्रकृति भिन्न थी। राम मर्यादावादी थे और वे नैतिक भूमि पर ही स्वीकृत हुए। कृष्ण लीला के वे ही प्रसंग प्रिय हुए जो प्रतीकात्मक बन सकते थे। दोनों में सामाजिक उदारता का समावेश लीला के धरातल पर हुआ। कालांतर में रूप-लीला-तत्व पर नाम-तत्त्व की प्रधानता स्थापित हुई और

इस प्रकार निर्गुण-सगुण भक्ति का भेद दूर हुआ। तुलसी के काव्य में संतुलन स्पष्ट रूप से लक्षित है।

इस प्रकार धारणा की भूमि वर्णाश्रम-व्यवस्था चलती रही; परन्तु भावना की भूमि पर भक्तिवाद ने मानव मात्र की एकता स्थापित कर दी और विराट् हिन्दू समाज को एक स्पन्दन में गूंथ दिया। वैसे 'स्मार्तों" में पंचदेवोपासना चल रही थी; परन्तु विराट् मध्यदेशीय समाज को शिव, राम और कृष्ण के तीन भक्ति-प्रतीक ही मान्य थे। मध्ययुगीन भक्तिवाद इन्हीं तीनों को घेर कर चलता है। इसमें "राम" का प्रतीक निर्गुण और सगुण भक्तों को सामान्य रूप से मान्य है यद्यपि निर्गुणियों का राम नामात्मक है, सगुणियों का पौराणिक; परन्तु दोनों ही मूल रूपों में चरम सत्ता के प्रतीक है।

आलोच्ययुगीन साहित्य की भूमिका पर से हम भारतीय समाज के संगठन को इस प्रकार रख सकते हैं :—

(१) जैन (जैन-काव्य)

(२) बौद्ध (सिद्ध काव्य)

(३) शैव (नाथ काव्य, विद्यापति की नचारियां)

(४) राजपूत-चारण-भाट (चारण काव्य या वीरगाथाकाव्य)

(५) वैष्णव हिन्दू समाज (संत काव्य) जिसमें अवैदिक भारतीय समाज की भावनाएं समाविष्ट हैं।

(६) पौराणिक हिन्दू समाज (सगुण काव्य) जिसमें अवैदिक और अर्द्ध-वैदिक समाज की मान्यताएं केन्द्रित हैं।

(७) वैदिक स्मार्त्त समाज, जिसका साहित्य हिन्दी में न होकर संस्कृत में है। यह स्पष्ट है कि प्रत्येक वर्ग के भीतर अनेक उपवर्ग हैं; परन्तु उन सब का कण्ठ-स्वर हम तक पहुंचा है और प्रत्येक वर्ग ने संस्कृत साहित्य में भी आत्मप्रकाशन किया है। इस प्रकार युग की सम्पूर्ण चेतना इनके सामासिक अध्ययन से ही प्राप्त हो सकेगी। इसी प्रकार इस्लामी समाज को भी हम कट्टर मुसलमान और सूफी मुसलमान के दो वर्गों में बांट सकते हैं। हिन्दी प्रमुखतः दूसरे वर्ग की रचनाएं सुरक्षित हैं, यद्यपि हिन्दवी और दकनी में हमें "पीरों" का भी कुछ साहित्य प्राप्त होता है। भक्तियुग में ये खण्ड चेतनाएं अखण्ड भाव का रूप धारण कर लेती हैं।

आलोच्य युग में (स्मार्त्त) समाज ही शिष्ट समाज था जिसने निगमागम को आदर्श के रूप में स्वीकार किया था। यद्यपि निगम तथा आगम के सिद्धान्त परस्पर विरोधी थे; परन्तु इस शिष्ट समाज ने दोनों को ही एक धारणा-सूत्र में पिरो कर समन्वय स्थापित कर लिया था। महाभारत और रामायण इस शिष्ट वर्ग के आचार-ग्रन्थ थे और इन ग्रंथों के द्वारा वैदिक कर्मकाण्ड तथा आगमीय निष्ठाओं में सामंजस्य स्थापित होता था। फलतः इस शिष्ट समाज का काव्यादर्श इन्हीं ग्रन्थों पर आधृत था और इन्होंने महाकाव्य-खण्डकाव्य-चम्पू तथा नाटक-साहित्य में इन

ग्रंथों का आदर्श ही पल्लवित किया है। ६०० ई० से १५०० ई० तक के संस्कृत साहित्य में हम इसी शिष्ट वर्ग (स्मार्त्त, वैदिक) की धर्मबुद्धि तथा चारित्रिक मान्यताओं से परिचित होते हैं। इसी वर्ग ने दर्शन और अन्य शास्त्रों का प्रणयन किया और स्मृति-ग्रंथ तथा निबन्ध-ग्रंथ लिखे। इस शिष्ट वर्ग में भी दो स्तरों के लोग थे। एक केवल निगम (वेद) को आस्था देता था और कर्म-काण्डी था। दूसरा, आगम, (पुराण) को भी आत्मसात करता था। इस दूसरे वर्ग ने ही आपद्धर्म के "रूप" में युग धर्म को माना और "कलियुग" की कल्पना की। इसी दूसरे वर्ग की क्रियाशीलता पुराणों के रूप में प्रगट हुई। यही दूसरा वर्ग मध्ययुग में भक्तिवाद को स्वीकार कर सका था और तुलसी का काव्य इसी वर्ग की चेतना का प्रतीक है। इसी से तुलसी "मानस" में निगमागम के साथ-साथ "क्वचिदच्योपि" कह कर अवैदिकी भक्ति-तन्त्र को पौराणिक राम-कथा के साथ संश्लिष्ट कर देते हैं।

आलोच्यकालीन हिन्दी साहित्य में हमें शिष्ट वर्ग की चेतना की प्रतीक कोई रचना नहीं मिलती। यह उसकी सीमाएं हैं। उसमें हमें अर्द्धवैदिक, अवैदिक तथा आर्येतर धर्मों (जैन, बौद्ध) का साहित्य ही अधिक मिलता है। यह साहित्य भी साधना की भूमियों को ही छूता है, सम्पूर्ण जीवन का प्रकाश उसमें नहीं है। परन्तु तन्त्र और भक्ति की नवीन भूमियां बड़ी स्पष्टता से साहित्य में उभरी हैं और उसमें युग की नई और जीवंत आस्था से हमारा परिचय होता है। यह वर्णव्यवस्था, कर्मकाण्ड, पौरोहित्य, शास्त्र, कर्मफल और जन्मांतरवाद का विरोधी साहित्य है जो नवचेतना का प्रतीक है। इस चेतना में न कलियुग की कोई कुण्ठा है, न रामराज्य की आकांक्षा। यह साहित्य वर्त्तमान में जीता है; परन्तु यह वर्त्तमान वह अविरोधी अंतर्भाव है जो भौतिक परिस्थितियों पर आधारित नहीं है। इस साहित्य में जीवनमुक्त की कल्पना है और योग, तन्त्र तथा भक्ति की साधना द्वारा इसी जन्म में मोक्ष (निर्वाण) प्राप्त करना है। मोक्ष के स्थान पर यह चेतना भक्ति को साध्य बना कर चलती है जिससे भक्ति ही परम पुरुषार्थ बन जाती है। इसीलिए यह साहित्य मनुष्य के आध्यात्मिक उत्कर्ष और तात्कालिक सिद्धि के आशावादी संदेश का वाहक है और इसीलिए परवर्ती युग में वह मध्ययुगीन मनुष्य के भीतर आशा, उत्साह, उल्लास और कर्मण्यता के अदम्य स्रोत उन्मुक्त कर सका है। "भागवत" और "मानस" इस मध्ययुगीन मानव-धर्म (भक्ति) को शिष्ट वर्गों तक पहुंचाते हैं, अतः इसी तथ्य में इन ग्रंथों की सार्वभौमिक लोकप्रियता का समावेश है।

ऐहिकतापरक साहित्य हमें केवल चारण-काव्य और अपभ्रंश-काव्य में मिलता है, और अपभ्रंश काव्य में भी "संदेशरासक", हेमचन्द्र के दोहों तथा कीर्त्तिलता-कीर्त्तिपताका जैसे ग्रंथों में उसकी अवस्थिति है। विद्यापति की "पदावली" में पर्याप्त लौकिक रस (श्रृंगार) है यद्यपि उसके प्रतीक (राधा-कृष्ण) धार्मिक हैं।

नामदेव (१२७०-१३५०) और विद्यापति (१३७५-१४५०) की रचनाओं से यह स्पष्ट हो जाता है कि १४वीं शती में वैष्णव भक्तिवाद उत्तरोत्तर उत्कर्ष की ओर बढ़ रहा था। इस दृष्टि से यह शताब्दी रामानन्द (१२९९-१४१८) की शताब्दी कही जा सकती है और कबीर (१३९८-१५१८) तथा रैदास जैसे भक्तों में यह भक्तिवाद नए समन्वय की ओर बढ़ता है। उसका सगुण भक्तिपरक रूप जयदेव के "गीतगोविन्द" तथा "भागवत" के व्यापक प्रचार में सूचित है। इसी परम्परा का प्रभाव विद्यापति और चन्डीदास पर पड़ा है।। फलस्वरूप उनकी साहित्यिक और व्यक्तिमूलक शृंगारसाधना इन ग्रंथों के संदर्भों में ही प्रकाशित होती है और इनकी सशक्त अभिव्यंजना ही कालान्तर में युग-धर्म बन जाती है। अतः इन कवियों की रचनाओं को हम ऐतिहासिक काव्य और सगुण भक्तिवाद के बीच की कड़ी कह सकते हैं। परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि १५वीं शताब्दी में भक्तिवाद तांत्रिक (निर्गुण) और पौराणिक (सगुण) दोनों भूमियों पर क्रियाशील था और यदा-कदा संस्कृत रचनाओं में भी इन भावनाओं की अभिव्यक्ति हो-जाती थी। वह नई संगीत-पद्धति, भाषा तथा साधनात्मक व्यक्तित्व का आकांक्षी था। १६वीं शताब्दी में इन तीनों भूमियों की योजना होने पर हमें ब्रजभाषा का पद-साहित्य प्राप्त होता है जो महाराज मानसिंह द्वारा प्रवर्तित ध्रुपद-शैली और विष्णुदास द्वारा प्रयुक्त ब्रज-भाषा को महान साधकों के प्राणतंतुओं से बांधता है। फलस्वरूप, १६वीं शताब्दी में संगीत, साहित्य और साधना की एक त्रिवेणी बह जाती है और इस शताब्दी का साहित्य हिन्दी साहित्य में स्वर्ण युग का निर्माण करने में सफल होता है। शताब्दी के अन्त में इसे तुलसीदास के साहित्य के रूप में शिष्ट समाज का समर्थन भी प्राप्त होता है।

ऊपर के विवेचन से आलोच्यकालीन साहित्य की समाज शास्त्रीय भूमियां स्पष्ट हो जाती हैं और उसे हम वर्गचेतनाओं तथा पूर्वतन प्रवृत्तियों से सम्बन्धित कर सकते है। मध्य युग सम्प्रदायों का युग है; परन्तु इस युग की भक्तिभावना सम्प्रदायों में सम्पूर्णतः बंध नहीं पाई है। वह उन्हें ओत-प्रोत कर बाहर निकल पड़ी है और उसे हम अतिरिक्त दान के रूप में प्राप्त करते है। उसने युग के ताप को आलोक में बदल दिया है। संहार, विद्वेष तथा असहिष्णुता के इस युग में प्रेम की बांसुरी बजाना सरल कार्य नहीं था। जहां युग की प्रतिरोधी चेतना ने एक ओर राम की ओर इंगित किया जिनका कोदण्ड काल था, और जो मर्यादा, चरित्र और संरक्षा (त्राण) के प्रतीक थे, वहां दूसरी ओर कृष्ण की वंशी की अप्रत्याहित ध्वनि युग-मानस में गूंज उठी जिसने उसे सौंदर्य, माधुर्य तथा प्रेम से परिप्रोत किया। एक में शक्ति और शील (सदाचार) की साधना थी तो दूसरी में माधुर्य और सौंदर्य की अकांक्षा थी। इन दो पूरक प्रतीकों ने मध्ययुग के खण्डित व्यक्तित्व को जोड़कर फिर एक बार अखण्डित, असंवादः तथा परिपूर्ण की इकाई की सृष्टि की। उच्च वर्णों के लिए राम आस्था के केन्द्र थे क्योंकि उनके संरक्षा (त्राण) का भाव प्रतीकबद्ध था।

नवदीक्षित अवैदिक संस्कार-सम्पन्न हीन वर्णों में सामाजिक तथा आंतरिक एकता की अकांक्षा जाग्रत थी जो कृष्ण के उल्लासपूर्ण, अकुंठित तथा आनन्दी व्यक्तित्व में रूपायित थी। इन प्रतीकों में परस्पर आदान-प्रदान के प्रमाण भी मिलते हैं; क्योंकि जहां कृष्ण-भक्त कवि कृष्ण की असुर-वध लीलाओं को भी आंशिक रूप से अपनी आस्था का विषय बनाते हैं, वहाँ रामभक्त तुलसी "राम-गीतावली" मे माधुर्य और सौंदर्य के भी साधक बन जाते हैं। अट्ठारहवी और उन्नीसवीं शताब्दियों में राम-भक्ति का यह कोमल पक्ष ही अनेक रसिक सम्प्रदायों के साहित्य के रूप में अभिव्यक्त हुआ है और छत्रसाल जैसे प्रचंड शासक की मनोभूमि में राधा कृष्ण की मधुर भक्ति प्रतिरोधी हिन्दू संस्कारों में मूर्तिमान हुई है। राम-भक्ति जहां मध्यदेशीय संरक्षणशीलता का भावोद्रेक है, फलतः पुनरोत्थानवादी और आदर्शवादी है, वहाँ कृष्णभक्ति उन नवीन जातियों के बन्धनमुक्त भावोच्छवास और शृंगारी चेतना की अभिव्यक्ति है जो हिन्दी प्रदेश के पश्चिम भाग (व्रज, राजस्थान, विन्ध्य और मालवा) में निवसित हुई थीं और जिनके वेदविरोधी संस्कार इस प्रदेश के प्राचीन वेदविरोधी सम्प्रदायों (पाशुपत, पांचरात्र, लकुलेश आदि) से मेल खाते थे। इस प्रकार मध्य काल में भी मध्यदेश दो भागों में बंटा रहा। पश्चिमी भाग अधिक द्रवणशील, भावुक तथा स्वच्छन्द था, पूर्वी भाग आदर्शप्रवण, मर्यादावादी तथा परम्पराबद्ध। काशी और मथुरा नगरियाँ इन दो प्रकार की चेतनाओं को प्रतीक हैं। काशी संरक्षणशील है, मथुरा समन्वयवादी। पहली में मध्यदेश का पाण्डित्य मुखरित है तो दूसरी में उसकी भावुकता ध्वनित है। १९वीं शताब्दी तक मथुरा मध्यदेश का द्वार थी जिससे मध्य ऐशिया और ईरान की चेतना भीतर पहुंचती थी। मथुरा की मूर्तिकला से लेकर तद्देशीय ध्रुपद-संगीत और सूफ़ी काव्य तक इस समन्वय की एक परम्परा चलती है। मध्ययुग के हिन्दी साहित्य के अंतरंग में प्रवेश करने के लिए इस तथ्य की जानकारी भी आवश्यक है।

समाजशास्त्रीय अध्ययन की दृष्टि से हम आदिकालीन हिन्दी काव्य को संस्कृत काव्य तथा साहित्य से भिन्न स्तर पर रख सकते हैं; क्योंकि उनके दो भिन्न वर्गों एवं स्तरों की चेतना सुरक्षित है। संस्कृत का साहित्य शिष्ट वर्ग (ब्राह्मण वर्ग) की चेतना और उसके आत्मरक्षी, संकोच तथा संशयालु संस्कारों की अभिव्यक्ति है तो तत्कालीन अपभ्रंश और हिन्दी काव्य आत्मस्थ, आत्मप्रसारक तथा समन्वयात्मक संस्कारों को लिपिबद्ध करता है। उसमें मध्ययुग की ऊर्ध्वोन्मुख मनीषा के दर्शन होते हैं। दोनों दो कोटियों की रचनाएं हैं और उनके भावस्रोत एवं मनोभूमियां भिन्न तथा विरोधी तत्वों से संगठित हैं। जहां युगधर्म से प्रभावित होकर दोनों चेतनाएं परस्पर स्पर्श करती हैं, वहां दोनों में एक ही स्वर झंकृत होने लगता है; परन्तु समानता की अपेक्षा विभिन्नता ही अधिक है। मध्ययुग के आचार्य इन दोनों चेतनास्तरों को एक केन्द्र में लाने की चेष्टा करते हैं और उनके माध्यम से पूर्ववर्ती पुराण-साहित्य भी मध्ययगीन चेतना में आत्मसात हो जाता है; परन्तु नीचे उतरने

पर उसका स्वर बदल जाता है और पौराणिक प्रतीक नये अर्थ ग्रहण कर लेते हैं। सच तो यह है कि समाज के हीन वर्णों तथा अवैदिक जनता की प्रबल और दुर्दमनीय चेतना बहुत समय तक उपेक्षणीय नहीं रह सकती थी। नीचे के इस दबाव को आचार्यों ने स्वीकार किया और ब्राह्मण समाज में प्रतिष्ठित आधारग्रंथों की ऐसी नई व्याख्याएं प्रस्तुत कीं जो नवीन भक्तिवादी चेतना को स्वीकार कर लेती थीं। "प्रमाणत्रयी" (उपनिषद्, ब्रह्मसूत्र और गीता) मध्ययुगीन वैष्णव दर्शन के तीन प्रमाण-ग्रंथ हैं। बाद को जब बल्लभाचार्य ने इन प्रमाण-ग्रंथों में "भागवत" को जोड़कर प्रमाण-चतुष्टय की प्रतिष्ठा की तो मध्ययुगीन दार्शनिक समन्वय केवल बुद्धिवादी न रह कर प्रतीकबद्ध साक्षात्कार बन गया और उसके द्वारा काव्यदृष्टि में पर्याप्त नवीनता का प्रवेश हुआ। भागवत मध्ययुगीन सगुण भक्ति का केन्द्रीय ग्रंथ है। अध्यात्म रामायण के माध्यम से तुलसीदास के "मानस" पर भी उसका प्रभाव लक्षित है। भागवत को नवीं शताब्दी के बाद की रचना बतलाया जाता है और अध्यात्म रामायण और भी उत्तर काल की रचना है। अतः यह कहा जा सकता है कि इन ग्रंथों की प्रतिष्ठा ने लोकमानस को शास्त्र का बल दिया और शिष्ट मानस ऊहापोह के क्षेत्र से बाहर निकल कर भाव-साधना के क्षेत्र में आया। १६वीं शताब्दी में सूरदास और तुलसीदास इन दोनों ग्रंथों में "भाषा" में रूपान्तरित करते है; परन्तु उनकी साधना और साहित्य-प्रतिभा इन्हें एकदम नवीन कोटि की रचना बना देती है। स्थान-स्थान पर ये कवि सनातन (वेद, निगमागम तथा भागवत) की दुहाई देते हैं तो कवियों का ध्येय शिष्ट ब्राह्मण को आश्वस्त करना तथा अवैदिक भक्त वर्ग को उच्च वर्णों में सम्मानित महान ग्रंथों की मान्यता देना ही है। इस प्रकार भक्ति-आन्दोलन वर्गीय, एकांतिक तथा संकोची न रह कर सार्वभौतिक, आत्मप्रसारक तथा सम्पूर्ण रूप से सहिष्णु बना। उसकी "अनन्यता" में अन्य इष्टदेवों की अस्वीकृति नहीं है, विशिष्ट इष्टदेव के प्रति तन्मयता गम्भीरता की ही द्योतक है। भक्ति की अंतरंगी भूमि पर मध्ययुग के समस्त वर्ण, वर्ग, सम्प्रदाय और साधना-मार्ग एक व्यापक संवेदन में गुंफित हो जाते हैं। इस एकता की अनुभूति ने ही मध्ययुग के काव्य में उल्लास, आनन्द तथा तादात्म्य के स्वर भरे हैं। इस भूमि पर वह पुराणों की चेतना से भिन्न है जो स्मृतियों से जकड़ी है और आत्मरक्षा के लिए कलियुग, अवतारवाद, आपद्धर्म तथा स्वधर्म की योजना करती है। भक्तों के लिए भक्ति ही सब कुछ है। वह युगुतर है, आत्मधर्म है। वह आनन्द की भूमि है। वह मात्र सुरक्षा का साधन नहीं है, वह श्रेष्ठ आत्मदान है। इस प्रकार आलोच्य युग की विभिन्न साधनाएं भक्ति को जन्म देकर ही पूर्णता को प्राप्त होती हैं। स्मृति-शास्त्र, आचार-व्यवहार की मर्यादा में बंधा हुआ मध्यदेशीय समाज आलोच्ययुग में जीवन के नव स्पन्दन का अनुभव करता है और तंत्र, योग तथा भक्ति सम्बन्धी साधनाएं तथा भावनाएं उसके पुरातन शरीर में नवीन आत्मा का संचार करती हैं। गुप्तयुग क्लासिकल यग है। उसमें परम्पराओं का बड़ा महत्व है और मर्यादाओं ने जीवन

को सुष्ठ, विशिष्ट और चमत्कारक बना दिया है। इसीलिए उस युग में सभी क्षेत्रों में प्रौढ़ता का बड़ा ऊंचा स्तर मिलता है। आलोच्य काल में असंस्कृत, उच्छृंखल तथा हासप्रमोदमयी मध्य एशियाई जातियों तथा देश के आदिम जातितत्वों के समावेश से गुप्तकालीन सांस्कृतिक समन्वय नष्ट हो जाता है और समस्त आलोच्य-युग में हमें द्वन्द्व की स्थिति दिखलाई देती है। सभी क्षेत्रों में नवीनता का जन्म होता है। साहित्य में नए काव्यरूप, छंद, प्रतिमान, भाषा। संगीत में राग-रागनियों पर आधारित नई देशी संगीत-शैली जो मात्रा-संगीत को प्रधानता देती थी और जिसमें आर्ष (मार्ग) संगीत का स्पष्ट विरोध था। स्थापत्य और मूर्तिकला के क्षेत्र में भी नए, तरल तथा स्वच्छन्द मानो को प्रयोग होता है। इसी प्रकार साधना का स्वरूप ही बदल जाता है और वह सामूहिक तथा सामाजिक न रह कर व्यक्तिगत हो जाती है। धीरे-धीरे उसमें नैकट्य-भावना बढ़ती जाती है और अंत में वह गुह्य चर्याओं, अवचेतनीय समारंभों तथा माधुर्यपूर्ण प्रतीकों का रूप धारण कर लेती है। एक तरह यह कहा जा सकता है कि आलोच्ययुग में ही प्राचीन भारत मध्ययुगीन भारत की ओर मोड़ लेता है और एक नये स्वच्छन्दतावादी युग का जन्म होता है। स्पष्ट है कि इस युग के शिष्ट वर्ग की चेतना अतीत के साथ है और वह स्मृतियों, निबन्धों तथा पुराणों की रचना के द्वारा जनसामान्य की स्वच्छन्द प्रवृत्तियों एवं हलचलों को अनुशासित करना चाहता है; परन्तु युगधर्म नई शक्तियों को पहचानता है और जनता अपढ़ सिद्धों, योगियों, सूफियों तथा भक्तों को आदर देती है। सरहपा, मुनि रामसिंह, गोरखनाथ, फरीद, कबीर, नामदेव और नानक जहाँ एक ओर इस नये युगधर्म को वाणी देते हैं, वहां विष्णुदास जैसे वैष्णव कवि पौराणिक चेतना को सगुण भक्ति की ओर अग्रसर करते हैं। १५वीं शताब्दी का अन्त होते-होते मीरा और सूरदास में जन्म लेकर यह सगुण वैष्णव चेतना उस महान देशव्यापी आन्दोलन का श्रीगणेश करती है जो अवैदिक परम्पराओं को वैदिक परम्पराओं में इस प्रकार एकीकृत कर देता है कि हम आश्चर्यचकित रह जाते हैं। इस भक्तिवाद ने ही अनेकानेक वर्गों, सम्प्रदायों तथा समाजों को एक महान सूत्र में गूंथ कर हिन्दू समाज को जन्म दिया। इसमें संदेह नहीं कि सामाजिक क्राँतिकारित की दृष्टि से भी भक्ति आन्दोलन कम महान् नहीं था।

●

: ६ :

मध्ययुगीन धर्मसाधना और महागुरु रामानन्द

हिन्दी साहित्य की चौदहवीं शताब्दी एक प्रकार से रामानन्द (१२९९-१४१८) की शताब्दी कही जा सकती है क्योंकि इस शताब्दी से उत्तर भारत के धर्मक्षेत्र में सबसे क्रियाशील और प्रभावशाली व्यक्तित्व उन्हीं का है। नामदेव (१२७०-१३५०), राघवानन्द (आ० १३२५) और रामानन्द (१२९९-१४१८) चौदहवीं शताब्दी के वैष्णव भक्ति-आन्दोलन के त्रिमूर्ति कहे जा सकते हैं और परवर्ती धाराओं के मूल स्रोतों के अध्ययन के लिए हमें बारम्बार इन्हीं की ओर मुड़ना पड़ता है। इस भक्ति-आन्दोलन में जहां प्राचीन भारत की पुराण-संस्कृति और स्मार्त्त नैतिकता के स्वर जगे हैं, वहां महायान और वज्रयान-मंत्रयान का भी बहुत कुछ आत्मसात हुआ है। यह कहना कठिन है कि इस्लामी मतवाद से उसने क्या लिया है; परन्तु इस्लामी साधना के संदर्भों का व्यापक उपयोग सूक्ष्म प्रभाव को ही सूचित करता है। वास्तव में समन्वय और विरोध के अनेक सूक्ष्म तत्वों से ही मध्ययुग की वैष्णव संस्कृति का स्वरूप संगठित हुआ है और इस द्वन्द्व के स्पष्ट चिन्ह उसके व्यक्तित्व में दिखलाई पड़ते हैं। सप्राण, जाग्रत और क्रियाशील भावचेतना के रूप में मध्ययुग का वैष्णव साहित्य जहां भी इन द्वन्द्वों से ऊपर उठकर एक मनोरम स्वप्न-देश का निर्माण कर सका है, वहां वह युग के यथार्थ की भूमि पर इस्लाम के अप्रतिहत प्रसार के विरुद्ध भावक्षेम चुनौती की लौह-दीवार भी खड़ी कर सका है। इस प्रक्रिया को समझने के लिए हमें पूर्वोक्त तीनों साधकों की हिन्दी रचनाओं से परिचित होना आवश्यक हो जाता है; परन्तु युगान्तकारी चेतना का सीधा सम्बन्ध महागुरु रामानन्द से ही है। वही इस युग के शीर्ष पुरुष हैं।

रामानन्द की हिन्दी रचनाओं में उनकी अंतस्साधना का स्वरूप स्पष्ट रूप से व्यजित है। यह अंतस्साधना सूक्ष्मदर्शी है, निर्गुण-निराकार को लेकर चलती है और कर्मकाण्ड को पीछे छोड़ कर सीधी भावभूमि पर आती है। "राग वसंत" पद में रामानन्द सर्वात्मिन् और अंतर्यामिन् ब्रह्म की एकात्मता पर बल देते हैं। इसीलिए वह "रामानन्द रमै एक ब्रह्म" कह कर कर्मकाण्ड को बाधित कर देते हैं। जहां जाइये, घर का रंग चढ़ा ही रहता है। चित्र चलता नहीं और मन पंगु हो गया है।[1]

१. **"कहां जइये घरिहौं लागौ रंग।**
मेरो चित्त न चलै मन भयौ अपंग॥ **(राग बसंत, टंक)**

गुरु ने बताया कि ब्रह्म का निवास तो आत्मा में ही है।[1] इस आत्मस्थित ब्रह्म की प्राप्ति के लिए रामानन्द ने मानसी-सेवा की योजना की है। उनके एक पद में सेवा-भाव की विस्तृत स्वरूपणा है।[2] इसे उन्होंने "अंतर सेवा" भी कहा है। नामदेव और कबीर ने इसे "सहज साधना" अथवा "सहज समाधि" कहा है। इस "सहज साधना" के मूल में बौध सहजयान की मान्यताएं हैं जिसका प्रवर्त्तन इन्द्रभूति की बहन लक्ष्मीकरा के द्वारा हुआ था।[3] सरहपा ने अपने "दोहा-कोष" में सहज तत्व की विस्तृत और सूक्ष्म व्याख्या उपस्थित की है; परन्तु उनका उद्देश्य सहज साधना की दार्शनिक भूमि को उद्घटित करना है, उसकी मनोभूमि का पता हमें शवरिपा आदि सिद्धों में ही अधिक मिलता है जिन्होंने अपने चर्या-गीतों में अद्वय स्थिति का बड़ा सुन्दर रूपकात्मक वर्णन प्रस्तुत किया है।[4] परन्तु इस मानसी अथवा अंतरंगी साधना के फलस्वरूप साधक को जिस उच्चतम मनोवृत्ति की उपलब्धि होती है उसके सम्बन्ध में रामानन्द निर्भ्रान्त हैं। वह कहते हैं : "अब हृदय से सहज का भाव कहीं नहीं जायगा। मैं नित्य सहज-शून्य में निवास करता हूं। न वहां इच्छा है, न ऊंकार, न नाभि, न सहस्रार। न ब्रह्मा-शिव-विष्णु। न वहां माया का ऐश्वर्य है।" उस सहज में रामानंद स्वामी अखण्ड भाव से रमण करते हैं।[5] "रमैं" शब्द से यह प्रगट है कि चर्यापदों की वज्रयानी अद्वयता (युगनद्धता) का भाव इस सहज साधना के भीतर परम्परित रूप से स्थित है। जो हो, यह स्पष्ट है कि सहजयान की सहज साधना जहां सहजिया सम्प्रदाय के माध्यम से बंगाल के वैष्णवों को प्राप्त हुई, वहां स्वयं संत-साहित्य के भीतर ही उसकी एक स्वतन्त्र स्थिति है। "योग-चिंतामणि" और "ग्यानतिलक" जैसी रचनाओं से योगी विचारावलि की ही प्रधानता है; परन्तु वज्रयानियों के "सहज" की स्मृति बराबर बनी है।[6] यह स्पष्ट है कि रामानन्द की

---

१. **गुरि ब्रह्म बतायो आप मांहि।** **(राग बसंत टेक)**

२. **चरण सालगराम (परिशिष्ट-२, पृ० २७)**

३. **देखिये, वही—बाहर भरम कभू नहिं जाऊं,**
अंतर सेवा जागी ॥१३॥

४. Vide, Cultural Heritage of India, Vol. III.

५. **सहज सुन्न में किति बसंत। अवहि असहि जिनि जाय अंत ॥**
न तहाँ इच्छ्या ओं अंकार। न तहाँ नाभि न नालि तार ॥
न तहां ब्रह्मास्यौ बिसन। न तहां चौबीसू बप बरन ॥
न तहां दीसै मामा मंद। 'रामानंद' स्वामी रमै असंद ॥
(रामानंद की हिन्दी रचनाएं, पृ० ८)

६. **सहजैं सहजैं सब गुन गाहला। भगवंत भगता एक थिर थाहला ॥**
(रामानन्द की हिन्दी रचनाएं, पृ० ८)

संतो बंदगी दीदार। सहज उतरो सागर पार ॥ **(वही, पृ० ९)**

साधना अंतर्मुखी प्रतिक्रियाओं पर आधारित है और उनका योग "हठयोग" से भिन्न "भावयोग" है जिसमें भक्ति के तरल तत्वों का भी समाहार है। रामानन्द के साहित्य और उनकी भावधारा में सिद्ध (वज्रयानी), नाथ (योगी), सूफी और वैष्णव परम्पराएं इस प्रकार घुलमिल गई हैं कि उन्हें अलग करना असम्भव है। विशुद्ध भावभूमि पर स्थिर रहकर और कर्मकाण्ड के तिरस्कार के द्वारा ही वह यह समन्वय स्थापित कर सके हैं। वह स्पष्ट कहते हैं कि धूप ज्ञान की हो, पुष्प मन, पंच हुताशन इन्द्रियाँ, जाप क्षमा और समाधि पूजा।[1] राघवानन्द की रचना "सिद्धान्त पंचमात्रा" में योगधारा और वैष्णव भक्ति के कर्मकाण्डों का समान उपयोग हुआ है; परन्तु आंतरिक प्रेम की भूमि पर दोनों की एकात्मता स्थापित नहीं हुई है।[2] नामदेव में यह समन्वय उसी आंतरिक रूप में प्रगट है जो रामानंद में प्राप्त है; परन्तु रामानंद ने नामदेव की परम्परा को आगे ही बढ़ाया है, पीछे नहीं लौटाया है। "भगति जोग" ग्रंथ में यह समन्वयात्मक भूमि बड़ी विशदता से वर्णित है। इस ग्रंथ में मध्ययुगीन भक्ति-आन्दोलन की नैतिक भूमि का समंस्त विस्तार आ गया है। ग्रंथ के अंत में भक्ति-मार्ग को विशिष्ट (अननि, अनन्य) और रहस्यमय कहा गया है जिसकी शिक्षा गुरुमुख से ही प्राप्त हो सकती है।[3] यह स्पष्ट है कि मध्ययुगीन वैष्णव-भक्ति "रहस्य" (गुह्य) साधनाओं पर आरोपित हुई है जिनका लक्ष्य सिद्धि है। इसी से उसे भी रहस्यमय बनना पड़ा है। रामानंदी साहित्य में योग और भक्ति के दो स्वर एक साथ सुनाई पड़ते हैं यद्यपि चमत्कारी स्वर भक्ति का ही है, परम्परित "योग" का नहीं। एक प्रकार से हम भक्ति-भावना को योगधारा पर स्पष्ट रूप से आरोपित देखते हैं। भारतीय मन की समन्वयशीलता और तज्जन्य प्रक्रिया को समझने के लिए यह साहित्य महत्वपूर्ण है। वास्तव में साधना और काव्य का लक्ष्य भक्ति हो गया है; परन्तु पारिभाषिक शब्दावली योग की चल रही है। इसमें संदेह नहीं कि यह पद रामानंद की भावधारा का बड़ी सुन्दरता से प्रतिनिधित्व करता है। इस पद में भक्ति-साधना के उपकरण इस प्रकार बतलाए गए हैं : (१) दृढ़ वैराग्य (२) आस्तिकता (ईश्वर के प्रति विश्वास अथवा अनन्य भाव) (३) अपरिग्रह (४) ब्रह्मचर्य (५) उन्मनि (६) माया-मोह एवं आशा-तृष्णा का परित्याग (७) शील, क्षमा, धैर्य, दया (८) गरीबी (दीन गरीबै राखै पासा) (९) निर-

---

१. ज्ञान धूप मन पुष्प इंद्रिय पंच हुताशानम्।
क्षमा जाप समाधि पूजा नमो देव निरंजनम्॥ (रामरक्षा २)

२. जैसे— तुलसी की माला हाथ सुमरणी,
रोम रोम योगेसुर वरणी। (सि० पं०, ६—७)

३. राह भगति अननि है, बिरला पावै भेद।
भाग हुवो ते पाइये, कहै रामानंद गुरुदेव॥
(भगति जोग, १४)

पक्षता (तटस्थ वृत्ति) (१०) अमानीत्व (११) समस्त प्राणियों के प्रति समभाव (अद्वैतमूलक समत्वदृष्टि) (१२) निर्वेद (१३) गुरुभक्ति (गुरु को सबद लै हिरदै धरिहै) (१४) सारग्राहिता (१५) "सहज" (१६) मानसी-सेवा (१७) निष्काम-भाव (१८) ज्ञान की महत्ता (१९) अनहद (२०) समर्पण-भाव (२१) विह्वल-भक्ति (२२) नैकट्य-भावना (२३) अखण्ड योग (अद्वय स्थिति)।[1] इस रचना में गृही और बनवासी को समान महत्व दिया गया है। असली चीज़ है तटस्थ वृत्ति (उन्मनि या उदास-वृत्ति)। बौद्ध धर्म में गृही को महत्व नहीं मिला है; क्योंकि संघबद्ध आध्यात्मिकता ध्येय है। भक्तिवाद के नये आन्दोलन के द्वारा गृहस्थों की अवमानना समाप्त हुई और पहली बार अध्यात्म-साधना को लोककंठ मिला।

यह स्पष्ट है कि भक्ति का आन्दोलन पलायन नहीं था; परन्तु उसके द्वारा इहलौकिक जीवन में अध्यात्म की भूमियां परम माननीय हुईं। अवतारवाद के सूक्ष्म सूत्र द्वारा परोक्ष और प्रत्यक्ष, लोक और परलोक एक ग्रंथि में बंध गए थे। रामानंद के साहित्य में यह मिलनबिन्दु स्पष्ट है जो निर्गुण-सगुण की एकात्मता प्रदान करता है। "राम अष्टक" दशरथनंदन असुर-गुंजन श्रीराम को "पूरन ब्रह्म" (पूर्ण ब्रह्म)

---

१. प्रथम पकड़े दिर बैराग, गहे बिसवास करै सब त्याग।
इंद्री जीति रहै उदासा, अथवा गृह अथवा बनवासा।
माया मोह करै नहीं काहू, रहै सबन सूं बेपरवाहू।
कनक कामणि का करै न संगा, आसा तिसना धरै न अंगा।
सील भाव छम्या उर धारै, धीरज संहत दया दया ब्रत पारै।
दीन गरीबी रासे पासा, देखै निरपस होइ तमासा।
मानि महातम कछू न चाहै, ऐक दाना सदहा निरवाहै।
रावरंक की मंक न आंणं, कीड़ी कुँजर एक करि जाणैं।
बैर भाव कासूं नहिं करि है, गुरु को सब्द ले हिरदै धरिहै।
सार गहै कूकान सब नासै, रमता राम वृष्ट करि रासै।
आनदेव की बरै न मेदी, पूजै एक निरंजन देदी।
मन माहीं सद सूज ज रासै, बाहरि के बंधन सब नासै।
मुनि से मंदिर अधिक अनूपा, ज्यामैं मूरति ज्योति सरूपा।
सहैज सिंहासन बैठे स्वामी, आगैं सेव करैं गुलामी।
उदक सील सनान करावै, प्रेम प्रीति का पोहोप चढ़ावै।
भाजेन भाद धरैले आगै, मनमा लया कहू न मांगै।
ग्यांन दीप आरती उतारै, घंटा अनहद सबद उचारै।
तन मन सकल अरपन कर ही, दींन होइ फुंमि पादन परही।

आदि—(भगति जोग ग्रंथ, परिशिष्ट ४, पृ० ५४—५)

माना है और यद्यपि वेह "जीव" को राम मानते हैं और उसके तथा पूर्ण ब्रह्म राम के एकत्व की भी घोषणा करते हैं, तथापि यह निश्चित है कि वह रामकथा के रूपक-रूप से भी परिचित है।[1] राम के सगुण रूप का ध्यान भी इस अष्टक में मिलता है। इस प्रकार रामानंद का व्यक्तित्व भक्ति-युग के अन्य साधकों से भिन्न सम्पूर्ण, संयोजित और संश्लिष्ट दिखलाई देता है। ऐसा लगता है कि अनेक दिशाओं से चलने वाली उस युग की सारी विरोधी रेखाएं उनके व्यक्तित्व के महाविन्दु पर मिलकर एकाकार हो गई है। वज्रयान ने अंतर्मुखी और अवचेतनीय प्रवृत्तियों का संग्रह किया था परन्तु वहिर्जीवन के लिए वह कोई दृष्टि नहीं दे सका। भक्तिवाद में यह संतुलन पहली बार स्थापित हुआ; परन्तु यह संतुलन समष्टि की भूमि पर नहीं चल सका और निर्गुण-सगुण को लेकर दो अखाड़े खड़े हो गये। यह अवश्य है कि तुलसी जैसे कुछ महामनीषियों ने दोनों भावभूमियों के समानान्तर या समकालिक ग्रहण का आग्रह किया और वह अपने प्रयत्न में सफल रहे; परन्तु सब कहीं यह संतुलन उतनी दूर नहीं पहुंच सका। रामानन्द ने योगी-परिभाषावली का भी विस्तृत उपयोग किया है और उनके गुरु राघवानन्द की रचना "सिद्धान्त पंचमात्रा" में योग की भूमि ही प्रधान नज़र आती है। जो हो, राघवानन्द से कबीर, नानक और दादू तक भक्ति-भाव के अनेक स्तर हैं और रामानन्द में ये अनेक भावस्तर सूक्ष्म रूप से मूर्त्तिमान हो गए हैं। रामानन्द का निर्गुण स्वरूप उनके कुछ हिन्दी पदों और उनके निर्गुनिए शिष्यों की रचनाओं में मिलता है और उनका सगुण स्वरूप "रामार्चन-पद्धति" तथा "वैष्णवमताब्ज-भास्कर" में मिलता है जो संस्कृत रचनाएं हैं। उनके "निर्गुण" स्वरूप में भक्ति के साथ योगाचार की भी स्वीकृति है। वास्तव में योग की उर्वरा भूमि पर ही भक्ति का बीज पड़ने पर रामानन्दी भक्ति-भाव का जन्म हुआ। लोकप्रसिद्धि है कि रामानन्द के गुरु राघवानन्द महायोगी थे। उनकी रचना "सिद्धान्त पंचमात्रा" में योग की चर्चा ही अधिक है, भक्ति तो प्रासंगिक ही जान पड़ती है। रामानन्द में स्थिति ठीक इसके विपरीत होगी, ऐसा निश्चित है; परन्तु उनकी सभी रचनाएं हमें प्राप्त नहीं हैं। उनके साहित्य का "नामस्मरण" सहज और अद्वय (अद्वैत) तत्व मन्त्रयान, सहजयान और व्रजयान की सूचना है। महायानी भक्ति-भाव में पूजार्चना की प्रधानता थी और वैष्णवों की वैधी भक्ति का रूप उससे बहुत भिन्न नहीं है। रामानन्द के संस्कृत ग्रंथों में वैधी भक्ति का ही प्राधान्य है। परवर्त्ती संतों-भक्तों की गलिदाश्रुता उनमें नहीं है यद्यपि "भावभगति" का वह स्वरूप उनमें खूब मिलता है जो कबीर की विशेषता है और

---

१. **सत्य सीता भ्रात लछतन धनुषधारी श्रीराम हैं।**
चित्रकूट तपलोक कहीये श्रीदाम जीव पूरन ब्रह्म है ।।२।।
(सीता सत्य, लक्ष्यसंधानी मन लक्ष्मण भाई है, जीव धनुर्धारी राम।
चित्रकूट (त्रिकुटि) इन्हीं राम का तप-लोक है)।

जिसे हम "द्रविड़ भक्ति" कह सकते हैं।[१] इसे ही उत्तरी भक्तों ने (रागानुराग) भक्ति कहा है। सूफ़ी साधकों ने आत्यंतिक विरह-निवेदन से भी वह परिचित थे, ऐसा फारसी शब्दों और सूफ़ी संदर्भों के प्रयोग से जान पड़ता है।[२] इस प्रकार रामानंद के भक्ति-भाव में बौद्ध साधना (सिद्धमत), योग, सूफ़ी साधना और द्रविड़ भक्ति का वह विचक्षण योगायोग है जो मध्ययुग के निर्गुण-मतवाद का प्राण है। उसमें सगुण भावना कहां तक समाहृत हो सकी है, यह केवल अनुमान का विषय रहेगा; परन्तु यह निश्चित है कि परम्परा उन्हें सगुण भक्तों से भी जोड़ती है और उनके नाम पर एक रामावत सम्प्रदाय (रामानन्दी वैष्णव सम्प्रदाय) भी चल रहा है। यदि यह सच है तो रामानन्द जैसी व्यापक भावभूमि मध्ययुग के किसी भी संत अथवा भक्त को प्राप्त नहीं है, तुलसी को भी नहीं, क्योंकि उसमें निर्गुण-सगुण का भेद समाप्त हो जाता है। संभव है, महाराष्ट्र के वारकरी सम्प्रदाय की साधना और उसके भक्ति-सम्बन्धी दृष्टिकोण से रामानन्द प्रभावित हों; क्योंकि नामदेव और अन्य वारकरी सन्तों में सगुण भक्ति निर्गुण भक्ति का ही प्रथम सोपान है और दोनों

देखिए, 'रामार्चन-पद्धति'

मगन होइ नांचै अरगावै। गद गद रोम अचल होइ आवै।
सेवा भाव कभू नहीं चोरै। दिन दिन प्रीति अधिकी जोरै॥
ज्यूं पतिब्रता रहे पीव पासा। यूं साहिब कै टिग रहे दासा॥
कोउ दैस भूलि गति जादो। पतिबरता पति ले निरवादौ॥
(भगति जोग, पृ० ५४)

२. **आये साहिब के हलकारा (ग्यानलीला, ६)**
साहिब (वही, ७)
फकीरी अदल सहसाही (योगचितोभास, ६)
बंदगी दीदार (वही, ६)
राम रोसनाई (वही, ६)
बाजा गैब का बाजे (वही, ६)
कुदरक (वही, ६)
जददक (जदीद) मसाल (वही, ६)
दरियाव (वही, १०)
मोहवत (वही, १०)
मुहरम (वही, १०)
झंडा रोपा गैमव का (वही, १०)
निसेर्फ (ग्यांन तिलक, १०)
अदली अदल (वही, ११)

में कोई विरोध नहीं है। स्वयं नामदेव विठोवा की भक्ति को अपने उत्तर जीवन की निर्गुण भक्ति से पल्लवित कर सके हैं, जैसा उनके साहित्य से प्रगट है। सम्भव है, रामानन्द की अन्य रचनाओं का उद्घाटन होने पर हम उनके सम्बन्ध में निश्चियात्मक रूप से कुछ अधिक जान सकें; परन्तु सम्भवतः इससे उनके मूल्यांकन में कोई अन्तर नहीं पड़ेगा। वे निश्चय ही मध्ययुगीन धर्म साधना के आदि स्रोत और महा गुरु थे। उनके व्यक्तित्व और साधना में अतीतगर्भित साधनाएं नवचेतना को प्राप्त होती हैं और भविष्यत् की ओर मुड़ती हैं।

योगधारा क्या रामानन्द को स्वीकार्य है, यह जानना भी महत्वपूर्ण है। शब्द-ब्रह्म[1] चक्रभेद[2], कुण्डलिनी तन्त्र,[3] सहस्रार-साधना,[4] बिन्दु-रक्षा,[5] सहज,[6] कायागढ़-भेदन,[7] अनहदनाद-साधना,[8] सुरति-निरती,[9] उन्मनि,[10] उल्टी

---

१. शब्द ब्रह्म — शब्द को सीख ले शब्द को बूहा ले शब्द से शब्द पहचान भाई। इत्यादि, पृ० ८
सोहं शब्दै सों कर प्रीत, वही ६।

२. चक्रभेद — उलटिया सूर गगन भेदन किया, राम रक्षा, पृ० ४

३. कुंडलिनी-च क — जहां अष्टदल कमल फूला। हंस सरोवर में भूला॥ पृ० ६

४. सहस्रार-साधना — द्वादश पव(न)भर पीता। उलट घर शीश को चढ़ना॥
दो नैना कर बांन। भौंह उलटा कान कवान॥
त्रिवेनी कर असनांन। तेरा मेट जाय आदा जांन॥
(पृ० ६)

५. बिन्दु-रक्षा — जहाँ नाद-बिंदु की हाथी। सतगुर लै चल साथी॥ (पृ० ८)

६. सहज — सहज सुन्न मैं चिति बसंत। अबहि असहि जिमि जाम अंत॥
(पृ० ८)

७. कामागढ़-भेन — ॐ अकट विकट रे भाई। कामा (गढ़) चढ़ा न जाई॥
पछिम दिशा की घाटी। फौज खड़ी है ठाढी॥
जरां नाद बिन्दु की हाथी। सतगुरु ले चल साथी॥
सतगुरु साह बिराजै। नौबत नाम की बाजै, इत्यादि
(पृ० ८—६)

८. अनहद-साधना — बाजा गैब का बाजै, वही० ६
बाज न बिना तम तूर। सहजे ऊगे पश्चिम सूर। वही ६

९. सुरति-निरति — साधू परसै शब्द को सुरति निरति का खेल। पृ० १०

१०. उन्मनि — चाचरी भूचरी सेचरी अगोचरी उन्मुनी पाँचमुद्रा याघते सिद्ध राजा॥ रामरक्षा, पृ० ५

गंगा[1], चन्द्र-सूर्ययोग[2], अखिल पुरुष निरंजन-निराकार[3] आदि का व्यापक उल्लेख उनके साहित्य में मिलता है। उन्होंने रहस्यानुभव का वर्णन भी योगी-शब्दावली में किया है जिसकी परम्परा एक ओर वृहदारण्यक उपनिषद और दूसरी ओर सिद्धनाथ परम्परा से जोड़ी जा सकती है। गोरखनाथ द्वारा प्रवर्तित हठयोग ब्रह्मचर्य और सिद्धि पर बल देता था। वज्रयानी वामाचार के विरुद्ध उसमें उच्च कोटि की नैतिकता का समावेश था। उसमें ज्ञान और साधना की चमत्कृति थी, प्रेम की दिव्य ज्योति नहीं थी। भक्ति के तारल्य से अपरिचित यह योगमार्ग जनप्रथित नहीं हो सका तो कोई आश्चर्य की बात नहीं है। वास्तव में भक्ति की भावबहुलता गोरखनाथ के व्यक्तित्व का अंग ही नहीं थी और कदाचित् इसीलिए उनका योग जनता के मन में चमत्कार बन कर रह गया। यह उसकी पारम्परिक भूमि थी जो वज्रयानी सिद्धों से उन्हें प्राप्त हुई थी; परन्तु शिव-शक्ति के प्रतीक, बिन्दु-साधन और नैतिकता को प्रमुखता देकर उन्होंने एक नए धर्मयुग का प्रवर्त्तन किया और बौद्ध धर्म को आर्ष विचारावली की ओर मोड़ा; परन्तु सिद्धियों के उस युग में इसके आगे बढ़ना उनके लिए सम्भव नहीं था। नामदेव विट्ठल-भक्ति और रामानंद राम-भक्ति के प्रस्तावक बने और इस भक्ति-धारा के साथ सिद्धियां पीछे पड़ गई और जीवन का सहजानुराग विकसित हुआ; परन्तु इसमें राग-विराग के उभय पक्ष थे। विराग-पक्ष जीवन की आध्यात्मिक भूमि को उभारने तथा परोक्ष-साधना के लिए और राग-पक्ष सगुण भक्ति के आलम्बन राम-कृष्ण के सौंदर्य और उनकी लीला तथा लीला-भूमि के ह्लादक रूपों के चित्रांकन के लिये सामने आया। एक प्रकार से मध्ययुग के भक्ति-आन्दोलन में हम वज्रयान तथा योगधारा के सिद्ध-गर्व के विरोध में जीवन की सहज रागात्मिकता का पल्लवन देखते हैं। इसीलिए संतों तथा भक्तों में इनका विरोध मुखरित है। रामानन्द के साहित्य से मध्ययुग के इस दृष्टिकोण-परिवर्तन की प्रचुर सूचना मिलती है।

---

१. उलटी गंगा — **अब उलटा चढ़ना दूर। जहाँ नगर बसना है पूर, वही ६ उलट परिभाव निर्भरियां, पृ १०**
गंग उलटी चलै भानु पच्छिम मिलै, रामरक्षा, पृ० ५

२. चंद्र-सूर्ययोग — **मोती की झालर लगी हीरों का परकास।**
चंद्र सूर्य का गम नहीं जहां ज दर्शन पावै दास॥

(पृ० १०)

३. अखिल पुरुष निरंजन निराकार—

अनहद घंटा झालर बाजे, अलख पुर्स की सेवा।
पुरुष निरंतर बैठा साधो रूम रूम में देवा॥

(मानसी-सेवा, पृ० २८)

रामानंद का युग अंध विश्वासों और अभिचारों का युग था जो वज्रयानी संस्कृति के पुरावशेष थे। उस युग के किसी भी धर्म-सम्प्रदाय के लिये ऐसी रचनाओं से बचना असम्भव था जो प्रेत-बाधा, डाकिनी-पिशाचिनी आदि के भय से विश्वासी मन की रक्षा करे। बौद्ध युग में इस प्रकार की रचनाओं की प्रधानता थी। वैष्णव आन्दोलन के पुरस्कर्त्ता रामानुज, रामानंद और कबीर के नाम से "रामरक्षा" शीर्षक जो अनेक रचनाएं मिलती हैं, वे युग-मन की अंध चेतनाओं की ओर इंगित करती हैं। इस "रक्षा" के सूक्ष्म अध्ययन से १२-१४ वीं शताब्दियों की विकृतियों पर अच्छा प्रभाव पड़ता है।[1] तीन ताप, दुःख, दारिद्र्य, रोग-पीड़ा, कलह, (नव) ग्रह-पीड़ा, अग्नि, ज्वर, डाकिनी-संखिनी, भूत, प्रेत, दैत्य, दानव, काल,

---

१. पिंड प्राण की रक्षा नाथ श्री नाथ निरंजन करे ॥१॥

हरत सकल संताप दुःख दालिद्र रोग पीड़ा कलह कल्पना।
सकल बिघ्न खंड खंड तस्मै श्रीरामरक्षा निराकार वाली ॥५॥
नव ग्रह द्रंक छपेन किया ॥८॥

अगनि परगट भई जुरा वेदन जरी।
दंकनी खंकनी फेरि मारी ॥८॥

भूत प्रेत दैत्य दानव संघारा किया,
बज्र की कोठरी वज्र का दंड ले,
वज्र का खड्ग ले काल मारा ॥९॥
गरुड़ पंसी उड़्या नाग नागनि डर्या,
विस की लहिर सूं निद्रा न झांपै।
पिंड निरमत हुआ पिंजरे पड़ो सुआ,
रोग पीड़ा विथा नहिं देह व्यापौ ॥१०॥

हसवंत हुंकार मचती रहै पकड़िया सोखिया बावन वीर ॥१७॥

डरे डूंगर जले ओर भले बाट औ घाट औ घट, निरंगर निराकार रक्षा करै।
बाघ बाघिन का करूं मुख काला चौसठ योगिनी काटि कुटका करूं ॥
खचेरा कूचरा खेमपाला नौ ग्रह दूत पाखंड ढाहूँ ॥
हसि अस मुहि छल छिद्र मैं वीर वैताल नवग्रह अवधूत होत पाखंड बाधा ॥२१॥

पंक में घारे में सारे में चारे में देस परदेश में राम के तेज में।
अग्नि के झाल में साँकड़े पसैता बैठते ऊठते की राम रक्षा करैं ॥
जागतां सोवतां खेलतां मालतां संत के सीस पै हाथ धारे रहैं ॥२१॥

नाग-दंश; विष, (बावन) वीर-बाधा, एकान्त-भय, चौंसठ जोगिनी, खेचर, भूचर, क्षेत्रपाल, वेताल आदि के लिए पुरातन-युग में तंत्र-मंत्र और भारणियों का व्यापक प्रयोग होता था। "रामरक्षा" साहित्य में इसी कोटि की साहित्य-परम्परा का निर्वाह है। मनसा डाकिनी[1] का नाम भी एक स्थान पर आता है। इनके अतिरिक्त उस युग की धर्म-भावना के सामान्य रूप का ज्ञान भी रामानद की रचनाओं से प्राप्त होता है।[2] इससे यह पता चलता है कि मध्ययुग का भवित-आन्दोलन किन धर्म-विश्वासों और मान्यताओं का स्थानापन्न बनता है और समन्वय की प्रक्रियाएं किन पूर्वाधारों पर विकसित होती हैं। मध्यकाल की अस्थिर और अशांत परिस्थितियों में रामानंद द्वारा जिस समन्वय और संतुलन की स्थापना हुई, वह उच्चतम नैतिक आचार-विचार और लोकमंगल की निष्काम-साधना के द्वारा ही युगधर्म बन सका। धर्म की भूमि पर इतने विरोधों और विश्रृंखलताओं का शमन बहुत बड़ी चुनौती थी। केवल बुद्धि (ज्ञान) के धरातल पर इस चुनौती का उत्तर सम्भव नहीं था। अद्वैतमूलक तथा नैतिकताबद्ध रागानुगा भक्ति भावभूमि पर एक अत्यन्त हृदयग्राही एवं व्यापक समाधान प्रस्तुत करने में सफल हुई। उसमें मध्ययुग के महाभय का तारक मंत्र था और जनप्रवृत्तियों का ऊर्ध्वगमन। रामानंद के द्वारा जो रामरक्षा मंत्र हिन्दू जाति को प्राप्त हुआ, वही पराजित हिन्दू मनोवृत्ति को नवजीवन की उद्दीप्ति दे सका, इसमें किंचित्-मात्र भी संदेह नहीं है।

ज्ञानदेव, नामदेव, त्रिलोचन, सघना और रामानंद मध्ययुगीन धर्मसाधना के आदिस्रोत कहे जा सकते है। ज्ञानदेव और नामदेव योगी विसोवा खेचर के शिष्य थे और रामानंद ने योगी राघवानंद से दीक्षा प्राप्त की थी। त्रिलोचन और साधना की पूर्वपरम्परा से हम परिचित नहीं हैं; परन्तु यह निश्चित है कि १२५० ई० के लगभग योगधारा में नए तत्व का समावेश होने लगता है और धर्म साधना की एक अभिनव भूमि उद्घटित होती है। योग-भक्ति के इस नए समन्वय का केन्द्र भीमा नदी के तट पर बसा पंढ़रपुर का तीर्थस्थान था जहां विट्ठल (विठोवा) उपास्य थे। इस केन्द्र का सम्बन्ध कन्नड़ के हरिदासी संतों से भी है। अत: यह स्पष्ट है कि द्रविड़ भक्ति हरिदासी भक्तों के माध्यम से ही महाराष्ट्रीय संतों को प्राप्त हुई और उनके द्वारा उत्तर भारत में प्रचारित हुई। भारतीय और इस्लामी तत्ववाद तथा साधना के उच्चतम स्तरों पर एक महान् आध्यात्मिक आन्दोलन के लिये पृष्ठभूमि इस समय तक तैयार हो चुकी थी और योग-भक्ति के इस समन्वय (निर्गुण भक्तिवाद) ने शीघ्र ही इस्लामी सूफी साधना और आचार-विचार से गठबंधन कर लिया। भारतीय मनीषा और साधना के लिये यह अत्यन्त श्रेय की बात है कि उसने राज-

---

१. ग्यांनतिलक ६।

२. देखिये, राम-रक्षा, पृ० ३—६।

नैतिक पतन और सामाजिक उत्पीड़न के उस युग में इतनी शीघ्रता से संतुलन प्राप्त कर लिया। १२०६ ई० में दिल्ली में कुतुबुद्दीन द्वारा पठान-शासन की स्थापना हुई। यह प्रसिद्ध है कि कुतुबुद्दीन ने काशी में एक सहस्र मंदिरों को विध्वस्त किया और उनके स्थान पर मस्जिदों का निर्माण कराया। वास्तव में इस युग का इतिहास आक्रमणों, हत्याओं और अकालों का इतिहास बन गया था। ५० वर्ष बाद दक्षिण (१३०५-१५) में इस इतिहास की पुनरावृत्ति हुई और रामेश्वर तक ध्वंस तथा असहिष्णुता का नग्न नृत्य हुआ। १३२६ ई० में श्रीरंगम् के उस प्रसिद्ध मंदिर को लूटा गया जिसमें रामानुज ने अपने मत का प्रचार किया था और जो श्री-वैष्णवों का सबसे बड़ा केन्द्र था। यह अवश्य है कि दक्षिण में विजयनगर राज्य ने १५६५ ई० तक हिन्दू धर्म की पताका ऊंची रखी; परन्तु यह स्पष्ट है कि १३वीं शताब्दी के आरम्भ में उत्तर भारत को नवागंतुकों द्वारा एक महान् चुनौती मिल चुकी थी और "महासुहवाद" तथा सिद्धियों के भुलावे को अधिक विस्तार देना असम्भव था। भारतीय संतों और साधकों ने देशी-विदेशी धर्मभूमियों में सामान्य धरातल का अन्वेषण करना चाहा। इस्लामी फकीरों, पीरों और सूफियों में उन्हें धार्मिक अनुभूति, साधना और आध्यात्मिक प्रक्रियाओं के क्षेत्र में अनेक समानताएं मिलीं। व्रत, तीर्थयात्रा, पूजापद्धति, नामस्मरण आदि के रूप में अनेक समान उपकरण दिखलाई पड़े। सबसे बड़ी क्रांतिकारी बात यह थी कि नया धर्म (इस्लाम) किसी भी प्रकार का जाति-पांति-भेद स्वीकार नहीं करता था। अल्लाह के सामने सब समान थे और इस प्रकार इस्लाम जाति-भेद का अति-क्रमण कर जाता था। नये भक्तिवाद में इस समानता की भूमि को अक्षरशः मान लिया गया और रामानंद का उद्घोष "जाति-पांति बूझै नहिं कोई। हरि को भजै सो हरि कौ होई।" समस्त उत्तर भारत में गूंज गया। परवर्ती संतों ने इस महामंत्र को अपने नाम से प्रचारित कर एक नई सामाजिक क्रांति की सूचना दी। इसमें संदेह नहीं कि मध्य युग की जड़ और बंध्या जाति-मनोवृत्ति को सबसे बड़ी चुनौती रामानन्द के इस महामन्त्र के द्वारा ही मिली। इस चुनौती ने मध्ययुगीन धर्मभावना का रूप ही बदल दिया। सिद्धों और नाथों में ब्राह्मण धर्म और कर्मकाण्ड का तीव्र विरोध था; परन्तु समस्त समाज के लिए धर्म की भूमि पर समानता (वर्गहीनता) की योजना वे नहीं कर सके थे। उनका धर्मभाव रहस्य-प्राण और चमत्कारगर्भित होने के कारण लोकमंगल का साधन नहीं बन सकता था। नामदेव और रामानन्द ने आत्यन्तिक प्रेमभाव को श्रेय दिया और प्राणिमात्र के लिए करुणा और मैत्री का आदर्श लेकर वे उपस्थित हुए। फलस्वरूप, मध्य युग के भक्ति-वाद में व्यक्तिमुखी साधना समष्टिमुखी बनी और लोककंठ एवं लोकजीवन के समावेश से वह उत्तरोत्तर उत्कर्ष को प्राप्त हुआ। लोकमंगल से लेकर लोकरंजन तक उसका प्रसार था। उसने सामाजिक आचार की भूमि दृढ़ की और निराशा के

गर्त्त से हिन्दू जाति को उबारा। इस पृष्ठभूमि में रामानंद मध्ययुग की सांस्कृतिक सक्रियता के प्रतीक बन जाते हैं और निर्गुण-सगुण धाराओं के माध्यम से उनका प्रभाव उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य तक अक्षुण्ण बना रहता है। रामानन्द के प्रवेश से पहले भारतीय धर्म साधना निवृत्तिमूलक और रहस्योन्मुखी थी। रामानन्द ने धर्म की नए ढंग से व्याख्या की और व्यक्तिगत नैतिकता तथा सामाजिक नैतिकता में कोई अंतर नही रखा। उनके लिए धर्म दैनिक व्यवहार की वस्तु थी। उन्होंने "लीलावाद" की नई व्याख्या की जो रामावत सम्प्रदाय की रामोपासना और हनुमद्भवित में विकसित हुई। इसका फल यह हुआ कि मध्ययुग का अवतारवाद कोरा "सुखवाद" (लीलामात्र) न होकर "मर्यादावाद" भी बना और लोकरंजन के साथ लोकसंग्रह का भाव भी पुष्ट हुआ। उन्होंने लोकजीवन में ही धर्म और अध्यात्म को प्रत्यक्ष किया तथा लोक-परलोक को अंतर्भुक्त माना। यह समन्वित जीवनदृष्टि मध्ययुग के लिए रामानन्द की सबसे बड़ी देन थी।

रामानन्द के साहित्य से जो एक अन्य सूचना मिलती है वह यह है कि उनके समय में अनेक अवैदिक विचारधाराएं वैदिक (आर्ष) विचारधारा से आत्मसात हुईं और योगायोग ने नए भक्तिवाद को आध्यात्मिक सम्पत्ति दी। हिन्दी के सिद्ध, नाथ और जैन साहित्य तथा विभिन्न अपभ्रंशों के शैव, शाक्त और सहजिया साहित्य में अवैदिक धारणाओं और साधनाओं की एक बड़ी परम्परा सुरक्षित थी। इस्लामी आक्रमण के कारण सुरक्षा के लिए ये अवैदिक साधनाएं वैदिक नाम-रूप ग्रहण कर लेती हैं और उनके काव्य रूप, छंद, उपमान, प्रतीक, जनता को प्रभावित करने के अटपटे ढंग (संध्याभाषा या उलटवासियां), गुरु के प्रति उनकी आस्था और अन्य कितनी ही बातें सहज ही "भक्ति" का अंग बन जाती हैं। इस भक्ति को हम युगधर्म कह सकते हैं। इस युगधर्म के निर्माण में रामानन्द के व्यक्तित्व और उनके धार्मिक विश्वासों का कम हाथ नहीं रहा है। अवैदिक धारणाओं को विष्णु के अवतार राम से सम्बन्धित कर और उन पर भक्ति का आकर्षक रंग चढ़ा कर उन्होंने हिन्दू धर्म को जो वास्तविकता और व्यापकता दी, वह अपरिमेय थी। विभिन्न दिशाओं की ओर मुख करके चलने वाली साधनाएं और आस्थाएं उनके व्यक्तित्व और भावलोक द्वारा अपनी विषमताएं खो कर एक विराट जनांदोलन में अंतर्योजित हो गईं। निःसंदेह रामानन्द भक्ति-युग के सबसे बड़े जननायक थे। असीम उदारता से उन्होंने विभिन्न सामाजिक तथा धार्मिक धरातलों से प्राप्त अपने शिष्यों को स्वतन्त्र रूप से विकसित होने का अवसर दिया जिसका फल यह है कि उन्हें किसी सम्प्रदाय में बांधना सम्भव नहीं हो सका। कालांतर में भक्तिवाद में अनेक स्वतन्त्र और कभी-कभी विरोधी दृष्टिकोणों का विकास हुआ जो इसी स्वतन्त्र मनोवृत्ति की देन है। इस उदार दृष्टिकोण के कारण ही मध्ययुग की धर्म साधना अत्यन्त व्यापक जीवन-मूल्यों को लेकर चल सकी और उसमें निर्गुण-सगुण, राग-विराग, लोक-परलोक

का ऐसा सूक्ष्म और विचक्षण ताना-बाना बुना गया जो आज चमत्कार जान पड़ता है। उसमें शास्त्रविद् आचार्यों, कर्मकाण्डी स्मृतिकारो और पंडितों तथा लोक-विश्रुत साधकों एवं कलाकारों की प्रतिभा का सर्वोत्तम अंगीकृत हुआ। इतना चौड़ा फाट कदाचित् किसी भी धर्मधारा को पहले नहीं मिल सका था। इस विराट् समन्वय का सारा श्रेय महागुरु रामानन्द को ही मिलेगा।

: ७ :

तुलसी का वैष्णव जगत

तुलसी की रचनाओं, विशेष रूप से रामचरितमानस में वैष्णव आन्दोलन की सर्वश्रेष्ठ अभिव्यक्ति हुई है और उसका जैसा स्पष्ट, सशक्त और विस्तृत प्रकाशन हमें यहां मिलता है वैसा अन्यत्र नहीं मिलता। नामदेव-रामानन्द से तुलसी तक लगभग २५० वर्षों तक उत्तर भारत में वैष्णव धर्म-भावना का मध्ययुगीन स्वरूप विकसित होता रहा और सेंकड़ों भक्तों, साधकों, कवियों तथा मनीषी महापुरुषों के द्वारा वैष्णव विचारधारा तथा साधना विकासमान होती रही। एक तरह से यह कहा जा सकता है कि तुलसी मध्ययुगीन वैष्णव आन्दोलन के अंतिम और शीर्षस्थित महासाधक है और उनमें हम एक आन्दोलन का जन्म नहीं, उसका पूर्णोन्मेष पाते हैं। यह ध्यान देने योग्य है कि तुलसी के तारुण्य तक पहुंचते-पहुंचते यह आन्दोलन अपनी चरम सीमा को प्राप्त हो गया था। नाभादास (जो तुलसी के समकालीन थे और उनके मित्र कहे जाते हैं) का "भक्तमाल" इसका प्रमाण है। "भक्तमाल" में हमें रामानुजी-रामानन्दी परम्परा का विस्तार ही अधिक मिलता है और यह निश्चय है कि तुलसीदास का सम्बन्ध इसी परम्परा से है; परन्तु कृष्णभक्ति-आन्दोलन का पर्याप्त भी उसमें हैं। वल्लभ तथा चैतन्य की परम्परा के भक्तों तथा उनके कृतित्व से भी नाभादास परिचित हैं यद्यपि उन्होने उन्हें वह महत्व नहीं दिया है जो विशिष्टाद्वैती परम्परा को। बल्लभकुल की परम्परा हमें "वार्त्ता" ग्रंथों में मिलती है। ८४ और २५२ वैष्णवन की वार्त्ता एक प्रकार से नाभादास के भक्तमाल के पूरक हैं और ये तीनों ग्रंथ समग्र रूप से मध्ययुग की वैष्णव चेतना का ऐतिहासिक तथा सार्वदेहिक स्वरूप उद्‌घटित करत हैं। इसमें संदेह नहीं कि तुलसी अपने युग में अकेले नहीं हैं। वे युगीन परिवेश की उपज हैं और उन्होंने अपने चारों ओर की प्रवहमान वैष्णव चेतना से उतना ही ग्रहण किया है जितना शास्त्रों से या पूर्व परम्परा से। उनके व्यक्तित्व में अपरोक्ष रूप से समस्त पूर्ववर्त्ती और सामयिक भक्ति-चेतना आत्मसात हो गई है।

तुलसी के समय तक रामानंदी परम्परा में ध्रुवदास और विष्णुदास की रामचरितात्मक एवं रामभक्तिपरक रचनाएं आ चुकी थीं और अष्टछाप के कवियों में बल्लभ के शिष्यों का कृतित्व उनके सामने था। १५४५ ई० में अष्टछाप की स्थापना तक सूरदास अपना काव्य लगभग समाप्त कर चुके थे और वे पुष्टिमार्ग के जहाज बन गये थे। शृंगारात्मक भक्ति की श्रेष्ठतम अभिव्यक्ति हमें सूरदास, हित-हरिवंश, मीरा और हरिदास के काव्य में दिखलाई देती है। गीतावलियों के अध्ययन

से यह स्पष्ट हो जाता है कि इस परम्परा से सूरदास पूर्णतः परिचित थे और रामचरितमानस में भी प्रच्छन्न रूप से इस काव्यधारा का प्रभाव लक्षित है। परन्तु इस परम्परा का सर्वश्रेष्ठ (लीला-भाव) लेकर भी उन्होंने उसके प्रति अपना मोर्चा कड़ा रखा है, यह उनकी नैतिक, आदर्शात्मक तथा लोकमंगलमयी भावधारा से स्पष्ट है। रामानंदी परम्परा राम के संरक्षक एवं धर्मसंस्थापक रूप पर मुग्ध थी और राम का असुरनिकंदन रूप ही इस परम्परा में मान्य था। इस परम्परा में ब्रह्म के सगुणत्व को निर्गुणत्व का विरोधी न मान कर पूरक माना गया है और सगुण-निर्गुण का समाधान स्वयं भक्त के मन की विकासात्मक भूमि या अधिकारी भेद से किया गया है। दोनों भूमियों को जोड़ने वाली वस्तु नाम है। तुलसीदास में यह विचारधारा सबसे सुन्दर रूप में अभिव्यक्त हुई है और बालकाण्ड के आरम्भ (दो० २०-२८) में उन्होंने स्पष्ट ही अपना मंतव्य घोषित कर दिया है :—

निरगुन तें ऐहि भांति बड़ नाम प्रभाउ अपार।
कहउं नामु बड़ राम तें निज विचार अनुसार ॥ (बाल० २३)

यह स्पष्ट है कि तुलसी की रचनाओं में रामानंदी वैष्णववाद के लोकमंगल-पक्ष की सबसे सशक्त अभिव्यक्ति है जिसे हम गीता की "यदायदाहि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारतः" वाली चेतना का पूर्णतम परिपाक भी कह सकते हैं। इस धर्मग्लानि को ही तुलसी ने युगधर्म (कलियुग) के रूप में देखा है और इसी से त्राण पाने के लिये उन्होंने राम के अतिमानवीय, युगेतर और आदर्श चरित्र तथा रामराज्य की अवतारणा की है। वस्तुतः रामचरितमानस युगधर्म के प्रति तुलसी के मन का मोर्चा ही है। इस चुनौती के महत्व को हम "कवितावली" के उन छंदों के सामने रख कर ही समझ सकते हैं जिनमें कवि ने युगधर्म की वीभत्सता के साथ अपने निर्द्वन्द, एकान्त तथा निर्भीक व्यक्तित्व का प्रकाशन किया है। तुलसी का कल्पित वैष्णव जगत युगधर्म के प्रति उनके विरोध को ही सूचित करता है और उसमें युगीन चेतना के संस्कार, परिष्कार एवं पुनर्मूल्यांकन के सूक्ष्म तत्व विशेष रूप से संगठित हैं।

परन्तु इस लोकमंगल-चेतना के साथ तुलसी भागवत और कृष्णभक्तों के रंजनशील लीलावाद के प्रति भी उन्मुख हुए हैं यद्यपि उन्होंने उसे उतनी दूर तक स्वीकार नहीं किया है। "भगतहेतु अवतरिउ गोसाई" कह कर उन्होंने इसी धारणा को वाणी दी है। इस हेतु को पल्लवित करने के लिये उन्हों ने राम के जीवन के कोमल प्रसंगों तथा उनके आकर्षक व्यक्तित्व से सहारा लिया है। रामचरितमानस के रामजन्म, बाल लीला, स्वयंवर, विवाह, बनपथ आदि प्रसंग और गीतावली के अभिषेकोत्तर जलक्रीड़ा, विहार, झूलना आदि प्रसंग इसी लीलापक्ष की ओर संकेत करते हैं। दोनों पक्षों में कवि ने आश्चर्यजनक संतुलन रखा है और उनकी नैतिक धारणा कभी भी लोकानुरंजन द्वारा परास्त नहीं हुई है। सूरदास का साहित्य दुर्नीति-परक न माना जाये तो अनीतिपरक तो माना ही जा सकता है; क्योंकि उसमें एकमात्र भक्त के भावानुरंजन तथा उसकी भावपुष्टि के लिए शृंगारात्मक प्रसंगों का

विस्तार है और इस स्थूल विस्तार में दान, मान, रास आदि लीलाओं का सक्ष्म प्रतीक-पक्ष बहुत कुछ ओझल हो गया है। नीतिपरक समीक्षकों के लिये ये शृंगारात्मक प्रसंग आंख की किरकिरी सिद्ध हुए हैं। परन्तु तुलसीदास की जागरूक चेतना अपने भावजगत पर निरन्तर अंकुश रखती है और उनकी राम के प्रति प्रगाढ़ भावात्मकता दुर्बल इन्द्रियलिप्सा के स्तर पर कभी भी स्खलित नहीं हो पाती। रामचरितमानस और प्रगीतिकाव्य (पद-साहित्य) में उन्होंने रामचरित के कोमल पक्षों का जैसा ससन्दर्भ ढांचा बांधा है वह उनके प्रति हमारे देवभाव की ही पुष्टि करता है और कहीं भी नीति का पल्ला हाथ से नहीं छोड़ता, यहां तक कि पुष्पवाटिका प्रसंग में भी तुलसी के राम मर्यादा की डोर पकड़े ही रहते हैं। लोकपक्ष के प्रति कवि की यह जागरूकता उनकी व्यक्तिगत साधना को अत्यन्त सतेज एवं मूल्यवान बना देती है। दोनों ही पक्षों को जोड़ने वाली वस्तु है राम का स्वरूप-वर्णन जो विविध, दिव्य एवं कोमल होने पर भी परुष है और जिसमें हमारी वीर भावना की भी बराबर पुष्टि होती है। इस प्रकार तुलसी की भांति एकांतिक एवं अनन्य होकर भी लोकमंगलमयी तथा मानवमूल्यमयी बन सकी है। रामानन्द और बल्लभ की विरोधी एवं समानान्तर चलने वाली दो भक्तिधाराओं को जो क्रमशः लोकमंगल और लोकानुरंजन पर आधारित हैं तुलसी ने अपनी भाव-प्रक्रिया और काव्य साधना में इस प्रकार गूंथ लिया है कि उनका काव्य युगधर्म की श्रेष्ठतम अभिव्यक्ति होने पर भी उसके प्रति चुनौती बन गया है। अपने परिवेश में मुक्त होकर तुलसी भविष्यत् पीढ़ियों के लिए जिन साधनात्मक एवं मानवीय मूल्यों का संकलन कर सके हैं वे भारतीय साँस्कृतिक चेतना और भारतीय धर्मभाव के श्रेष्ठतम मूल्य हैं।

टी० एस० इलियट ने वर्जिल सम्बन्धी एक निबन्ध में वर्जिल और दांते की तुलना करते हुए दो शब्दों का उपयोग किया है। ये शब्द हैं "पाइटस" (पवित्रता) और "अमोर" (प्रेम) उनके विचार में वर्जिल में पहले ही अभिव्यक्ति है और दांते के महाकाव्य का केन्द्र दूसरा है। तुलसी और सूर को हम क्रमशः वर्जिल और दांते के स्थान पर रख सकते हैं। तुलसी की भक्ति पवित्रतामूलक है, सूर की प्रेममूलक। ये भक्तिभाव के दो स्तर हैं जो समान रूप से महत्वपूर्ण, मूल्यवान एवं समृद्ध कहे जा सकते हैं। इनकी अभिव्यंजन-शैलियां निश्चित रूप से भिन्न होंगी और इसलिए हम तुलसी के काव्य को प्रबन्ध काव्य तथा सूर के काव्य को प्रगीति-काव्य के रूप में पल्लवित देखते हैं। वर्जिल और दांते में अभिव्यंजना के वाह्य स्वरूप में विभेद नहीं है, दोनों की रचनाएं महाकाव्य हैं; परन्तु दोनों की भाव-प्रक्रिया में वही भेद है जो क्लासिकल और रोमांटिक शब्दों में ध्वनित है। कहने का तात्पर्य यह है कि तुलसी का वैष्णव जगत पवित्र, ऊर्ध्वोन्मुख, नैतिक और चिन्मयी प्रेरणाओं से ओतप्रोत है और उनके पात्रों में मर्यादा, संतुलन तथा धर्मदृष्टि की पराकाष्ठा है। उनके साहित्य में प्रेम की अभिव्यक्ति दाम्पत्य तक ही सीमित है; परन्तु यह दाम्पत्य

प्रेम भी शील की डोरी से बंधा हुआ है। यह पवित्रतावादी दृष्टि तुलसी की विशेषता है और कभी-कभी इसे "प्यूरिटेनिक" (विशुद्धतावादी या रूढ़िवादी) भी मान लिया गया है। सर जार्ज ग्रियर्सन, विल्सन और कारपेन्टर जैसे ईसाई समीक्षक तुलसी के साहित्य में ईसाई मर्मियों और संतों की नकारात्मकता, वैराग्यवादिता तथा विशुद्धता देखते हैं; परन्तु यह निष्कर्ष निश्चय ही भ्रामक हैं; क्योंकि भारतीय अध्यात्मचेतना में ईसाई धर्मचेतना जैसा अस्वीकार कभी भी नहीं रहा है। उसकी पूत भावनाएं पलायनवादी न होकर परिष्कारवादी है क्योंकि उसमें जड़-चेतन का विरोध तो स्वीकृत है; परन्तु उसे शैतान या पाप-भावना का अनिवार्य रूप नहीं मिला है। उसके अनुसार चेतन में जड़ का आरोप अज्ञानमूलक है, पापमूलक नहीं। इसीलिए वैष्णव मनोवृत्ति अज्ञान से युद्ध करती है, पाप के प्रति उसकी परिताप-भावना ईसाई पश्चात्तापी भावना से भिन्न है। कहना होगा कि तुलसी का वैष्णव भाव-जगत विशुद्ध भारतीय है इस जगत के प्रश्न भी भारतीय हैं और समाधान भी भारतीय हैं।

इस जगत के केन्द्र में अज्ञान नहीं, ज्ञान है। इसी ज्ञान को अभेद, ब्रह्म, राम, माधव, शिव आदि नामों से अभिहित किया गया है। पाप अज्ञान है जो विवृत्ति मात्र है, अतः मायाजन्य है। स्वयं माया की कोई सत्ता नहीं है क्योंकि वह प्रक्षेप मात्र है, नकारात्मक है, मरु-मरीचिका की भांति भ्रम है। माया के रूप हैं काम, क्रोध और लोभ। इन्हीं से प्रपंच अथवा संसार की सृष्टि होती है। यह सृष्टि तत्वतः न होकर मनसः है। संत अथवा भक्त के लिए चित्त ही कुरुक्षेत्र-भूमि या लंकाभूमि है जहां नित्य सत्य-असत्य अथवा पाप-पुण्य का युद्ध होता है। तुलसी ने विनयपत्रिका के एक पद में इस संकलपात्मक भीतरी युद्ध को रूपक के रूप में इस प्रकार प्रस्तुत किया है :

वपुष ब्रह्माण्ड सो, प्रवृत्ति लंकादुर्गरति मन-दनुज-मयरूपधारी।
विविध कोसौंध अति रुचिर मंदिरनिकर सत्वगुण-प्रमुख त्रयकटककारा॥
कुनप-अभिमान-सागर भयंकर घोर विपुल अवगाह दुस्तर अपारम्।
नक्र-रागादि-संकुल मनोरथ सकल संगसंकल्प-बीची-बिकारम्॥
मोह दसमौलि, तद्भ्रात अहंकार, पाकारिजित-काम-विश्रामहारी।
लोभ अतिकाय, मत्सर महोदर दुष्ट, क्रोध-पापिष्ट बिबुधांतकारी॥
द्वेष-दुर्मुख, दंभ खर, अकंपन-कपट दर्प मनुजाद-मन सूलपानी।
अमितबल परम दुर्जय निशाचर-निकर सहित षड्वर्ग गो-यातुधानी॥
जीव भवदंघ्रि-सेवक-विभीषण बसत मध्य दुष्टाटवी ग्रसितचिन्ता।
नियम यम अकल सुरलोक-लोकेस लकेसबस नाथ! अत्यन्त भीता॥
ज्ञान अवधेस, ग्रह-गेहिनी भक्ति सुभ, तत्र अवतार भूभार हर्ता।
भक्त संकष्ट अवलोकि पितुवाक्यकृत गमन किय गहन वैदेहि-भर्त्ता॥
कैवल्य-साधन अखिल भालु मर्कट विपुल, ज्ञान सुग्रीव कृत जलधिसेतू।
प्रबल वैराग्य दारुण प्रभंजन-तनय विषय-बन-दहनमिव धूमकेतू॥५८॥

इस पद में वैष्णव जन के भाव-जगत का सम्पूर्ण संकल्प-विकल्प मूर्तिमान हो उठा है और मोह, अहंकार, काम, क्रोध, लोभ, मत्सर, द्वेष, दम्भ, कपट आदि के बीच में देहरूपी ब्रह्माण्ड में स्थित प्रवृत्तिरूपी लंका-दुर्ग में जीव-विभीषण का निवास बतलाया गया है। इस जीव-विभीषण का त्राण ज्ञानभक्तिसंभूत ब्रह्म-बुद्धि या कैवल्य दृष्टि के द्वारा ही सम्भव है। राम इस ब्रह्मबुद्धि के प्रतीक हैं और उनके पार्षद हनुमान वैराग्य का प्रतिनिधित्व करते हैं। वैराग्यनिष्ठा से विषयक प्रेरणाओं पर विजय प्राप्त करने पर ही जीव (साधक) को अखण्ड एकात्मानुभूति या ब्रह्म दृष्टि की प्राप्ति सम्भव है। इस प्रसंग में विनयपत्रिका के ही अगले पद में (पद ५९) में संसार-कांतार का वर्णन दृष्टव्य है :

संसरकांतार अतिघोर गंभीर घन गहन तरुकर्म-संकुल, मुरारी।
वासनाबल्लि खर-कंटकाकुल बिपुल निबिड़ बिटपाटवी कठिन भारी॥
बिबिध चित्तवृत्ति खगनिकर सेनोलूक काकबक गृध्र आमिष-अहारी।
अखिलखल निपुन-छल-छिद्र निरखत सदा जीय-जन-पथिक-मन खेदकारी॥
क्रोध करि मत्त, मृगराज कंदर्प, मद-दर्प बृक भालु अति उग्रकर्मा।
महिष मत्सर क्रूर, लोभ सूकर रूप, फेरे छल, दम्भ मार्जारधर्मा॥
कपट मर्कट, बिकट व्याघ्र पाखंडमुख दुखद मृगव्रात उतपातकर्ता।
हृदय अवलोकि यह सोक सरनागतं, पाहि, माँ पाहि, भो विश्वभर्ता॥
प्रबल अहंकार दुर्घट महीधर, महामोह गिरिगुहा निबिड़ाँधकारम्।
चित्त बेताल, मनुजाद मन, प्रेतगन रोग भोगौघ बृश्चिक-बिकारम्॥
विषय-सुख-लालसा दँस मसकादि, खलझिल्ल रूपादि सब सर्प स्वामी।
तत्र आक्षिप्त तव विषम माया, नाथ! अंध मैं मंद व्यालादगामी॥
घोर अवगाह भवआपगा, पापजलपूर, दुष्प्रक्ष्य, दुस्तर अपारा।
मकर षड्वर्ग, गो नक्र, चक्राकुला, कुल सुभ-असुभ, दुख तीव्र धारा॥

यह भक्त-मानस का तिमिराच्छन्न स्वरूप है जो भक्त को एकदम त्रासित कर देता है। संसार के साहित्य में मानस का ऐसा भयावह रूपांकन कदाचित् कहीं ही मिले। इस विषम मनःस्थिति से उबारना सरल काम नहीं है। परन्तु भक्त का हृदय भगवान के प्रति आस्थावान है और यही आस्था उसके साहित्य को सप्राणता देती है। इस आस्था का बड़ा सुन्दर चित्रण तुलसी के विनयपदों में मिलता है :

जाउं कहाँ तजि चरन तुम्हारे॥१०१॥
हरि तुम बहुत अनुग्रह कीन्हो॥१०२॥
जानकी जीवन की बलि जाऊं॥१०४॥

और इसी की शक्ति उसके इस मनःसंकल्प में मिलती है :

अब लौं नसानी अब न नसैहौं।
रामकृपा भवनिसा सिरानी जागे फिर न डसैहौं॥

पायो नाम चारु रचंतामनि, उर-कर तें खसैहौं ॥
स्याम रूप सुचि रुचिर कसौटी चित कँचनहिं कसैहौं ॥
परबस जानि हंस्यो इन इंद्रिन, निज बस ह्वै न हंसैहौं ॥
मन मधुकर पन करि तुलसी रघुपति पद-कमल बसैहौं ॥१०५॥

भक्त-साधक प्रभु की करुणा और अपनी दीनता का सम्बल मान कर आस्थावान हृदय से इस चव के बीच में विचरण करता है। वह अपने मन का प्रबोधन करता है कि वह कपने रागात्मिकता को राम के प्रति उन्मुख करे :

जो मन लागै रामचरन अस।
देह, गेह, सुत, बित, कलत्र महं मगन होत बिनु जतन किए जस ॥
द्वन्द रहित, गतमान ज्ञानरत, विषयविरत खटाइ नाना कस।
सुखनिधान सुजान कोसलपति ह्वै प्रसन्न कहु क्यों न होंहि बस ?
सर्व भूतहित निर्व्यलीक चित भगति प्रेम दृढ़ नेम एकरस।
तुलसिदास यह होइ दबहिं जब द्रवै ईस जेहि हतो सीसदस ॥२०४॥

और इस संदर्भ में वह भक्तचर्या के स्वरूप का उद्घाटन इस प्रकार करता है :

जो मन भज्यौ चहै हरि-सुरतरु।
तौ तजि विषय विकार सार भजु, अजहूं जो मैं कहौं सोइ करु ॥
सम संतोष, विचार बिमल अति, सतसंगति, ए चारि दृढ़ करि धरु।
काम क्रोध अरु लोभ मोह मद राग द्वेष निसेष करि परिहरु ॥
स्रवन कथा, मुख नाम, हृदय हरि, सिर प्रनाम, सेवा करु अनुसरु।
नयनन निरखि कृपा-समुद्र हरि अगजगरूप भूत सीता बरु ॥
इहै भगति वैराग्य ज्ञान यह हरितोषन यह सुभ ब्रत आचरु।
तुलसिदास सिवमत मारग यहि चलत सदा सपनेहुं नाहिंन डरु ॥२०५॥

इस प्रकार यह प्रगट हो जाता है कि तुलसी का वैष्णव जगत जड़ से चेतन, तमस् से ज्योति और अनास्था से आस्था की ओर निरन्तर गतिशील एवं दृढ़वान है। वैष्णव मनोभाव का मूल है श्रद्धा और इस श्रद्धाभाव ने ही वैष्णव तुलसी में आत्मसमर्पण भाव का रूप धारण कर लिया है। भक्त कवि कहता है :

नाहिने नाथ। अबलंब मोहि आन की ॥२०६॥

यह भक्ति-भावना भक्त-हृदय की कदर्थना या दुर्बलता नहीं है जैसा ईसाई समीक्षकों और मनोविश्लेषकों का मंतव्य है। वह सबल, समर्थ एवं सक्रिय मनःचेतना का वह दृढ़ लंगर है जो उसे बार-बार संतुलित रखता है। इसी के सहारे वह अपार भव-सिंधु के संतरण में समर्थ होता है। अविचल हरिभक्ति ही वह अचल ध्रुवतारा है जो सदैव साधक का पथ-निर्देश करता है। इस वैष्णव मन का विशद, समग्र तथा सम्पन्न चित्र हमें विनयपत्रिका में मिलता है। निःसन्देह विनयपत्रिका तुलसी

की जयपत्रिका है जिसमें उनके मनःद्वन्द से ऊपर उठ कर मनःसंस्कृति प्राप्त करने का सम्पूर्ण व्यौरा मिलेगा।

कठिनाई यह है कि हमने तुलसी की रामकथा और उनके आत्मसमर्पण-भाव को गहराई से नहीं देखा है। हमारी दृष्टि सतही रही है। हमने उनकी रामनिष्ठा को अवतारी राम के प्रति पौराणिक भावना मात्र मान लिया है और उसे वह ब्रह्मनिष्ठा नहीं समझा जो मूल में वह है। इसी प्रकार हमने उनकी भक्तिभावना को तरल, सूक्ष्म, अविरोधी एवं निरन्तर वर्द्धमान आत्मनिष्ठा नहीं जाना है क्योंकि अंततः भगवन्निष्ठा आत्मनिष्ठा ही है। इसीलिए हम वैष्णव मनोभाव की उस ऊंचाई को नहीं छूते जिसपर तुलसी गरुत्मान गति से और सरलता से संचरण करते हैं। यह स्पष्ट है कि तुलसी के प्रश्न मौलिक नहीं, मूलमत हैं, आत्मगत हैं, तात्विक और आत्मक हैं और उनका समाधान भी इसी कोटि की वस्तु है। परम्परित भारतीय संस्कृति के ढांचे के भीतर से ही ये समाधन प्राप्त हुए हैं; परन्तु अपनी इस सीमा के भीतर वे सम्पूर्ण रूप से प्रगतिशील हैं। तुलसी को रूढ़िवादी या अगतिशील कहने वाले उनपर अपने युग की नैतिकता, अनास्था तथा शंकादृष्टि का आरोप करते हैं, उनके मर्म तक वे नहीं पहुंचते। इसमें संदेह नहीं कि आज हमारे प्रश्न दूसरे हैं और उनके समाधान भी दूसरे हैं; परन्तु मनुष्य की नैतिक चेतना, आत्मिकता तथा समग्र बुद्धि की समस्या किसी एक युग की समस्या न होकर सभी युगों की समस्या है और प्रत्येक युग को इस मूलगत समस्या को प्रश्न के रूप में उभारना तथा उसके प्रति उत्तरदायी होना पड़ता है। तुलसी से हम यह शाश्वत जीवनदृष्टि या समस्यादृष्टि ग्रहण करें तो उनकी रचनाओं में पर्याप्त आधुनिकता मिलेगी। फिर तुलसी तो हमारी परम्परा के वह सर्वश्रेष्ठ हैं जो अपनी ऐतिहासिकता के ही द्वारा हमारे येगबोध में आत्मसात हो गई है। उससे बचकर चलना अपने को ही अस्वीकार करना है।

तुलसी की जीवनदृष्टि में कुछ चीजें ऐसी भी हैं जो आज हमें सहज अमान्य हैं जैसे उनकी भाग्यवादिता अर्थात् भवितव्यता के प्रति उनकी निष्ठा। कहा जाता है कि ऐसी सूक्तियां लोकमानस का प्रतिबिंब मात्र हैं या रूढ़िवादी हैं और उन्हें तुलसी की दुर्बलता या प्रमादग्रस्तता के रूप में ग्रहण किया गया है; परन्तु वैष्णव कवि का जगत यांत्रिक न होकर भगवत्केन्द्रित है। भगवान् ही इस प्रपंच (सृष्टि) के नियंता हैं, ऐसा वैष्णव भक्त मानता है। यांत्रिक जगत व्यवस्थित होने पर भी राक्षसी जगत होगा क्योंकि करुणा से असंपृक्त ऋतबद्धता उत्पीड़क बन जाती है। अतः तुलसी रामनिष्ठ बना कर जगत को करुणानिष्ठ कर देते हैं। उनकी नियति-बद्धता यांत्रिक कोटि की चीज़ न होकर राम के प्रति उनकी आस्था का मेरुदण्ड बन जाती है और नियति के प्रति मनुष्य की स्थिति दीनता मात्र की स्थिति न हो कर परम प्रेम तथा आस्था की स्थिति हो जाती है। इस संदर्भ में छोटे-से छोटा और बड़े-से-बड़ा कर्म रामाश्रित या रामानुमोदित होकर अपने से बड़ा बन जाता है

क्योंकि उसके पीछे "राम की रजायसु" है। हनुमान जैसे महापराक्रमी का पराक्रम इसी सूत्र पर टिका है और इस प्रकार रामास्था ही उनका प्रारब्ध बन गई हैं। कवि के शब्दों में :

रावन सो राजरोग बाढ़त विराटउर,
दिनदिन बिकल सकलसुखरांक सो।
नाना उपचार करि हारे सुर सिद्ध मुनि,
होत न बिसोक, श्रोत पावै न मनाक सो॥
राम की रजाय तें रसायनी समीरसुनू
उतरि पयोधिपार सोधि सरवाक सों।
जातुधान बुट, पुटपाक लंक जातरूप,
रतन जतन जारि कियो है मृगांक सो॥

—(**कविता० २५**)

यह रामाश्रित नियतिवाद यांत्रिक नियतिवाद से भिन्न है जो आधुनिक विकासवादी चेतना की देन है क्योंकि इसमें यंत्र के सूत्र परम कारुणीक, महामैत्रीय, महाशक्ति के हाथ में हैं जिसके प्रति अपने भविष्य को समर्पित कर मनुष्य सर्वरूपेण आश्वस्त रह सकता है। इस आस्था की पराकाष्ठा उस बरवै में है जिसमें तुलसी अपने अंतिम क्षणों की हृदयवान आस्था को मूर्तिमान करते हैं :—

मरत कहत सब सब कहं सुमिरहु राम।
तुलसी अब नहिं जपन समुझि परनाम॥

—(**उत्तर० ६५**)

सच तो यह है कि भक्त के लिये कर्ममात्र राम के नाते ही काम्य हैं, अन्यथा उसके पल्ले में असफलता ही पड़ेगी। कवि की ही उक्ति है :—

तुलसी उद्यम करम जग जब जेहि राम सुडीठि।
होइ सफल सोइ, ताहि सब सनमुख, प्रभुतन पीठि॥

—(**दोहावली, ७५**)

इस प्रकार तुलसी की नियतिवादिता उनकी रामास्था का ही दूसरा स्वरूप है और उसके लिये न हम तुलसी को लौक्षित कर सकते हैं, न उनकी मनःचेतना को दुर्बल कह सकते हैं।

हमने तुलसी के मानस-जगत को पवित्रतावादी कहा है। इस पवित्रतावादिता का एक रूप नारी के प्रति उनकी विचारणा है जिसे निंदनीय अथवा अवांछित माना गया है; परन्तु ऐसे समीक्षक तुलसी के मनःजगत से परिचित नहीं हैं, न उनको उन मनःद्वन्दों का पता है; जो कवितावली और विनयपत्रिका के अनेक "स्वगतों" में मुखरित हैं। "सहज अपावन नारि" कह कर तुलसी अपनी भगवन्निष्ठा को ही दृढ़ करते हैं, अपनी जड़ोन्मुख प्रवृत्तियों को ही चुनौती देते हैं। इसमें न सौन्दर्य के प्रति उनकी अवमानना है, न नारी के मातृ रूप के प्रति उनकी उपेक्षा उसके प्रेयस

रूप में तुलसी ने जड़ोन्मुख राग की प्रबलता देखी है और उसे धिःकृत किया है; परन्तु उसके चारित्र्य तथा कल्याणव्रत के प्रति उनकी अपार आस्था है जैसे उनके नारी-पात्रों से प्रगट है। नारी-हृदय के संकल्प-विकल्प से तुलसी पूर्णतः परिचित हैं और उन्होंने नारी के इन दोनों रूपों को लेखनीबद्ध किया है जो शेक्सपियर अथवा प्रसाद में कल्पित हैं। दोनों को ही नारी की मूल प्रकृति में मूलबद्ध कर वे एकदम तटस्थ हो गये हैं; परन्तु यह महाकवि के नाते। भक्त के नाते उन्होंने नारी को मूल शक्ति का अवतार मानते हुए भी उससे बच कर निकल जाना चाहा है; परन्तु यहां नारी हाड़-मांस की नारी न रह कर "कलि-मल" का प्रतीक बन जाती है। वह "माया" है, "प्रपंच" है, "संसार" है। उनकी नारी-सम्बन्धी धारणाओं के इन विभिन्न स्तरों को हमें अलग-अलग सामने रखना होगा। तभी हम उनके वैष्णव भाव के प्रति न्यायी हो सकेंगे।

इस वैष्णव भावजगत मे प्रकृति का स्थान कहां है ? प्रकृति जड़ात्मक है, अतः केवल प्रकृति के लिये आकर्षण हमें वैष्णव भावजगत में नही मिलेगा। वह चैतन्य का प्रतीक होकर या उसके प्रति इंगित बन कर ही सार्थक है। तुलसी के भावकल्प में हमें यही दृष्टि मिलती है और अपनी सीमामें यह दृष्टि काफी सम्पन्न है क्योंकि तुलसी के साहित्य में उपमानों-प्रतिमानों एवं प्रतीकों के रूप में प्रकृति का विशद उपयोग हुआ है और उसकी एक-एक निभृत भंगिमा से तुलसी का कवि-हृदय परिचित है। परन्तु अंतर यह है कि वह प्रकृति को प्रकृत्येतर चेतन तत्व से अलग करके नही देखते। उन्होंने धर्म और नीति के भीतर से ही प्रकृति के सम्पूर्ण वैभव को देखा है। उसकी प्रकृति धर्मनिष्ठ है। भागवत के वर्षा-शरद-वर्णन में जिसे केवल चमत्कार की दृष्टि से या काव्यशैली की दृष्टि से ग्रहण किया गया है, उस नीतिमूलक प्रकृति दृष्टि को तुलसी ने अपना मानदण्ड बना लिया है। जलद उनके राम पर छाया करते चलते है; क्योंकि राम धर्म के प्रतीक हैं :—

छांह करहिं घन बिबुध गन बरषहिं सुमन सिहाहिं।
देखत गिरि बन बिहग मृत रामु चले मग जाहिं।।

—(अयोध्या० ११३)

और चित्रकूट उन्हें धनुर्धर धर्म के सदृश ही दिखलाई देता है :—

नदी पनच सर सम दम दाना। सकल कलुष कलि साउज नाना।।
चित्रकूट जनु अचल अहेरी। चुकइ न घात मार मुठभेरी।।

—(वही, १३३)

यही नहीं, "गीतावली" में चित्रकूट के प्रति अपने अनुराग को वर्णित करते हुए कवि पुराणसाहित्य और दर्शन का मन्थन कर बड़ी सशक्त उत्प्रेक्षाएं प्रस्तुत करता है और अंत में रामभक्ति की महिमा की प्रतिष्ठा करता है :—

सोहत स्याम जलद मृदु घोरत धातु रंगमगे सृंगनि।
मनहुं आदि अंभोज विराजत सेवति सुर-मुनि-भृंगनि।।

सिखर परसि घन घटहिं मिलति बग पांति जो छबि कबि बरनी।
आदि बरनह बिहरि वारिधि मनो उठ्यो है दसन धरि धरनी॥
जलजुत बिमल सिलनि झलकत नभ बन-प्रतिबिंब तरंग।
मानहुं जग-रचना विचित्र बिलसति बिराट अंग-अंग॥
मंदाकिनिहि मिलत झरना झरि झरि भरि भरि जल आछे।
तुलसी सकल सुकृत सुख लागे मानौ राम भगति के पाछे॥
—(गीतावली, अयोध्या ५०)

तुलसी के वर्षा-शरद-वर्णन उनकी नीतिमूलक चेतना को प्रकृति पर इतनी सहजता से आरोपित कर देते हैं कि हमें तनिक भी आश्चर्य नहीं होता। जैसे हम इस भावभूमि से अतिपरिचित हों। इन प्रसंगों की तुलना भागवत के प्रसंगों से करने पर तुलसी की प्रेरणा का स्वरूप स्पष्ट हो जाता है। जहां भागवत का भाव-जगत दार्शनिक, पाण्डित्यमय और काव्यमय है (दशम स्कंध के कुछ अंशों को छोड़ कर जो प्रतीकबद्ध समाधिभाषा के प्रतिनिधि हैं), वहां तुलसी के भावजगत सम्पूर्णतः धर्मप्राण और नैतिक हैं। यह नहीं कि तुलसी में सहज काव्यस्फूर्ति नहीं हो, वे कालिदास से कम सशक्त कवि नहीं हैं; परन्तु वे रामकथा की मर्यादा जानते हैं और उन्होंने अपनी काव्य प्रतिभा पर पर्याप्त अंकुश रखा है; क्योंकि उनके लिये काव्य गौण है, भक्ति प्रधान है। तुलसी जीवन-साधक हैं, उनकी वाणी की साधना इसी जीवन-साधना का अविभाज्य अंग है। जागरूक प्रतिभा की भांति तुलसी ने अपने लक्ष्य और साधनों पर बराबर ध्यान दिया है और निरंतर औचित्य व निर्वाह किया है। प्रकृति-विषयक उनकी सौन्दर्य चेतना भी मर्यादित है और उसमें धर्मदृष्टि को ही पल्लवित किया गया है।

कर्म-अकर्म का प्रश्न भी महत्वपूर्ण है और वैष्णव भावजगत से उसका गहरा सम्बन्ध है। इस सम्बन्ध में मतैक्य भी नहीं है। कुछ लोग वैष्णव भक्ति को विरागात्मक पलायनवादी मनोवृत्ति मानते हैं, कुछ उसे रागात्मक कर्मवादी मनोवृत्ति कहते हैं। कुछ भक्त के कर्म में अकर्म या निष्कर्म देखना चाहते हैं और कुछ उसे कर्म-अकर्म के बंधन से परे रामार्पित जीवनचर्या मात्र मानते हैं; क्योंकि भगवान के नाते या धर्मानुमोदित होकर कर्मविपाक से रहित विशुद्ध भाव रह जाता है। कर्त्ता-बुद्धि के नष्ट हो जाने से वह होता मात्र है, किया नहीं जाता, अतः उसमें कर्मफल की मधुरता-तिक्तता नहीं रहती। उसमें रागों का संस्कार हो जाता है और वह समरस बन जाता है। तुलसी कहते हैं :—

कर्म कि होंहि स्वरूपहि चीन्हें। —(उत्तर० ११२)

आत्मस्वरूप में प्रतिष्ठित होने पर स्वतः ही कर्मों का क्षय हो जाता है; क्योंकि वे आत्मधर्म बन जाते हैं, भक्त की धर्मचर्या का अनिवार्य अंग बन कर उनकी रागात्मिकता इंद्रियजन्य रागात्मिकता से भिन्न कोटि की हो जाती है। जिसके हृदय में अविरल रामभक्ति (निरंतर अद्वैत) का भाव विराजमान है, उसे काल.

कर्म तथा स्वभावज गुण-दोषजन्य दुख नहीं व्यापते (उत्तर० ११४)। इस प्रकार वैष्णव धर्म में कर्म धर्ममय या इष्टमय होकर रागेतर बन जाता है और भक्त

नाते नेह राम के मनियत,
सुहृद सुसेव्य जहां लौं ।।

कह कर समस्त जगत को अपना लेता है। किसी का न रह कर वह सब का बन जाता है। उसकी सर्वस्वीकृति धर्म के उस विराट्, चिन्मय, नीतिमय तथा समष्टिगत रूप की स्वीकृति है; जिसको लक्ष्य कर तुलसी ने कहा है :—

सियाराममय सब जग जानी। करउं प्रनाम जोरि जुग पानी ।।

कर्तत्व की इस ऊंची भूमि पर पहुंचकर कर्म रहता है न अकर्म, सब कुछ आत्मधर्म बन जाता है।

वैष्णव भाव-जगत की सामासिक अभिव्यक्ति तुलसी के रामचरितमानस में मानस-रोग प्रकरण में हुई है। इन मानस-रोगों का विवरण यों है :—

मोह सकल ब्याधिन्ह कर मूला। तिन्ह ते पुनि उपजहिं बहु सूला ।।
काम बात कफ लोभ अपारा। क्रोध पित्त नित छाती जारा ।।
प्रीति करहिं जौं तीनिउ भाई। उपजइ सन्यपात दुखदाई ।।
विषय मनोरथ दुर्गम नाना। ते सब सूल नाम को जाना ।।
ममता दादु कंडु हरषाई। हरष विषद गरह बहुताई ।।
परसुख देखि जरनि सोइ छई। कुष्ट दुष्टता मन कुटिलई ।।
अहंकार अति दुखद डमरुआ। दंभ कपट मद मान नेहरुआ ।।
तृस्ना उदरबृद्धि अति भारी। त्रिबिधि ईषना तरुन तिजारी ।।
जुग बिधि ज्वर मत्सर अविवेका। कहं लगि कहौं कुरोग सनेका ।।

—(उत्तर० १२१)

शताब्दियों के अन्त:दर्शन से भारतीय मनोद्रष्टाओं ने इन रोगों का आविष्कार किया और उनके कारण तथा निदान के सम्बन्ध में निष्कर्ष स्थापित किये। भारतीय धर्मदृष्टि का यह स्वरूप उपनिषद्, गीता, महाभारत तथा मनुस्मृति आदि ग्रंथों में प्रगाढ़ता तथा व्यापकता प्राप्त करता गया। वैष्णव भक्ति-साहित्य में मन: जगत की इन्हीं कद्रूपताओं को पहचाना गया है और उनके लिए तुलसी ने यह निदान बतलाया है :—

सदगुरु बैद बचन बिस्वासा। संजम यह न विषय कै आसा ।।
रघुपति भगति सजीवनि मूरी। अनूपान श्रद्धा मति सूरी ।।
एहि बिधि भलेहिं सो रोग नसाहीं। नाहिं त जतन कोटि नहिं जाहीं ।।
जानिअ तब मन बिरुज गोसाईं। जब उर बल बिराग अधिकाई ।।
सुमति छुधा बाढ़इ नित नई। विषय आस दुर्बलता गई ।।

बिमल ग्यान जल जब सो नहाई। तब रह राम भगति उर छाई॥

—(वही, १२२)

विषय मात्र के प्रति विजुगुप्सा होने पर अंत में रामभक्ति की प्राप्ति होती है और राम के प्रति विमुख को सुख की प्राप्ति नहीं होती। इसीलिये तुलसी अपनी समस्त आस्था को बटोर कर उद्घोष करते हैं :—

कमठ पीठ जामहिं बरु बारा। बंध्या सुत बरु काहुहि मारा॥
फूलहिं नभ बरु मृगजल पाना। बरु जामहिं सस सीस बिषाना॥
अंधकार बरु रबिहि नसावै। राम बिमुख न जीव सुख पावै॥
हिम ते अनल प्रकट बरु होई। बिमुख राम सुख पाव न कोई॥

—(वही)

रामचरितमानस का आरम्भ मानसरोवर रूपक से होता है और उसके अंत में मानसरोथत्निरूपण के बहाने तुलसी एक बार फिर कथारम्भ की ओर लौटते हैं; क्योंकि मानस-रोगों के शमन के लिए जो शीतलता चाहिए वह रामचरितसर में अवगाहन करने से ही प्राप्त होगी। तात्पर्य यह है कि तुलसी के साहित्य में वैष्णव भक्ति श्रेष्ठतम मानव-मूल्यों (नैतिकता) के साथ इष्टदेव की श्रद्धा का पल्ला पकड़ कर चलती है और उसमें मानव-व्यक्तित्व के रूपान्तर की अक्षय क्षमता है। इसीलिए तुलसी ने रामकथा को रसायन भी कहा है; क्योंकि इससे निर्मूल्य जड़ बुद्धि अमूल्य चैतन्य (ब्रह्म) बुद्धि में बदल जाती है। पथ की धूल सोना बन जाती है। तुलसी की वैष्णव भावना इस प्रक्रिया का ही दूसरा नाम है। इस प्रक्रिया की अग्नि में तप कर ही वैष्णव भक्त का वह व्यक्तित्व निखरता है जो सब के प्रति अनाकांक्षी है। तुलसी ने उचित ही कहा है :—

लोगनि भलौ मनाव जो भलो होन की आस।
करत गगन को गेंडुआ सो सठ तुलसीदास॥

—(दोहावली, ४६१)

कि भले (कल्याण) की आशा रखते हो तो लोगों को मनाओ या चाटुकारिता करो; परन्तु तुलसी तो मूर्ख ठहरा जिसने आकाश का ही तकिया (गेंडुआ-गेंडुक अर्थात् गोल तकिया) बना लिया है।

बाल्मीकि की रामायण और कालिदास के रघुवंश से रामचरितमानस की तुलना करने पर तुलसी के वैष्णव जगत की विशिष्टता स्पष्ट हो जाती है। रामायण और रघुवंश के पात्र अवनी प्रकृति के प्रति सच्चे हैं; परन्तु यह नहीं कहा जा सकता कि वे मानव-जीवन की चरितार्थता के प्रति भी उतने ही सच्चे हैं। वे अपने स्वभाव के प्रति उत्तरदायी दिखलाए गये हैं, स्वधर्म के प्रति नहीं। इसीलिए उनके चरित्र में मानवीय चरित्र की एकांगिता और अतिवादिता मिलेगी। यह अतिवादिता अध्यात्म रामायण जैसे धर्मग्रंथ में भी उसी अथवा उससे भी अधिक मात्रा में है और इससे पाठक के संस्कारों पर आघात पहुंचता है। तुलसीदास ने रामकथा के पात्रों को

जिस मात्रा में शील, संयम और ऋतु का प्रतीक बनाया है वह अद्भुत है। वास्तव में पूर्ववर्त्ती ग्रंथों के भावजगत से ही तुलसी का भावजगत अधिक सम्पन्न, विशिष्ट तथा संस्कृत नहीं है, उनका चारित्रिक जगत भी अधिक समृद्ध एवं शिष्ट है। तुलसी का संसार महार्घ, तर्कमय और ऋतंभार है। वह मूल्यों का संसार है। वह मर्यादा, शील तथा धर्म के अंत:सूत्रों से बंधा है; परन्तु तुलसी के पात्र इस उच्च संस्कृति की भूमिपर सहज ही डग भरते चले जाते हैं। वे अपने प्रति किंचित् मात्र भी शंकित नहीं हैं। यही सहज धार्मिकता ही तुलसी की भावसाधना और काव्यकला की विशेषता है और अपनी इस विशिष्टता से तुलसी भली भांति परिचित हैं :—

सरल बरन भाषा सरल, सरल अर्थमय मानि।
तुलसी सरलै संत जन, ताहि परी पहचानि।।

—(**वैराग्य संदीपिनी, ८**)

यह स्पष्ट है कि यह सहजधर्मी ऋत्‌संवलित भावजगत स्वयं तुलसी की सृष्टि है। जिस मुग़ल साम्राज्य में उन्होंने कालयापन किया, वह बहुत कुछ ऊबड़खाबड़ और पाशविक था इतिहास में वह अपने अतिवादों के लिए ही प्रसिद्ध है। तुलसी अपने युगधर्म से परिचित हैं। उन्होंने कहा ही है :—

गोंड गंवार नृपाल भे, यमन महामहिपाल।
साम न दाम न भेद कलि, केवल दण्ड कराल।।

—(**दोहा ५५६**)

उन्होंने "कलिवर्णन" में उसी की महिमा गाई है। दोहावली और कवितावली युग के विरुद्ध उनके आरोपों से भरी रचनाएं है। "आईनेअकबरी" (अबुलफज़ल, १५८५ ई०) में अकबर-राज्य का प्रशंसात्मक स्वर्णचित्र है तो इन ग्रंथों में उसका विपक्ष भी प्रस्तुत है। परन्तु इसके साथ रामचरितमानस का उदात्त जगत भी है जो इस युग के वास्तविक स्वरूप को कहीं बढ़ा-चढ़ा कर वर्णित करता है। काव्य के क्षेत्र में भले ही हम तुलसी को बाल्मीकि या कालिदास के समकक्ष नहीं रख सकें हम उनकी युग-संस्कृतियों का सापेक्षिक अध्ययन अवश्य कर सकते हैं। यह तो निश्चय है कि तुलसी का सांस्कृतिक जगत हमारे अधिक निकट है और उसमें हम अधिक प्रियता पाते हैं ; परन्तु उसमें कितना यथार्थ है, कितना तुलसी का भावकल्प, यह कहना कठिन है। रामचरितमानस के अंत में तुलसी ने जिस रामराज्य को रेखांकित किया है और राम के चरित्र तथा कार्यकलाप में जिसकी जयभेरी बजाई है, वह, वह साम्राज्य नहीं है, जिसमें मुग़ल मनसबदारों, सिपहसालारों, खानखानों, दसहज़ारियों, साहों और रायरायों का योग प्राप्त हुआ है। वह इनसे बड़ी चीज़ है जिसका अस्तित्व केवल तुलसी की कल्पना में है। आज भी यह रामराज्य आदर्श मात्र है; परन्तु यह परवर्त्ती पीढ़ियों को तुलसी का दान है वे इसे अपनी आकांक्षा का विषय बनायें और इसे विकसित करें। रामराज्य की यह कल्पना मुगल युग

और तथाकथित स्वर्ण युग के प्रति तुलसी की सबसे बड़ी चुनौती है। यही क्यों, वह अभी भी चुनौती बनी हुई है; क्योंकि वैष्णव तुलसी का सपना अभी सपना ही बना हुआ है।

यह नहीं कहा जा सकता कि वैष्णव संस्कृति अभी चरितार्थ हो सकी है या नहीं; क्योंकि जिस युग में इस संस्कृति की कल्पना हुई और उसे रूपांकन करने के प्रयत्न हुए, वह भोगवादी प्रवृत्तियों, ह्रासोन्मुख चेतनाओं तथा आतिवादी पूर्वग्रहों का युग था। शासक वर्ग ईरान की ओर देखता था और लोक के पास कोई बड़ी संस्कृति शेष नहीं रह गई थी। राजपूत-तन्त्र युग के सांस्कृतिक ध्वंसावशेषों पर रामचरितमानस के रूप में एक परिपूर्ण संस्कृति की कल्पना सरल कार्य करना नहीं था; परन्तु तुलसीदास ने इस श्रेयस्कर कार्य का समुचित रूप से सम्पादन किया। उन्होंने जिस वैष्णव संस्कृति की अवतारणा की वह आस्तिक भक्तिवाद पर आधारित कर्मप्रधान स्वधर्ममूलक लोकसंस्कृति थी। वह शिष्ट एवं वर्गीय सामंती संस्कृति से भिन्न राष्ट्रीय जन-संस्कृति कही जा सकती है। सतरहवीं-अठारहवीं शताब्दियों के रामायणी इस संस्कृति को समस्त हिन्दी प्रदेश में पहुंचाने में समर्थ हुए। रामचरितमानस की लोकप्रियता में पौराणिक कथावाचकों, रामलीलाओं के संयोजकों तथा रामभक्त संतों-संन्यासियों का महत्वपूर्ण हाथ रहा है। इस सांस्कृतिक अभियान ने इस्लामी और ईरानी-तूरानी संस्कारों के बीच में भारतीय सांस्कृतिक प्रवाह और आस्तिक अध्यात्म चेतना को अक्षुण्ण बनाये रखा। पण्डितों और टीकाकारों ने इस संस्कृति को पाण्डित्य का वर्म दिया और इसे शास्त्रीयता प्रदान की। यह नहीं कहा जा सकता कि इस तरह तुलसी अपने विशुद्ध सांस्कृतिक एवं साधनात्मक रूप में जन-समाज में पहुंच सके; परन्तु उनके ग्रंथों में उनका अपना आध्यात्मिक और सांस्कृतिक संदेश दैदीप्यमान नक्षत्र की भांति आत्मस्थ बना रहा। उनके रामचरित मानस में लोकमानस बनने की अपार क्षमता थी; परन्तु उससे भी कहीं अधिक वह साधक की व्यष्टिगत मनःभूमि के निर्माण में सफल हुआ। वह भक्तितन्त्र का सर्वश्रेष्ठ ग्रंथ घोषित हुआ। इस एक दीपक से असंख्य दीपक जले; परन्तु उसका रामस्नेह आज भी शेष नहीं हुआ है।

उत्तर भारत की वैष्णव संस्कृति को हम तुलसी-संस्कृति भी कह सकते हैं और रामचरितमानस की संस्कृति भी; क्योंकि तुलसी और उनका रामचरितमानस इस संस्कृति के केन्द्र हैं। आलोचकों ने रामचरितमानस को मध्ययुग की कृषि-संस्कृति का शीर्षमणि कहा है और उसे दरबारी सामंती संस्कृति के विपक्ष में रखा है जो ईरानी प्रभाव और भोगवाद के भीतर से पल्लवित हुई थी, परन्तु उसका एक निरपेक्ष स्वरूप भी है। उसे हम भारतीय अध्यात्म-परम्परा का अंतिम ग्रंथ भी कह सकते हैं। कम-से-कम तुलसी ने उसे इसी रूप में देखा है। इसीलिये वे निगमागम की दुहाई देते नहीं थकते और अपनी साहित्यिक चेतना में उपनिषद्, गीता, भागवत, पुराण-स्मृति तथा रामावत् सम्प्रदाय के ग्रंथों को सर्वश्रेष्ठ सिमेट लेते हैं।

इस प्रक्रिया में तुलसी भावसाधना परम्परा से जुड़ जाती है; परन्तु तुलसी इस परम्परा को जड़ रूप में ग्रहण नहीं करते। वे उसे सजीव, तरल, विशिष्ट और प्रगतिशील बना कर प्रस्तुत करते हैं। उनके व्यक्तित्व और भावसाधना का चैतन्य जड़ परम्परा को स्पन्दनशील जीवंत चेतना बना देता है। अपरिसीम विनयशीलता तथा दैन्य के साथ अक्षय आत्मनिष्ठा, मानवीय सम्बन्धों के प्रति शील और मर्यादा की सम्पन्न दृष्टि के साथ उनके प्रति अनासक्तिमूलक विरागभाव, रामाश्रित कर्म-प्रधान जीवन और विवेकपूर्ण आत्मसाधना—यही तो तुलसी के वैष्णव जगत के अभिन्न अंग हैं। तुलसी के लिए मानव-जीवन राममय जीवन है और राममय का अर्थ है धर्म-मय; क्योंकि राम धर्म की श्रेष्ठतम अभिव्यक्ति हैं। इस समीकरण के द्वारा उनकी अध्यात्मपरक व्यक्तिनिष्ठ भक्तिसाधना लोकमंगलपरक धर्म साधना बन गई है निःसंदेह यह समीकरण तुलसी के वैष्णव जगत को विशिष्ट और समृद्ध बनाता है। धर्म की चरितार्थता को ही तुलसी मानव-चरित्र की अनिवार्यता अथवा नियतिबद्धता मानते हैं और उन्होंने अपने कथानायक राम में इसी को मूर्तिमान किया है। उनके वैष्णव मन ने अपार श्रद्धा से अपने इष्टदेव के प्रति इस प्रकार नीराजन प्रस्तुत किया है :

ऐसी आरती राम रघुबीर की करहि मन।
हरन ते दुखद्वन्द आनन्दघन ॥
अचर-चर रूप हरि सर्वगत सर्वदा बसत, इति वासना धूप दीजै।
दीप निज-बोध, मत क्रोध मद मोह तम, प्रौढ़ अभिमान-चितवृत्ति छीजै ॥
भाव अतिसय बिसद प्रवर नैवेद्य सुभ श्रीरमन परम-संतोषकारी।
प्रेम ताम्बूल, गतसूल संसय सकल, बिपुल भववासना-बीज-हारी ॥
असुभ-सुभ-कर्म घृतपूर्ण दस वर्त्तिका, त्याग, पावक, सतोगुन-प्रकासं।
भगति-वैराग्य-विज्ञान-दीपावली अर्पि नीराजनं जग निवासं ॥
विमल-हृदि-भवन-कृत सांति पर्यंक सुभसयन बिस्राम श्री रामराया।
छमा करुना प्रमुख तत्र परिचारिका, यत्र हरि तत्र नहिं भेदमाया ॥
(एहि) **आरती निरत सनकादि श्रुति सेष सिव देव ऋषि अखिलमुनितत्वदरसी।**
करै सोइ तरै परिहरै कामादि मल, बदति इति अमलमति दासतुलसी ॥

(विनय० ४७)

इस पद में वैष्णव संस्कृति के विधि-निषेध-पक्ष का सब कुछ आ गया है जो परम्परा की देन होकर भी भक्त की भावसाधना में तप कर नए मूल्यों से महार्घ बना है। "थिति" (तिथिचर्या) के रूप में लिखे हुए तुलसी के एक चर्यापद (विनयपत्रिका, २०३) में भक्त की जीवन-चर्या के रूप में जिस संस्कारपूर्ण प्रेरणा का स्वरूप उद्घटित हुआ है, वही तुलसी के वैष्णव जगत का क्रियमाण रूप है। भाव, चर्या और क्रिया के तीनों पक्षों से सम्पन्न तुलसी का यह वैष्णव जगत भारतीय सांस्कृतिक मानस की सबसे सुन्दर और मूल्यवान घटना कही जा सकती है।

: ८ :

तुलसी और ब्रह्मवाद

जन-समाज में तुलसी की प्रतिष्ठा भक्त कवि अथवा पौराणिक कवि के रूप में है और उनका ब्रह्मवादी रूप बहुत कुछ आँखों से ओझल हो गया है। यह क्षोभ का विषय है कि आज के बुद्धिवादी युग के पल्ले में तुलसी की रामकथा की स्थूलता ही पड़ी है और वह उसे अपने वैचारिक तन्त्र में स्थान नहीं दे सका है। इसका कारण है तुलसी के सबसे प्रसिद्ध और विस्तृत रामकथात्मक ग्रन्थ रामचरित-मानस का पौराणिक ढांचा। इस पौराणिक ढांचे ने तुलसी के मन्तव्य को ढक लिया है और कथा के भीतर प्रतिष्ठित उच्चतम अध्यात्म पृष्ठभूमि में चला गया है।

हम यह नहीं कहते कि तुलसी की रामकथा जायसी के "पद्मावत" के समान आध्यात्मिक रूपक है और किसी रूपक के द्वारा उसके रहस्य को खोला जा सकता है। "विनयपत्रिका" में एक ऐसा पद अवश्य मिलता है जिसमें सम्पूर्ण रामकथा को प्रतीकात्मक बनाने का प्रयास है। परन्तु तुलसी की भाव-प्रक्रिया में इस एकांत पद का कोई बड़ा महत्व नहीं है और उससे तुलसी के अध्यात्म की अपेक्षा उनके नैतिक जगत का ही अधिक आभास मिलता है। वास्तव में तुलसी के नैतिक जगत के मूल में उनका अध्यात्म-जगत ही है, क्योंकि अपने देश में जीवन की अखण्डता को खण्ड चेतनाओं में तोड़ने की परिपाटी नहीं है। अतः इस रूपकात्मक पद के पीछे भी हमें तुलसी के मनःजगत के सूक्ष्म स्वरूप को लेना होगा।

भारतीय अध्यात्म-चिन्तन और साधना की सबसे बड़ी इकाई है अभेदत्व। अभेदत्व में जहां जड़-चेतन का समाहार है, वहां जगत की नाना-रूपात्मकता का बाध भी है। हमारे बाहर यह जो भव का विस्तार है, त्रिगुणात्मक जगत है, यह इंद्रिय-ग्राह्य होने के साथ-साथ और भी कुछ है, अर्थात् इन्द्रियग्राह्य नहीं भी है। जो इन्द्रियग्राह्य है मायात्मक है अर्थात् उसकी सत्ता नहीं है, यह अद्वैत का पक्ष है, परन्तु तुलसी यहीं पर रुक नहीं जाते। उनके विचार में इस नकारात्मकता के पीछे स्वीकार भी है कि रूपों के पीछे जो अरूप है जिससे अभेद का निर्माण हुआ है, या जिसके नाते हम एकता का अनुभव करते हैं, वही एक मात्र सत्य है। इसी अभेदत्व, सत् अथवा ब्रह्म को उन्होंने "राम" की संज्ञा दी है। जहां अखिल सृष्टि उन्हें 'सियाराममय" (अभेदमय) जान पड़ती है और इसलिए बन्दनीय हैं, वहाँ उसके मायात्मक होने का प्रश्न ही नहीं उठता क्योंकि सत् मिथ्या नहीं हो सकता।

मिथ्या वह उसी समय तक है जब तक हम सत् को नहीं पहचानते, अर्थात् नामरूप की अभेदता में हमारा प्रवेश नहीं होता। इस सत् या राम की स्वरूप-स्थापना उपनिषद् में ब्रह्म के सम्बन्ध में प्रयुक्त शब्दावली के आधार पर ही हुई है और उसमें निर्गुण तथा सगुण दोनों पदावलियों का उपयोग है। तात्पर्य यह है कि इस मूलभूत सत् अथवा अभेदत्व को सगुणात्मक (स्वीकारात्मक) और निर्गुणात्मक (नकारात्मक) दोनों पक्षों से पकड़ा गया है। योगी अरविंद का विचार है कि ब्रह्म के इस द्वन्द्वात्मक बोध को ही "माया" कहा गया है और इस द्वन्द्व का प्रसार ही ब्रह्म की लीला है। सत्तात्मक ब्रह्म न निर्गुण है, न सगुण, क्योंकि अभेदत्व की भूमि पर वह केवल चेतना का विषय रह जाता है। इसीलिए तुलसी ने निर्गुण-सगुण दोनों को अभिन्न बतलाया है और दोनों से ही "भवसम्भव-खेद" के नष्ट होने की सम्भावना बतलायी है। राम का नाम दोनों को जोड़ने वाला सेतु है क्योंकि नाम में उभयात्मकता है, वह लाक्षणिक बन कर सूक्ष्म बोध की भूमि पर भी पहुंच सकता है। अतः तुलसी का आग्रह है कि सृष्टि के मूल में अभेद है, जो "राम" है और राम निर्गुण-सगुण दोनों है, एक साथ दोनों है, यही उसकी माया है, लीला है। अर्थात् गुणातीत गुणों से भीतर ही विराजमान है और अंतर द्रष्टा का है। व्यष्टि-भूमि पर सगुण है, वह समष्टि-भूमि पर निर्गुण है; परन्तु व्यष्टि-समष्टि कथन मात्र है, अतः दोनों ही धाराएं एक हैं। व्यष्टि संवेदना की, निजता की भूमि पर से देखता है। यह भक्ति की भूमि है। वही जब समष्टिगत, परता की भूमि से देखता है तो वह ज्ञान की भूमि पर विचरण करता है। इस प्रकार निर्गुण-सगुण के साथ-साथ ज्ञान-भक्ति का भेद भी समाधान को प्राप्त हो जाता है।

यह ब्रह्म अवतारी राम कैसे बना? अवतारी राम की परम्परा के पीछे वीरोपासना तथा विष्णुवाद का पूरा इतिहास है; परन्तु तुलसी से बहुत पहले दाशरथि राम धीरोदात्त नायक अथवा सांस्कृतिक इतिहास-पुरुष से ऊपर उठ कर विष्णु का अवतार मान लिये गये थे। बाल्मीकि से पुराणों तक यह प्रक्रिया चलती रही, परन्तु मध्ययुग में विष्णु के अवतार दाशरथि राम परात्पर ब्रह्म के साम्यवाची बन गये। ब्रह्मवाद और विष्णुवाद का यह गठबन्धन आत्मवादी चिन्तना का सम्बन्ध वैष्णव भक्ति से स्थापित करता है और पिछले युग के समन्वय को आगे बढ़ाता है। औपनिषिदिक ब्रह्मवाद शुष्क दर्शन मात्र है, उसमें काव्य की रंगीनी नहीं है; परन्तु रामवाद के साथ उसका सम्बन्ध जुड़ने पर उसमें काव्य की अप्रतिम सम्भावनाएं आ जाती हैं। परन्तु इस रामवाद को सीधे ब्रह्मवाद से जोड़ना सम्भव नहीं था क्योंकि पिछली शताब्दियों में वह विष्णुवाद से सम्बन्धित हो गया था। अतः अध्यात्म रामायण और रामचरितमानस दोनों ग्रन्थों में राम एक साथ ब्रह्म, विष्णु के अवतार और दाशरथि राम हैं यद्यपि विष्णु को त्रिदेवों में से एक न मान कर त्रिदेवों का जनक माना गया है। इसमें सन्देह नहीं कि वैष्णव भक्तिवाद का

आन्दोलन मध्ययुग में तुलसी और सूर के काव्य के माध्यम से अपना नाता ब्रह्मवाद से जोड़ता है और उसे आकर्षक, सरस तथा नैतिक स्वरूप प्रदान करता है। राम और कृष्ण के व्यक्तित्वों में शील, सौन्दर्य और शौर्य की जो पराकाष्ठा कल्पित थी, वही इस नवीन पौराणिक ब्रह्मवाद का उत्कर्ष बनी। फलस्वरूप अत्यन्त उत्कृष्ट काव्य का निर्माण हुआ। तुलसी ने अपने "मानस" में पूर्व कवियों का समस्त काव्य वैभव सिमेट लिया और उनकी रचना में महाकाव्य की गरिमा स्वतः ही आ गई। स्वयं उनके अपने तरल भक्ति-भाव तथा युग की गीतात्मक संवेदना ने उनकी रचनाओं में श्रेष्ठतम प्रगीत-तत्वों की भी योजना कर दी। इस प्रकार उनका काव्य मध्ययुग की श्रेष्ठतम सांस्कृतिक धरोहर बन गया। यही नहीं, उसे भारतीय संस्कृति तथा काव्य के सम्पूर्ण विकास की केन्द्रीयता प्राप्त हो गई।

यदि अभेदत्व सत्य है तो निर्गुण-सगुण, ज्ञान-भक्ति, जड़-चेतन में भेद कैसे होगा ? तुलसी ने ब्रह्म को "सत्" मात्र नहीं माना है, उसे "सच्चिदानन्द" कहा है। सत् (सत्तात्मक निर्गुण ब्रह्म) ही क्रियावान होने पर चेतन (गुणात्मक सगुण ब्रह्म) और लीलात्मक अवतारी ब्रह्म (राम) में परिणत हो जाता है। तुलसी ने जड़-जगत को चेतन से ओतप्रोत या सगुण ब्रह्म मानकर ही प्रणाम किया है और राम की लीला में ब्रह्म के आनन्द तत्व का प्रसार देखा है। परन्तु इस आनन्द में ब्रह्म (राम) भोक्ता नहीं हैं, द्रष्टा है। सूरदास के काव्य में कृष्ण पुरुष हैं, राधा प्रकृति। दोनों की रसात्मक लीला ही कैवल्य की सृष्टि करती है (लीला वत्तु कैवल्यम्)। भक्त लीला में तादात्म्यता प्राप्त कर स्वयं अपने भीतर के आनन्दतत्व को भोक्ता बन जाता है। वह मूलवद्ध होकर सार्थकता प्राप्त करता है, संसार में उसके लिए कुछ भी करने योग्य नहीं रहता। क्योंकि वह योग की मधुमती भूमिका पर जीवित रहता है। शृंगार-भक्ति में लीला-सुख की परिपूर्णता की कल्पना की गई है और राम में अखण्ड आत्मविलास की योजना है। परन्तु तुलसी का ब्रह्म (राम) आनन्द का सृष्टा है। वह लोक-जीवन में अभेद की स्थापना करता है। हिंसा से ही भेद का जन्म हुआ और रावण के हिंसा के विरुद्ध राम की चुनौती अभेद-स्थापन की ही चेष्टा है। इस प्रकार अभेद का सम्बन्ध लोकधर्म और नीति से जुड़ता है और लोक-मंगल की आकांक्षा ही आनन्द बन जाती है। रामचरित मानस की नीतिवादिता भी आनन्द का ही साधना-पक्ष है। वह स्थूल नैतिकता नहीं है क्योंकि उसके पीछे धर्म अधर्म, पाप-पुण्य, सत्य-असत्य की परख है। सम्पूर्ण रामकथा धर्म-नीति का ही उद्घाटन है। इसीलिए तुलसी ने राम को व्यक्ति हानि-लाभ से ऊपर उठा कर लोकधर्म के शास्ता के रूप में प्रतिष्ठित किया है। सीताहरण के बहुत पहले राम उद्बाहु होकर ऋषियों के उत्पीड़क राक्षसों के हनन का व्रत धारण करते हैं और रावण से उनका बैर व्यक्तिगत आक्रोश से कलुषित नहीं है। वह विशुद्ध धर्मप्रेरणा से अनुप्राणित है। राम के माध्यम से ही नीति पर ब्रह्म को नीतपरक बनाया है और इस प्रकार औपनिषिदिक ब्रह्मवाद को मांगल्य का प्रेरक तथा मानवीय सम्बन्ध में

धर्म का संस्थापक सिद्ध किया गया है। इस ब्रह्मवादी धर्मदृष्टि में तुलसी का लोक-मंगल-भाव सन्निहित है। समीक्षकों ने राम के चरित्रांकन को मानव-भूमि पर देखना चाहा है और वे यह भूल गये हैं कि तुलसी राम में मूर्त्तिवान धर्म को चित्रित कर रहे हैं जो रावण के दुष्कर्म को व्यक्तिवादी दृष्टि से नहीं, समष्टिवादी दृष्टि से देखते हैं। इसीलिए तुलसी के राम मानवेतर लगते हैं। वे अन्य चरित्रों की मानवीय भूमिका से परे हैं, जैसे वे एकदम निरपेक्ष, अनासक्त, अनामिल तथा अलिप्त हों। अपनी भावनाओं पर उनका अपार संयम है और धर्म की मर्यादा में बंध कर उनका कर्म अकर्म बना है।

दाशरथि राम परात्पर ब्रह्म हैं क्योंकि अभेदतत्व है और अभेद का अर्थ है अहिंसा, प्रेम, मैत्री और करुणा, एक शब्द में धर्म। धर्म का प्रतीक बनकर ही राम ब्रह्म बनते हैं। राम ही क्यों, कोई भी इस भूमिका पर ब्रह्म बन सकता है क्योंकि जीव मात्र ब्रह्म है। सब में व्याप्त होने के कारण ब्रह्म ही उन्हें धारण करता है, अतः वही धर्म भी है। इस धर्म का चेतन और आनन्दी मूर्त्तिमान रूप राम हैं। इस प्रकार रामकथा न ऐतिहासिक रहती है, न काल्पनिक अथवा मानवीय, वह धर्म-संस्थापन की कथा बन जाती है।

परन्तु इस धर्मसंस्थापन की कथा का भक्त की दृष्टि से एक दूसरा पक्ष भी है। वह है कि उससे भक्त की धर्मसम्बन्धी धारणा दृढ़ होती है। यह उसका लोकानुरंजन पक्ष है। भगवान की दृष्टि से धर्मसंस्थापन महत्वपूर्ण है तो भक्त की दृष्टि से लोकानुरंजन। यह कथा का लीला-पक्ष है। वास्तव में ये दोनों एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। धर्म के अविरल प्रवाह में जो प्रतिरोध हैं, उन्हें हटाना ही धर्मसंस्थापना है क्योंकि धर्म का लोप तो होता नहीं। अद्वैत क्रियाशील रहे, प्रेम और मैत्री सद्यः प्रवाहित हों, जड़ के भीतर प्रसुप्त चेतन को हम जगा सकें, यही रामकथा का सार है। शेष सब अर्थवाद है, वाक्यशेष है। वाक्य को हम ग्रहण करें तो रामभक्ति अद्वैत का क्रियात्मक रूप ही बन जाती है। विजयरथ-रूपक में तुलसी ने जिस परिपूर्ण आदर्श को पल्लवित किया है, वह ऐसे रामभक्त का आदर्श है जो लोक से पलायन नहीं करता, कर्म पर हावी होकर उसे ही अकर्म बना लेता है। स्वयं राम का निरालस जीवन रामभक्त का आदर्श है।

स्मार्त्तों ने वाक्य के दो भेद किये हैं : ज्ञापक और कारक। कारक का अर्थ है विधि-निषेध और तुलसी ने इसी नीति-पक्ष पर विशेष ध्यान दिया है; परन्तु उनका ज्ञापक पक्ष तो राम का साक्षात्कार है जिसे उन्होंने निरन्तर सामने रखा है। राम सच्चिदानन्द हैं, ब्रह्म-प्रतीक हैं, उनके दाशरथि-रूप में शील, सौन्दर्य और शौर्य की पराकाष्ठा कल्पित है; परन्तु वे मनुष्य के भीतर के अखण्ड, अद्वैती, आनन्दी व्यक्तित्व से अभिन्न हैं। इसी दाशरथि की भक्ति को भीतर जगाना है। राम हैं परिपूर्णता। इस परिपूर्णता की निरन्तर, जागरूक तथा निरुद्देशीय (अहेतुकी) आभ्यंतरिक उपलब्धि ही रामोपासना है। रामचरितमानस में रामकथा तो माध्यम

है, मुख्य हैं राम। मानवीय चरित्र में महान होते हुए भी तुलसी के राम ब्रह्म के प्रतीक हैं। अतः हम राम में चरित्र न खोजें, उनमें अखण्ड आत्मचेतना का विस्तार देखें जो अप्रतिम सौन्दर्य, शील और शौर्य के रूप में जीवन में व्याप्त है परन्तु जीवनेतर है। जीवनेतर से हमारा तात्पर्य अलख (अलक्ष्य) से नहीं है, क्योंकि स्वयं तुलसी "अलख" के विरोधी हैं। और अभेद (आत्मब्रह्म), प्रत्यक्ष (द्वैत) तथा "हम-हमार के बीच" (द्वैताद्वैतविलक्षण) के बीच के अनेक आयामों की कल्पना, को ही सार्थकता देते हैं। सच तो यह है कि ब्रह्मवादी जीवन-दृष्टि परोक्षवादी और पलायनवादी हो ही नहीं सकती।

ऊपर की विवेचना से यह स्पष्ट है कि तुलसी के साहित्य में, विशेष रूप से "मानस" में, अध्यात्म-जीवन का एक परिपूर्ण तन्त्र ब्रह्मवादी चेतना के आधार पर खड़ा किया गया है और उसे रामकथा की मनोरंजकता तथा काव्य की रसभूमि देने के साथ उदात्त धर्मचेतना से भी उसका सम्बन्ध जोड़ा गया है। इसमें संदेह नहीं कि तुलसी में ब्रह्मवाद ज्ञान-साधना मात्र न रह कर भाव-साधना बन गया है और उसमें मानव-जीवन को चैतन्य, आनन्द तथा धर्मनिष्ठा से ओत-प्रोत करने की अदम्य शक्ति आ गई है। इस योजना को महाकवि ने "विज्ञानभक्ति" कहा है और "स्वांतः सुखाय" के साथ उतनी ही दूर तक "अंतस्तमःशांतये" भी माना है। हमारे भीतर के आनन्द और चैतन्य के कोशों को उन्मुक्त करने में ही तुलसी की रामकथा की सार्थकता है।

राम के रामत्व की स्थापना के लिए तुलसी को एक विशेष योजना करनी पड़ी है। एक ओर है रावणत्व, दूसरी ओर रामत्व। रावण हिंसा, अधर्म और भौतिक (जड़बद्ध) दृष्टि का प्रतीक है तो राम शरणागति (प्रेम), धर्म और अभौतिकी (चिन्मय) दृष्टि के प्रतीक हैं। बालकाण्ड के आरम्भ में रावण तथा असुरों के ऐश्वर्य-विस्तार की योजना रामचरितमानस की विशेषता है और इसी अधर्म की व्याप्ति को पृष्ठभूमि बना कर चैतन्य के रूप में अयोध्या में एक छोटे-से बालक की अवतारणा हुई है। तुलसी ऐतिहासिक, पौराणिक या मानव राम की कथा नहीं लिख रहे हैं, अतः उन्होंने आरम्भ (रामजन्म) से ही राम के चिन्मय ब्रह्म और अवतारी पक्षों को आग्रहपूर्वक प्रस्तुत किया है। अध्यात्म-भूमि पर सम्पूर्ण रामकथा लीला है अर्थात् ब्रह्म की आनन्दमयी अभिव्यक्ति जिसका मूलोद्देश्य आत्मास्वादन है और जिसमें भक्त का भाव-पोषण है। रामचरित के इस द्वैध स्वरूप को तुलसी वार-वार उद्घाटित कर देते हैं, जिससे हम रामकथा को "प्राकृतजनगुनगान" नहीं समझ लें। जहां तक राम का सम्बन्ध है उनके अलौकिकत्व और रामत्व (ब्रह्मत्व) पर से तुलसी की दृष्टि क्षण भर के लिए भी नहीं टली है; परन्तु रामकथा के अन्य पात्रों के सम्बन्ध में उनकी दृष्टि भक्तिमूलक और चारित्रिक ही है। इनमें चरित्र की भूमि ही मानवीय कही जा सकती है, रामकथा के सभी पात्र प्रच्छन्न भक्त और रामत्व से परिचित बन कर राम के सम्बन्ध में हमारी ब्रह्म-भावना का ही पोषण करते हैं।

परन्तु रामचरितमानस की रामकथा का ढांचा केवल रामत्व या लीलात्व की भूमि पर ही नहीं खड़ा है, उसमें धर्मसंस्थापन की भी योजना है और राम का पुरुषोत्तमत्व इसी संदर्भ में सार्थक है। बालकाण्ड और अयोध्याकाण्ड की कथा पुरुषोत्तम राम के चरित्रनिर्माण की भूमिका है और तुलसी के भक्त-हृदय ने इसमें पुष्पवाटिका, जनकपुर-प्रवेश, विवाह और वनपथ के सुन्दर प्रसंग जोड़ कर राम के प्रति अपनी भक्ति-भावना का भी विकास किया है। कथा के इस भाग के लिए उन्होंने बाल्मीकि और कालिदास के साथ पण्डितवर्ग में प्रचलित "प्रसन्नराघव" और "हनुमन्नाटक" जैसे ग्रंथों की सामग्री भी ग्रहण की है। परन्तु राम की पुरुषोत्तमीय कथा तो "भुज उठाइ प्रण कीन्ह" (दोहाबंध—७) से ही आरम्भ होती है और अतुल पराक्रम के बाद रामाभिषेक पर उसकी समाप्ति होती है। राम का धर्मसंस्थापक रूप इस उत्तर कथा में पूर्णतः पल्लवित है। रावण-बध के उपरांत ब्रह्मा सहित देवतागण और शिवा और अभिषेक के समय वेद और शिव के द्वारा राम की वन्दना से राम का रामत्व और भी खुल जाता है और उनकी नरलीला असाधारणता प्राप्त कर लेती है; परन्तु तुलसी की तृप्ति इसी से नही होती। वे कागभुशुण्डि-प्रसंग में शिशु राम की ओर लौट कर उनके परात्पर, विराट एवं चिन्मय रूप की फिर एक बार स्थापना करते हैं—और ब्रह्माण्ड-व्याप्त भिन्नता में राम को ही एक मात्र स्थायी तत्व घोषित करते हैं। कागभुशुण्डि का मोह जहां आरम्भ में निर्गुण-सगुण को लेकर है, वहां अन्त में वह भेदजन्य विभ्रम का भी निराकरण करता है। सगुण और अवतारी दाशरथि राम के भीतर ही असंख्य ब्रह्माण्डों की योजना कर उनकी परात्परता सिद्ध की गई है। रामकथा के आरंभ में माता कौशल्या के लिए विराट् रूप की झांकी प्रस्तुत की गई थी और यहां ग्रंथ के समापन पर कागभुशुण्डि के समाधान के लिए उसे एक बार फिर प्रस्तुत किया जाता है, जिससे राम में नरबुद्धि के स्थान पर ब्रह्मबुद्धि की संस्थापना हो जाये। निर्गुण-सगुण अथवा जड़-चेतन में भेद-दृष्टि ही माया है और अभेद-दृष्टि ही एक मात्र सत्य है, यही रामचरितमानस के जिज्ञासा और समाधान के पक्ष हैं, जिनके लिए तुलसी ने मानसरोवर का रूपक बांध कर चार घाटों की कल्पना की है। वस्तुतः रामचरितमानस का वास्तुशिल्प अप्रतिम है और उसमें रामत्व द्वारा रावणत्व की पराजय को व्यक्ति राम या मानव राम की मनोभूमि पर नहीं, पुरुषोत्तम की मनोभूमि पर खड़ा किया गया है। परन्तु कथा के अंत में यह पुरुषोत्तम भी विराट्, चिन्मय, परात्पर राम (ब्रह्म) में विलीन हो जाते हैं। इस प्रकार रामचरितमानस के राम निरन्तर फैलते हुए ज्योतिवृत्त के केन्द्र में स्थापित हैं और स्वयं काल उनका कोदण्ड है।—वे अक्षर हैं, अनन्त हैं, अनादि हैं। सब कुछ क्षरित होकर इसी अक्षर में लयमान हो जाता है। इस ऊंचाई पर पहुंच कर रामचरितमानस की रामकथा परिसमाप्ति को प्राप्त होती है और जिज्ञासुओं के समाधान के लिए महाकवि अनेक दार्शनिक तथा आध्यात्मिक

समस्याओं को काव्य के रूप में निबन्धित कर देते हैं, जिससे पीछे मुड़ कर कथा-प्रसंगों को देखने की नई दृष्टि हमें प्राप्त हो। इस योजना से तुलसी की रामकथा महाकाव्य से ऊपर उठ कर साक्षात्कारी काव्य का रूप धारण कर लेती है और उसमें अध्यात्म का रंग ही प्रधान रंग बन जाता है।

आवश्यकता यह है कि हम रामचरितमानस में तुलसी-मानस के दर्शन करें, उसे केवल रामकथा मात्र अथवा महाकाव्य मात्र न मान लें। महाकाव्य साहित्य की सार्थकता हो सकता है ; परन्तु मनुष्य की सार्थकता उससे बड़ी चीज़ है और साहित्य इस सार्थकता का अंग मात्र है। मनुष्य की सार्थकता के सम्बन्ध में भारतीय मनीषा अभेद-दृष्टि को ही प्रधानता देती है और रामचरितमानस में जीवन के प्रति इसी अभेद, अखण्ड और चिन्मय दृष्टि का प्रसार है तथा तुलसी के राम में यही अभेदता, अखण्डता और चिन्मयता मूर्तिमान हुई है। इसे हम तुलसी का साक्षात्कार कह सकते हैं। इस साक्षात्कार को निरंतर, तरल तथा हार्दिक बनाने की प्रक्रिया ही भक्ति है। अभेद-ज्ञान की निर्मलता और भक्ति-भाव की तरलता से परिपूर्ण तुलसीमानस ही रामचरितमानस के रूप में साकार हो गया है। उसमें शिवत्व (लोकमंगल) की भी योजना है, क्योंकि उसे पहले शिव ने ही अपने मानस में धारण किया था। रामचरितमानस में अवगाहन करते समय हम इस तुलसीमानस से ही तादात्म्य कर सकें तो हमारा श्रम सार्थक हो। जीवन की अखण्डता, सच्चिदानन्दता और अभेदता के साथ-साथ उसकी प्रस्रवणता, मांगलिकता तथा शिवता से भी परिचित हों और, जीवन से भाग कर नहीं, उसकी बहुमुखी अभिव्यंजनाओं के भीतर से ही उसकी सिद्धता को सार्थक करें। सत्यं, शिवं और सुन्दरं के साथ चैतन्यम्, अद्वैतम् और आनन्दम् को जोड़ कर ही हम उस अध्यात्म को आधुनिक अर्थबोध दे सकेंगे जो तुलसी के रामचरितमानस में साक्षात्कारबद्ध है।

●

: ९ :

तुलसी की धर्मदृष्टि

तुलसी के साहित्य में धर्म और नीति का कोई विरोध नहीं है। धर्म धारण करता है, उसमें समाज का स्थायित्व है तो नीति उसे गतिशील रखती है, वह धर्म का ही व्यावहारिक स्वरूप है। भारतीय सांस्कृतिक चेतना में धर्म केवल अध्यात्म जगत की ही वस्तु नहीं है, वह जीवन-यात्रा की "लुकाठी" भी है। परन्तु इतना होने पर भी वह अध्यात्म से अभिन्न नहीं है, क्योंकि उसके मूल में अद्वैतवादी अभेदमूलक करुणा-दृष्टि की ही प्रधानता है। अरण्यकाण्ड के मंगलाचरण में तुलसी ने "मूलं धर्मतरु" कह कर भगवान शंकर को धर्म का मूल माना है। अतः धर्म के मूल में भगवान हैं। इस धारणा के अनुसार धर्म भगवन्निष्ठा पर आधारित हो जाता है, क्योंकि उपास्य स्वयं मूर्त्तिमान धर्म है। केवल शिव ही नहीं, राम की भी कल्पना इसी धर्मसंस्थापक रूप में (या मूर्त्तिमान धर्म के रूप में) की गई है। रामजन्म के मूल कारण का वर्णन करते समय तुलसी ने गीतोक्त सिद्धांत के सहारे इस बात को स्पष्ट कर दिया है। शिव उमा से कहते हैं :—

जब जब होइ धर्म की हानी। बाढ़हिं असुर अधम अभिमानी॥
करहिं अनीति जाइ नहिं बरनी। सीदहिं विप्र धेनु सुर धरनी॥
तब तब प्रभु धरि विविध सरीरा। हरहिं कृपानिधि सज्जन पीरा॥
असुर मारि थापहिं सुरन्ह राखहिं निज श्रुति सेतु।
जग विस्तारहिं बिसद जस राम जनम कर हेतु॥

—(बाल० १२१)

और इस प्रकार समस्त रामकथा धर्मसंस्थापन का उदाहरण मात्र बन जाती है। इसीलिए तुलसी ने कथा के आरम्भ में विस्तार से दुर्नीति की व्यापकता तथा घनघोरता का विवरण दिया है और अधर्म की उस महान चुनौती के सामने राम के तेजवान चरित्र को रखा है। राम का यह तेजवान चरित्र मानवी लगता है परन्तु तुलसी की धारणा में वह दैवीय है, क्योंकि राम माया-मनुष्य हैं। परन्तु तुलसी दैवीयता को मानवीयता का श्रेष्ठतम विकास ही मानते हैं। भक्तिकाल में देवता को ही मनुष्य की भूमि पर खड़ा कर दिया गया है; परन्तु इससे मनुष्य की जीवन-भूमि ही महार्घ हुई है। उसमें मनुष्य की कदर्थना नहीं, उसकी चरितार्थता है। इस संदर्भ में तुलसी के राम धर्म के प्रतिरूप बन जाते हैं और उनके कार्यकलाप

धर्म की परिभाषा। इस कार्यकलाप के दो विभाग हैं। एक का सम्बन्ध राम के व्यक्तिगत चरित्र से है, दूसरे का सार्वजनिक चरित्र से। व्यक्तिगत सम्बन्धों के निर्वाह में भी राम सदैव धर्म की तुला को सामने रखते हैं और जागरूक कर्त्तव्य-बुद्धि, मर्यादा तथा संतुलन से जीवन-क्षेत्र में आगे बढ़ते हैं। परन्तु उनकी धर्मबुद्धि का श्रेष्ठतम रूप उस समय दिखलाई देता है, जब अरण्यकाण्ड के अंतर्गत वे ऋषियों द्वारा मुनियों का अस्थिसमूह दिखलाये जाने पर :—

निसिचर हीन करउं महि भुज उठाइ पन कीन्ह ॥६॥

उद्घोष करते हैं। शेष कथा उनकी इसी प्रतिज्ञा का पालन मात्र बन जाती है और सीताहरण का व्यक्तिगत पक्ष हमारी आंखों से ओझल हो जाता है। वास्तव में रावण द्वारा सीताहरण व्यक्तिगत प्रतिशोध का कार्य न होकर दुर्नीतिमूलक अधर्म बन जाता है और तुलसी उसके प्रतिकार में धर्म की समस्त शक्तियों का आह्वान करते हैं। इसीलिए सुतीक्ष्ण राम की बन्दना करते हुए कहते हैं :

धर्म वर्म नर्मद गुण ग्रामः। संतत शंतनोति मम रामः ॥

—(अरण्य० १)

उत्तरकाण्ड के अंत में कवि ने स्वयं भगवान राम के श्रीमुख से संत-असंत का वर्णन करवाया है और उसी में प्रकारान्तर से धर्म-अधर्म के लक्षण भी आ जाते हैं (दे० उत्तर ३७-४१) और इसी प्रसंग में तुलसी धर्म का निचोड़ दो पंक्तियों में रख देते है कि :

परहित सरिस धर्म नहिं भाई।
परपीड़ा सम नहिं अधमाई ॥ (४१)

अर्थात् धर्म है परोपकार (आत्मदान) और अधर्म है हिंसा (परपीड़ा)। कलियुग तथा रामराज्य के रूप में भी अधर्म और धर्म की भूमियां ही मूर्त्तिमान की गई हैं।

तुलसी ने धर्म के मूल में श्रद्धा को देखा है। वे कहते हैं :

श्रद्धा बिना धर्म नहिं होई। बिनु महि गंध कि पावइ कोई ॥

—(उत्तर० ९० क)

परन्तु धर्म युगबद्ध भी है और काल के अनुसार धर्म की प्रवृत्ति भी बदलती है, ऐसा भी तुलसी ने माना है। वे कहते हैं कि धर्म के चार पद हैं; परन्तु कलियुग में केवल एक पद "दान" रह गया है :

प्रगट चारि पद धर्म के कलि महुं एक प्रधान।
जेन केन बिधि दीन्हे दान करइ कल्यान ॥ (१०३ ख)

नित युग धर्म होंहि सब केरे। हृदय राम माया के प्रेरे ॥
सुद्ध सत्व समता बिग्याना। कृत प्रभाव प्रसन्न मन जाना ॥
सत्व बहुत रज कछु रति कर्मा। सब विधि सुख त्रेता कर धर्मा ॥
बहु रज स्वल्प सत्व कछु तामस। द्वापर धर्म हरष भय मानस ॥

तामस बहुत रजोगुन थोरा। कलि प्रभाव विरोध चहुं ओरा ॥
जुग जुग धर्म जानि मन माहीं। तजि अधर्म रति धर्म कराहीं ॥१०४॥

सात्विक श्रद्धा को धर्म की आधार-शिला मान कर तुलसी ने एक रूपक ही खड़ा कर दिया है। (दे० विज्ञान-दीपक रूपक, ११७-११८) जप, तप, व्रत, यम, नियम आदि ही धर्माचार हैं परन्तु यह धर्मभूमि भक्ति की भावभूमि की पहली मंजिल ही कही जा सकती है। भक्ति का मूल है विरति और तुलसी ने "धर्म ते विरति" कह कर धर्म को भक्ति का मूल बना दिया है। भव के प्रति आसक्ति ही तुलसी के मत में दुःख की जड़ है और उसके प्रति अनाशक्ति (विरति) ही दुःख निरोध का महामन्त्र है। परहित और परपीड़ा में तुलसी ने धर्म और अधर्म को केन्द्रित कर मैत्री और हिंसा के दो स्तम्भ स्थापित किये हैं। हिंसा का शमन करुणा से ही सम्भव है। अतः मैत्री और करुणा के दो स्तम्भों पर तुलसी की धर्मभावना खड़ी है। उनके अतिमानव राम इन दोनों की पराकाष्ठा के रूप में कल्पित हैं। उनमें मैत्री-धर्म और करुणा-धर्म का अत्यन्त व्यापक प्रसार है। कहने का तात्पर्य यह है कि तुलसी की धर्म सम्बन्धी धारणा लोकमंगल पर आधृत है। उसमें अनासक्ति-मूलक कर्मयोग की प्रतिष्ठा है, पलायनमूलक वैराग्य अथवा व्यष्टिमूलक एकांत साधना को वे धर्म नहीं मानते।"सियाराममय सब जग जानी।" वाले आदर्श को लेकर चलने वाला साधक सांसारिक प्राणियों के दुःख तथा उत्पीड़न के प्रति अनाकांक्षित नहीं रह सकता। रावण के प्रति कवि के महान आक्रोश के पीछे यही गंभीर धर्म-भाव है जो प्रत्येक प्रकार के शोषण, उत्पीड़न तथा अनाचार विरोधी है तुलसी की धर्मदृष्टि वस्तुतः राम दृष्टि ही है क्योंकि उनके रामभाव का सम्पूर्ण रूप से समाहार हो गया है।

इस धर्मभाव को तुलसी ने अपनी जीवन-चर्या में बांधना चाहा है और प्रकारांतर से मानव-जीवन के आदर्श के रूप में सामने रखा है। उन्होंने "विनयपत्रिका" में अपने मनोराज्य का एक चित्र इस प्रकार प्रस्तुत किया है :

कबहुंक हौं यहि रहनि रहौंगो।
श्री रघुनाथ-कृपालु कृपा ते संत सुभाव गहौंगो।
यथा लाभ संतोष सदा काहू सौं कछु न कहौंगो।
परहित निरत निरंतर मन क्रम वचन नेम निबहौंगो ॥
परुष बचन अति दुसह स्रवन सुनि तेहि पावक न दहौंगो।
बिगत मान, सम सीतल मन, पर-गुन, नहिं दोष कहौंगो ॥
परिहरि देह जनित चिन्ता, दुख-सुख समबुद्धि सहौंगो।
तुलसिदास प्रभु यहि पथ रहि अविचल हरिभक्ति लहौंगो ॥१७२॥

यह धर्मचर्या ही मानव-जीवन की सार्थकता है। तुलसी का भक्त यही धर्मचर्या जीता है। उनके भरत इस धर्मचर्या के प्रतीक हैं। स्वयं तुलसी के चरित्र में हमें इसी धर्मचर्या का तेज स्पष्ट रूप से दिखलाई देता है :

जापकी न, तप खप कियो, न तमाई जोग,
जाग न, विराग, त्याग तीरथ न तनको।
भाई को भरोसो न खरो सो बैर बैरीहू सों,
बल अपनो न, हितू जननी न जनको॥
लोक को न डर, परलोक को न सोच,
देवसेवा न सहाय, गर्व धाम को न धन को।
रामही के नाम तें जो होइ सोई नीको लागै,
ऐसोई सुभाव कछु तुलसी के मन को॥७७॥

जिस प्रकार की आत्मनिष्ठा तथा अनपेक्षिता इस पद में प्रगट है वह श्रद्धा-सम्मत वित्रानभक्ति की ही देन हो सकती है। "कवितावली" (लं० १०५-६) में सामयिक परिवेश की भूमि पर इस रामाश्रित जीवन का सुन्दर लेखाजोखा प्रस्तुत किया गया है। सच तो यह है कि तुलसी की समदृष्टि ही उनके चरित्रानुसंधान, राम की विराट कल्पना तथा हनुमान और भरत जैसे भक्तों के जीवन में प्रतिबिंबित है। संत तथा भक्त के रूप में उन्होंने रामचरितमानस में जो जीवनादर्श पल्लवित किये हैं, वे धर्म की दृढ़ भित्ति पर ही आधारित हैं। यह धर्मदृष्टि ही तुलसी की एकांत साधना को लोकमंगल का उदात्त स्वरूप प्रदान करती है।

●

:१० :

तुलसी का काव्यहेतु

रामचरितमानस के आरम्भ में तुलसी ने "स्वान्तःसुखाय तुलसी रघुनाथगाथा भाषा-निबन्धमतिमंजुलमातनोति" कह कर रचना के पीछे कवि के उद्देश्य की ओर इंगित किया है और ग्रंथ के समापन पर "स्वान्तस्तमःशांतये भाषाबद्धमिद चकार तुलसीदासस्तथा मानसम्" के रूप से इस उद्देश्य का समर्थन भी किया है। वास्तव में ये दोनों तुलसी के एक ही उद्देश्य के दो छोर हैं क्योंकि तुलसी के लिए जो सुख उपार्जनीय है वह आत्मपरिष्कार में सन्निहित है। वे न कवियशःप्रार्थी हैं, न काव्य को "अर्थ से" मान कर अर्थ से उसका नाता जोड़ते हैं। उन्होंने अंतस् के अंधकार के शमन के लिए ही रामचरित को भाषाबद्ध किया है। यह रचना में कवि का आत्मपक्ष है। प्रश्न यह है कि अंतस्तम से तुलसी का क्या तात्पर्य है। क्या इस रचना के द्वारा कवि ने अपने भीतर की अवचेतनीय ग्रन्थियों को सुलझाया है अथवा अपने मानस की किसी अंधेरी गहराई को आलोकित किया है? तुलसी की नारी-भर्त्सना से इस अंतस्तम का कोई सम्बन्ध नहीं है। इसमें सन्देह नहीं कि तुलसी के लिए रामचरित-मानस की रचना आत्मशोध मात्र नहीं थी, आत्मतोष भी थी क्योंकि उत्तरकाण्ड के अंत में "परम विश्रामु" पाने की बात भी कही गई है। आधुनिक मनोविज्ञान की भाषा में कहें तो कह सकते हैं कि रामचरितमानस में स्वयं तुलसी का मानस प्रतिबिंबित है। रामचरितमानस के आरम्भ में जो शंका, उद्वेग तथा उत्पीडन की स्थिति है वह केवल उमा, कागभुशुण्डि अथवा याज्ञवल्क्य की ही मनःस्थिति नहीं है, वह स्वयं तुलसी की भी मनःस्थिति है। ब्रह्म (राम) के सगुण, निर्गुण रूप का निरूपण तथा इन दोनों पक्षों में समाधान का प्रयत्न इस मनःस्थिति का दार्शनिक पहलू है। इसे तुलसी के व्यक्तित्व का ज्ञान और भक्ति सम्बन्धी द्वन्द्व भी कहा जा सकता है। इस प्रकार के द्वन्द्वों से ऊपर उठ कर रचना के अंत में कवि ने जिस समग्र, अखण्डित और संतुलित मनःस्थिति का प्रकाश पाया है उसे ही उसने "परम विश्राम" की स्थिति कहा है। इस दृष्टि से रामचरितमानस केवल रामचरितमानस नहीं रह जाता, वह तुलसीमानस भी बन जाता है। उसकी सूक्ष्म गतिविधियों से परिचित हुए बिना इस रचना के सौन्दर्य और उसकी सप्राणता को हम पूर्णतः उद्घाटित नहीं कर सकते।

ब्रह्मवाद मध्ययुग के भक्तों और पौराणिकों के सामने एक चुनौती के रूप में खड़ा था और उसका समाधान किये बिना भक्ति को सम्पूर्ण और अव्याकृत आकांक्षा देना भक्त के लिए असम्भव बात थी। ब्रह्म का अर्थ है अखण्डित, अबाधित चैतन्य जो वस्तुमात्र का मूलभूत और अंतरंगी तत्व है। अवतारवाद से यह चैतन्य सीमाबद्ध होकर खण्डित हो जाता है। अवतारी खण्ड चेतना ब्रह्मवादी अखण्डित चेतना कैसे बन सकती है,—यह सगुण-निर्गुण का दार्शनिक द्वन्द्व है। लीलावाद इसी के समाधान का एक रूप है। यह लीलावाद पौराणिक परम्परा है, दर्शन से इसका कोई सम्बन्ध नहीं है। पुराणों के विष्णु "परित्राणाय साधूनां विनाशाय दृष्कृताम्" अवतार ग्रहण करते हैं परन्तु मध्ययुग के भक्तों ने अवतार की दूसरे ढंग से भी व्याख्या की—कि "भक्तहेतु अवतरेउ गोसाई।" भक्त के हृदय को आस्था देने के लिए और उसके अनुरंजन के लिए भी विष्णु अवतार लेते हैं। जहां अवतारवाद की गीतापरक व्याख्या मनुष्य के नैतिक मूल्यों को दृढ़ करती है, वहां मध्ययुगीन भक्तों की भक्तिपरक व्याख्या भावनात्मक मूल्यों को बल देती है और भक्त तथा भगवान के बीच में कोमल तंतुओं का निर्माण करती है। भगवान यहां विराट् चैतन्य का प्रतीक है, भक्त उससे अपना भाव-सम्बन्ध जोड़ कर अद्वैतात्मक अथवा अखण्डात्मक मनःस्थिति को ही उभारता है। तुलसी ने राम के रूप में धर्म को ही मूर्त्तिमान किया है जो एक साथ नैतिक तथा संवेदनात्मक एकात्मपरक मूल्यों का समुच्च्य है। धर्मसंरक्षक राम नैतिक तथा मानवीय मूल्यों के प्रति भारतवर्ष की आस्था के प्रतीक हैं और भक्तवत्सल राम उसकी असीम अद्वैत-निष्ठा तथा चिन्मयता के प्रति विश्वास की प्रतिध्वनि हैं। दार्शनिक क्षेत्रों में चाहे अद्वैत को लेकर "वाद" खड़े किये गये हों; परन्तु भक्तों के भावक्षेत्र में इस प्रकार के कोई विभेद नहीं हैं। इसीलिए तुलसी कहते हैं।

मुनि धीर जोगी सिद्ध संतत बिमल मन जेहि ध्यावहीं।
कहि नेति निगम पुरान आगम जासु कीरति गावहीं॥
सोइ राम व्यापक ब्रह्म भुवन निकाय पति मायाधनी।
अवतरेउ अपने भगतिहित निज तंत्र नित रघुकुलमनी॥

—(**बाल ५१**)

यह कहा जा सकता है कि तुलसी की सेवक-सेव्यभावा दास्य भक्ति में ब्रह्मवादी अद्वैत चेतना का विरोध अंतर्निहित है; परन्तु इस दास्य भक्ति को हम खण्ड की अखण्ड के प्रति या सीमा का असीम के प्रति निवेदन मात्र मान सकते हैं क्योंकि तुलसी ने स्पष्ट ही जीव-ब्रह्म का तात्विक अभेद घोषित किया है :

ईश्वर अंस जीव अविनासी। चेतन अमल सहज सुखरासी॥
सो माया बस भयउ गोसाईं। बंध्यो कीर मरकट की नाईं॥
जड़ चेतनहिं ग्रन्थि परि गई। जदपि मृषा छूटत कठिनई॥
तब तें जीव भयउ संसारी। छूट न ग्रन्थि न होइ सुखारी॥

श्रुति पुरान बहु कहेउ उपाई। छूट न अधिक अधिक अरुझाई।।
जीव हृदयं तम मोह बिसेषी। ग्रंथि छूट किमि परइ न देखी।।
(उत्तर० ११७)

इस धारणा में दर्शन की भूमि पर नहीं तो भावना की भूमि पर ही जीव ब्रह्म का अभेदत्व स्थापित हो जाता है और भक्ति के लिए भी गुंजाइश निकल आती है क्योंकि उसी के माध्यम से जीव के हृदय में उत्पन्न मोह रूपी अंधकार का नाश होता है। यह "तम" (अंधकार) मोह के दो रूपों में प्रगट है जिन्हें तुलसी ने "काम" और "लोभ" कहा है। ये काम और लोभ रागात्मक तत्व हैं और जड़परक अथवा देहबुद्धिजनित होने के कारण जीव की ब्रह्म-चेतना (या अभेदत्व) को नष्ट कर देते हैं। इनकी तीव्र रागात्मिकता को भक्त सुरक्षित रखना चाहता है; परन्तु इस रागात्मिकता को वह जड़ोन्मुख न बना कर चिन्मयोन्मुख (रामोन्मुख) बनायेगा। रामचरितमानस का अन्तिम दोहा इसी भाव का प्रकाशन है :—

कामिहि नारि पिआरि जिमि लोभिहि प्रिय जिमि दाम।
तिमि रघुनाथ निरंतर प्रिय लागहु मोहि राम।।
(उत्तर० १३० ख)

यह "मोह" जड़-चेतन की ग्रंथि का सूचक है और मृषा है; परन्तु "मृषा" होने से उससे छूटना और भी कठिन हो जाता है। उत्तरकाण्ड के अंत में विज्ञान-दीपक रूपक में तुलसी ने इस भ्रम के निवारण के लिए ज्ञान और भक्ति दोनों उपायों का सविस्तृत निर्देश किया है और ज्ञान के ऊपर भक्ति की स्वतन्त्रता तथा सरलता की घोषणा की है। जड़त्व ही जीव का बन्धन है जो मूल रूप से चेतन है परन्तु यह जड़त्व भ्रामक है। इस प्रकार भक्ति के द्वारा जीव अपने मूलभूत चैतन्य की ओर लौटता है और यह मार्ग अपेक्षाकृत सुगम, हार्दिक तथा रागात्मक होने के कारण सरस है। इस चैतन्य का बाधक है "संसार" जिसका विशद वर्णन तुलसी ने "विनयपत्रिका" के कई पदों में किया है, जैसे इस प्रसिद्ध पद में :—

मैं तोहि अब जान्यो संसार।
बांधि न सकहि मोहिं हरि के बल प्रगट कपट आगार।।
देखत ही कमनीय, कछू नाहिंन पुनि किए विचार।
ज्यों कदली-तरु मध्य निहारत कबहुं न निकसत सार।।१८८।।

इस संसार या जड़ोन्मुखता को ही तुलसी ने "कलि" कहा है और कलियुग के ऊपर रामराज्य की महत्ता स्थापित कर उन्होंने जड़ के ऊपर चैतन्य का ही आरोप किया है। यही मूल भारतीय दृष्टि है जो भौतिक न होकर आध्यात्मिक है। यहीं पर तुलसी-साहित्य के स्व-पर का समाधान हो जाता है। जिस जड़त्व को तुलसी ने अपने भीतर चुनौती दी और मोह के दो रूपों (काम-लोभ) के शमन के लिए "मानस"—रचना के रूप में आत्मपरिष्कार की योजना की और जिन्हें उन्होंने

"कलि" का कटक कहा, उसे ही तुलसी ने अपने युग में "कलियुग" के रूप में मूर्त्तिमान देखा। जिस प्रकार "मोह" से लड़ने के लिए उन्होंने रामत्व (अभेदत्व या अनन्यत्व) का आविष्कार किया जिसमें श्रेष्ठतम नैतिक और आध्यात्मिक मूल्यों का समावेश था, उसी प्रकार "कलियुग" से मोर्चा लेने के लिए उन्होंने रामचरितमानस के अंत में रामराज्य के संकल्प को वाणी दी और उसके आकर्षक स्वरूप का निर्माण किया। इस प्रकार आत्मसाधना के मार्ग से तुलसी लोकमंगल की विराट् भूमि पर पहुँचे। अपनी दीनता और राम की करुणा में उन्होंने स्व-पर के द्वन्द्व का निवारण किया है।

भक्त और भगवान को जोड़ने वाला तत्व है भगवान की करुणा और भक्त की दीनता। रामचरितमानस में कवि ने इन दोनों पक्षों का सोदाहरण प्रकाशन किया है। भक्त और भगवान के बीच का यह दोतरफा सम्बन्ध ज्ञान का सम्बन्ध नहीं, भक्ति का सम्बन्ध है। रामकथा के बीच में ऐसे अनेक प्रसंग आते हैं जहां भक्त की दीनता भगवान की करुणा को आह्वान कर सार्थक बनती है। परम्परागत चरित्रांकन के साथ तुलसी ने रामकथा के पात्रों में यह भक्त और भगवान का सम्बन्ध भी अनिवार्य रूप से जोड़ दिया है जिससे उनका रामचरितमानस चरित्र-ग्रंथ न रह कर भक्ति-तंत्र बन गया है। यह तुलसी की एकदम मौलिक और नवीन योजना है। वह भक्त की भगवद्‌निष्ठा का प्राणवान प्रकाशन है तो भगवान की भक्तवत्सलता का भी महान् रूपक है। उसकी पौराणिकता तथा चरित्रात्मकता के पीछे इसी नवीन योजना का सम्बल है। इसी रूप में रामचरितमानस तुलसी की आत्मसाधना है जो स्वान्तःसुखाय से आरम्भ होकर अंतस्तमःशांतये पर समाप्त होती है।

ऊपर के विवेचन से यह स्पष्ट है कि तुलसी के रामचरितमानस में आत्मदमन और आत्मतोष के दो पहलू हैं। उनके आत्मदमन का पक्ष "काम" और "लोभ" के प्रति बांधे गये मोर्चे में मिलेगा और आत्मतोष का पक्ष राम के व्यक्तित्व, चरित्र तथा उनकी भक्तवत्सलता के प्रति कवि के अप्रतिहत तथा असीम उल्लास के रूप में मुखरित है। तुलसी के आदर्श भरत एक महान साम्राज्य के लोभ को तृणवत् त्याग देते हैं और वे स्वयं अशांत हृदय से निवेदित होकर कहते हैं :—

बालपन सूधे मन राम सनमुख भयो,
राम नाम लेत, मांगि खात टूकटाक हौं।
पर्‌यौ लोकरीति में, पुनीति प्रीति रामराय,
मोहबस बैठो तोरि तरकि तराक हौं॥
खोटे खोटे आचरन आचरत अपनायो,
अंजनीकुमार, सोध्यो रामपानि पाक हौं।
तुलसी गुसाईं भयो, भोंड़े दिन भूलि गयो,
ताको फल पावत निदान परिपाक हौं॥४०॥

—(कवितावली)

परन्तु उनकी आत्मानुभूति उनके दूसरे मोर्चे में ही अधिक स्पष्टता से दिखलाई देती है जो "काम" और उसके प्रतीक नारी के प्रति उक्तियों, कथाओं एवं संदर्भों में वाणीबद्ध है। रामचरितमानस के इन अंशों को इस संदर्भ से हटा कर हमने उन्हें नारी-निंदक मान लिया है अथवा उनके भक्ति-भाव को एकमात्र वैराग्य-परक बना दिया है। हमने उनके आत्मदमन को उसके वास्तविक स्वरूप में नहीं देखा है। इसी रूप में उसकी सार्थकता है। इस दृष्टि से देखने पर तुलसी के नारी-चित्रण तथा उनकी नारी-सम्बन्धी सूक्तियों में तारतम्य भी स्थापित हो जाता है क्योंकि जहां पहले में उनकी आदर्शवादी, मानवीय तथा चारित्रिक दृष्टि रहती है, वहां दूसरी में उनकी रामोन्मुखता की तीव्रता तथा शम-दमसम्पन्न भक्तिवादी दृष्टि ही पल्लवित हुई है। तुलसी के व्यक्तित्व में इन दोनों पक्षों का समाहार है क्योंकि तुलसी आदर्शवादी तथा मानवीय होने के साथ-साथ भक्त भी हैं। ग्रंथ के अंत में तुलसी ने जिस अंतस्तमःशान्ति की ओर इंगित किया है, वह काम के सम्बन्ध में उनका यह स्वास्थ्य और स्वारस्य ही है। इस विषय में तुलसी का मत तीव्र, पूर्वग्रही तथा अमर्यादित जान पड़ता है; परन्तु उसका कारण कदाचित् यह है कि स्वयं तुलसी को आत्मदमन के कठोर मार्ग से गुजरना पड़ा है और इस प्रक्रिया में नारी के सम्बन्ध में उनका स्वर विकृत हो उठा है। ग्रंथ के आरम्भ में कामदहन और नारद-मोह प्रसंग, किष्किंधाकाण्ड का नारद के प्रति राम का नारीविषयक उपदेश, मंदोदरि के प्रति रावण की उक्ति आदि प्रसंग साध तुलसी के मनःचित्र हैं, सिद्ध तुलसी का स्वरूप इससे भिन्न है। इस आत्मदमन के फलस्वरूप कहीं-कहीं अवाँछित रूप से काम व्यापार के प्रति आकर्षण भी दिखलाई देता है और "विन्ध्य के वासी उदासी तपी" वाले छन्द में कवि का विनोद नारी-सम्बन्धी (अथवा कामसम्बन्धी) उनके संतुलन को सूचित करता है। रामचरितमानस के अंत में तुलसी ने लोभ के साथ काम पर भी विजय प्राप्त करली है और जिस तीव्रता से उन्होंने इन वृत्तियों से अपना सम्बन्ध जोड़ा था उसी तीव्रता से वे राम की ओर उन्मुख हो गये हैं। यह स्पष्ट है कि रामचरितमानस कवि की भावसाधना की महत्वपूर्ण मंजिल है। उसमें तुलसी की आत्मविजय स्पष्ट रूप से लक्षित है और विजयरथ रूपक में उन्होंने इस आत्म-विजय के साधनों को ही प्रस्तुत किया है।

परन्तु रामचरितमानस स्वान्तःसुखाय और अंतस्तमःशांतये का समीकरण मात्र नहीं है। उसमें इस आत्मपक्ष के साथ परपक्ष की भी योजना है। प्रत्येक काण्ड के अंत में तुलसी इस परपक्ष को आग्रह के साथ सामने रख देते हैं। ग्रंथ का अंतिम श्लोक तुलसी के इसी दृष्टिकोण का सूचक है; जिसमें मानस की शाँतिप्रदायिनी निष्ठा को सर्वोपरि स्वीकृत किया गया है। कवि के शब्दों में :—

पुण्यं पापहरं सदा शिवकरं विज्ञानभक्तिप्रदं
मायामोहमलापहं सुविमलं प्रेमाम्बुपूरं शुभम्।
श्रीमद्रामचरित्रमानसमिदं भक्तयावगाहन्ति ये
ते संसार पतंगघोरकिरणैर्दह्यन्ति नो मानवः

तुलसी ने यहाँ भी "संसार" के तीव्र उत्ताप को मानव-मात्र के लिए क्लेशकर माना है। अपने मन की भूमि पर से ही उन्होंने सब के मन को देखा है और वहिर्जगत के उत्ताप के मूल में भी उन्ही प्रवृत्तियों को रखा है जो अंतर्जगत को क्षुब्ध करती है। उन्होंने "मायामोह" को मल कहा है और प्रकारान्तर से यही उनकी पाप की परिभाषा का निर्माण करते है। विज्ञानभक्ति से ही इस ताप, मल अथवा पाप का शमन और अनन्त पुण्य तथा अपरिसीम कल्याण का उदय होता है। "कलिमल", "दारुन अविद्या" तथा "पंचजनितविकार" उन मानसिक वृत्तियों को सूचित करते है (१३० : २) जो मनुष्य के चैतन्य को कुंठित कर उसे जड़ोन्मुख बनाती है। इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि तुलसी का समाधान जितना व्यक्तिगत है उतना समष्टिगत तथा सार्वभौमिक भी है और उसमें उच्चतम मनोवैज्ञानिकता का समावेश हो गया है। तुलसी ऐसे अखण्ड व्यक्तित्व की कल्पना करते हे जिसमें ज्ञानयोग, भक्तियोग और कर्मयोग की पराकाष्ठा है और जिसका अंतर्वहिर स्वप्रकाशित, शमदमसंवलित एवं आत्मदानी है। उन्होंने "सुरसरि सम सब कर हित होई" कह कर ऐसी वाणी की अभ्यर्थना की है; जो एकान्ततः आत्मदानी है और जिसका अंतःसुख और अतःशान्ति का योग सरलतम एवं हार्दिक अभिव्यंजना के साथ सब को सुलभ है। इसमे संदेह नही कि रामचरितमानस में तुलसी का उदार, निर्मल तथा प्रेमपूर्ण मानस ही उद्भासित हो उठा है और उनकी आत्मपरिष्कार की साधना गंगा की तरह सर्वसुलभ बन कर लोकमानस के प्रक्षालन का व्यापक हेतु लेकर चली है। काव्य को रस सिद्धि या लोकोत्तर आनन्द का विधायक मान कर और उसमे आकण्ठ डूब कर तो अनेक महाकवियो ने अपनी रचना प्रस्तुत की है; परन्तु अकेले तुलसी ने काव्य को आत्मोपलब्धि का साधन बनाया है। इसीलिये रामचरितमानस की काव्यकोटि अन्य महाकाव्यों की काव्यकोटि से भिन्न, विशिष्ट एव समर्थतर है। उसकी लोकोत्तरता रसकोटि की नही, समाधिकोटि की है। तुलसी ने इसे ही "रस-विशेष" की सज्ञा दी है; परन्तु इस रस-विशेष से कोरा भक्तिवाद या वैराग्यवाद इष्ट नही है, वह इन दोनों से वड़ी चीज है और उसमें लोकमंगलमूलक कर्म भी समाहित है। राम के चरित्र में इस कर्म का श्रेष्ठतम स्वरूप तक्षणित है। अपने द्वन्द्वों के भीतर से बढ़ते हुए तुलसी अंत में सम्पूर्ण रूप से उनका समाधान प्राप्त कर लेते हैं, उनका अंतस् प्रकाशवान तथा आनन्दमय बन जाता है; परन्तु आत्मोपलब्धि की इस प्रक्रिया में ही प्रच्छन्न रूप से लोकमंगल की योजना हो जाती है; क्योंकि तुलसी ने जिस रामचरित को उद्घटित किया है वह समग्र, आदर्श तथा नैतिक जीवन के श्रेष्ठतम मानवीय मूल्यों से संयोजित है। उसमें विज्ञानभक्ति (अद्वैतभक्ति) की पृष्ठभूमि पर मानव-जीवन की श्रेष्ठतम, सशक्त तथा अप्रयास अभिव्यक्ति है। रामचरितमानस की भक्ति दुर्बल मन की कदर्थना नहीं, चिर चेतन और सतत जागरूक मन का पुरुषार्थ है जो इच्छा, ज्ञान और कर्म के संतुलित योगायोग से समर्थ होकर सप्राण बना है। निःसंदेह अपने व्यक्तित्व में

तुलसी ने इस विचक्षण योग का साक्षात्कार किया है और उनके रामचरितमानस ने इसे ही भविष्यत् पीढियों के लिए अक्षुण्ण, अखण्ड तथा अनपेक्षित बनाये रखा है। रामचरितमानस मध्ययुग का वह ज्योतिर्मय अलातचक्र है जो आज भी हमें चमत्कृत, आनन्दित एवं एकान्वित करने में समर्थ है। इस अभिनव दृष्टिदान में तुलसी की आत्मसाधना ही प्रतिष्ठित है।

●

: ११ :

रामचरितमानस का प्रतिपाद्य विषय

रामचरितमानम के विषय में कई भ्रांत धारणाएँ हैं—कोई उसे महाकाव्य कहता है,कोई चरित्र काव्य, कोई भक्तिकाव्य। कोई उसे ज्ञान विज्ञान का कोष कहता है। कठिनाई होती है यह स्थिर करने में कि रामचरितमानम का प्रतिपाद्य विषय क्या है। क्या तुलसी केवल धीरनायक की प्रतिष्ठा कर रहे है या उत्तम आदर्श चरित्रों को सामने रख रहे है या भक्ति का प्रतिपादन ही उनका ध्येय है ? यदि यह कहा जाय कि तुलसी के सामने ये सब ध्येय है तो फिर समस्या यह होती है कि किस ध्येय को प्रधान माना गया है, किसको गौण ?

अंतर्साक्ष्य से हम यह सिद्ध कर सकते है कि तुलसी का प्रधान विषय रामकथा का भक्तिपूर्वक वर्णन है और श्रद्धालु भक्त उनके श्रोता है :

हरि हर पद रति मति न कुतरकी। तिन्ह कहुं मधुर कथा रघुवर की।
राम भगति भूषित जिय जानी। सुनिहहिं सुजन सराह सुबानी।।

इसी भक्त श्रोतावर्ग के लिए तुलसी कहते हैं—

कवि न होहुं नहिं वचन प्रवीनू। सकल कथा सब विद्या हीनू।।
आखर अरथ अलंकृति नाना। छंद प्रबन्ध अनेक विधाना।।
भाव भेद रस भेद अपारा। कवित दोष गुन विविध प्रकारा।।
कवित विवेक एक नहिं मोरे। सत्य कहहु लिखि कागद कोरे।।
भनिति मोरि सब गुन रहित विश्व विदित गुन एक।
सो विचारि सुनिहहिं सुमति जिन्ह के विमल विवेक।।
एहि महि रघुपति नाम उदारा। अति पावन पुरान श्रुति सारा।।

परन्तु तुलसी के ध्यान में 'कविता रसिक' वर्ग भी है। वे कहते हैं—

कवित रसिक न राम पद नेहू। तिन्ह कहं सुखद हास रस ऐहू।।

यद्यपि यह वर्ग उतना महत्वपूर्ण नहीं है जितना पहला वर्ग। वास्तव में रामचरितमानस का प्रतिपाद्य विषय राम-भक्ति-योग है, कवित्व की ऊँची उड़ान मात्र तुलसी का ध्येय नहीं है। इस बात को ठीक-ठीक न समझ कर हम भ्रम में पड़ सकते हैं जैसे विभीषण और मंदोदरी के चरित्रों में रामभक्ति की स्थापना हुई है जो मनोविज्ञान को पुष्ट नहीं करता अथवा मानस में केवल कवित्व की दृष्टि से कवित्व को या प्रकृति वर्णन मात्र के लिए प्रकृति वर्णन को स्थान नहीं मिला है। कल्पना की ऊँची-से-ऊँची उड़ान इस भक्ति-रस को पुष्ट करने के लिए सामने आती

है जैसे सीता के लक्ष्मी-रूपक का पर्यवसान अत्यन्त भक्तिपूर्ण पुण्य भावना में किया गया है—

सिय सोभा नहिं जाय बखानी। जगदम्बिका रूप गुन खानी॥
उपमा सकल मोहि लघु लागी। प्राकृत नारि अंग अनुरागी॥
सिय बरनिअ तेइ उपमा देई। कुकवि कहाइ अजसु को लेई॥
जौ पटतरिय तीय सम सीया। जग अस जुवति कहां कमनीया॥
गिरा मुखर तन अरध भवानी। रति अति दुखित अतनु पति जानी॥
विष वारुनी बंधु प्रिय जेही। कहिअ रमा सम किमि बैदेही॥
जौं छवि सुधा पयोनिधि होई। परम रूपमय कच्छपु सोई॥
सोभा रजु मंदरु सिंगारू। मथै पानि पंकज निज मारू॥
एहि विधि उपजै लच्छि जब सुन्दरता सुख मूल।
तदपि संकोच समेत कवि कहहिं सीय सम तूल॥

और षट्ऋतु-वर्णन जैसे कवि-परिपाटी से ग्रहीत विषय को रामकथा और नारी-निन्दा के संस्थापन के लिए उपयोग किया जाता है। (देखिए, बाल ४२, और उत्तर काण्ड)। वास्तव में तुलसी का एकमात्र ध्येय राम-भक्ति की स्थापना है और उन्होंने काव्य-कला पर उतना ही ध्यान दिया है जितना इस उद्देश्य की पुष्टि के लिए आवश्यक था।

रामायण भक्ति-काव्य है, इसके समर्थन में हम और भी कई बातें कह सकते हैं:—

१. उसमें महाकाव्य की काव्य-शास्त्र द्वारा प्रतिपादित मान्यताओं पर कुछ भी ध्यान नहीं दिया गया है। न कथा सर्गवद्ध है, न केवल उदात्त चरित्रों का चित्रण मात्र ही कवि का उद्देश्य है, न प्रकृति के वैभव सांगोपांग वर्णन ही हैं जिनका होना महाकाव्य में आवश्यक है। महाकाव्य में सत् और असत् शक्तियों में युद्ध चलता है और यद्यपि कुछ समय के लिए असत् शक्ति सच्छक्ति को दबा देती है; परन्तु अन्त में सच्छक्ति की ही जय होती है। आसुरी शक्तियां पराभूत होती हैं। बाल्मीकि रामायण की रामकथा इसी प्रकार की है और तुलसी की रामकथा का रूप भी कुछ ऐसा ही होना आवश्यक था; परन्तु तुलसी की भक्ति-भावना के कारण यह महाकाव्यपरक सदासद-युद्ध रूपक विकसित नहीं हो पाया है। तुलसी के मानस में रावण भी रामभक्त है और वह उनके ऐश्वर्य से परिचित है। वह राम का विरोध इसलिए करता है कि उनके द्वारा वध होकर सद्गति प्राप्त करे। वह ऐसा दुष्ट प्रतिद्वन्द्वी नायक नहीं जो असत् शक्ति का प्रतीक हो।

२. भक्ति-भावना के कारणों से ही तुलसी राम का अन्त नहीं दिखा सके हैं। बाल० ११० में उमा शिव से पूछती हैं—

बहुरि कहहु करुनायतन कीन्ह जो अचरज राम।
प्रजा सहित रघुबंस मनि किमि गमने निज धाम॥

परन्तु उत्तर काण्ड में कथा की समाप्ति कहीं पहले ही हो जाती है। महाराज रामचन्द्र हनुमान और भ्राताओं के साथ पुर के बाहर एक अमराई में चले जाते हैं। वहां नारद करताल बजाते हुये आते हैं और रामचन्द्र जी की स्तुति कर ब्रह्मलोक को चले जाते हैं (उत्तर ५१)। तुलसी की राम-भक्ति भावना ने उन्हें राम के साकेत वास की कथा कहने से रोक दिया है। बाल्मीकी चरित्र-काव्य लिख रहे थे, उनके सामने इस प्रकार का कोई दृष्टिकोण नहीं था : इससे उन्होंने कथा को और भी आगे बढ़ा दिया।

३. सारे कथा-प्रसंगों में तुलसी बराबर रामभक्ति का आरोप करते गए हैं। पग-पग पर यह बतलाने से नहीं चूकते कि यह भगवान की लीलामात्र है जो भक्तों के आनन्द और उद्धार के लिए प्रकाश में आई है।

४. 'मानस' के समस्त पात्रों में रामभक्ति की व्याप्ति मिलेगी, यहां तक कि राम के विरोधी अखाड़े में भी सब प्रच्छन्न रूप से राम भक्त ही है।[1]

५. प्रकृति-वर्णन में भी धर्म और नैतिक भावनाओं को ही उद्दीप्त किया है जो स्पष्टतः ही रामभक्ति की ही ओर उन्मुख होती हैं। रामभक्त भरत के ऊपर बादल छाया करते हैं—

किए जाहिं छाया जलद, सुखद बहुत बह बात।
तस मग भयउ न राम कहं जस भा भरतहिं जात॥

चन्द्रमा के हृदय में भी वे राम की छाया दिखाते हैं—

कह हनुभंत सुनहु प्रभु ससि तुम्हार प्रिय दास।
तब मूरति विधु उर बसति सोइ स्यामता आभास॥ १२ (क)
पवन तनय के बचन सुनि बिहंसे राम सुजान। १२ (ख)

६. राम के अवतार के कारणों में रामभक्ति का भी महत्व पूर्ण स्थान है। स्वयंभू और सतरूपा भक्त ही हैं।

७. शिव, पार्वती, ब्रह्मा, इन्द्र, वेद सभी देवता राम-भक्त हैं।

८. भक्तियोग को कई स्थलों पर प्रतिपादित किया गया है जैसे लक्ष्मण-राम-सम्वाद (अरण्य १४, १६), राम शवरी गीता (वही, ३५, ३६) और राम की पुरवासियों के प्रति गीता (उत्तर काण्ड ४३-४६)।

९. मानस की सभी स्तुतियां भक्तिपूर्ण हृदयोद्वेग मात्र हैं। उनमें और अध्यात्म की स्तुतियों में महान् अन्तर है। अध्यात्म का विषय वेदान्त और ज्ञान, अधिक-से-अधिक उपासना है। तुलसी की रचना में राम-भक्ति ही उद्देश्य है। अतः वहां हम स्तुतियों में ज्ञान-विज्ञान (जीव, ईश्वर, प्रकृति) विषयक पांडित्यगर्भित व्याख्यान नहीं पाते। वहां राम-भक्ति-प्राप्ति की प्रार्थना मात्र कवि का उद्देश्य है।

---

१. देखिये 'राम के समस्त पात्रों में राम भक्ति की व्याप्ति,' पं० रामबहोरी शुक्ल, 'कल्याण', वर्ष १३ सं० ६।

१०. तुलसी के राम-भक्तवत्सल हैं। राम का यह रूप एकदम नवीन है। राम पर विष्णुत्व का आरोप बाल्मीकि में ही हो गया है, अध्यात्म में यह अधिक स्पष्ट है। तुलसी के राम परब्रह्म के अवतार हैं। वह भक्तों को सालोक्य मुक्ति प्रदान करते हैं। सायुज्य भक्ति केवल एक ही को मिली।

यह स्पष्ट है कि तुलसी का प्रतिपाद्य विषय रामभक्ति है। इसके लिए विस्तृत भूमिका तैयार करने की आवश्यकता है। पाठक प्रश्न कर सकता है—

(१) राम की भक्ति क्यों करें ?

(२) कैसे करें ?

(३) इसका क्या फल होगा। तुलसी ने इन प्रश्नों के उत्तर में ही अपने ग्रंथ का ढाँचा खड़ा किया है। यह इस प्रकार है :—

(१) राम की भक्ति इसलिए कि राम परब्रह्म के अवतार हैं। बाल काण्ड के राम-जन्म के पूर्व के भाग का लक्ष्य ही अवतारवाद की स्थापना है। नारदमोह, भानुप्रताप जय-विजय, स्वयंभू-सत-रूपा की कथाओं का उद्देश्य ही अवतार की भमिका स्थापित करना है, मंगलाचरण, वंदना और रामचरितमानस के रूपक के बाद ही तुलसी इस प्रश्न को हल करने में लग जाते हैं। शिव-पार्वती-विवाह अप्रासंगिक हो गया है; परन्तु शैव और वैष्णवों के विरोध को दूर करना ही तुलसी का लक्ष्य था। यह कहा जा सकता है कि भूमिका आवश्यकता से अधिक बड़ी हो गई है; परन्तु तुलसी ने विषय को इतना महत्वपूर्ण समझा है कि उन्होंने अनावश्यक विस्तार को भी स्थान दिया है। दाशरथि राम ही ब्रह्म हैं, इसके सिद्ध करने में तुलसी का कौशल दर्शनीय है—रामचरितमानस का आरम्भ ही उमा के इस सन्देह से होता है—

ब्रह्म जो व्यापक विरज अज अकल अनीह अभेद।
सोकि देह धरि होइ नर जाहि न जानत वेद॥ (बाल, ५०)

जिसका निराकरण करके तुलसी शिव के शब्दों में यह स्थापित करते हैं—

मुनि धीर जोगी सिद्ध संतत विमल मन जेहि ध्यावहीं।
कहि नेति निगम पुरान आगम जासु कीरति गावहीं।
सोइ राम व्यापक ब्रह्म भुवन निकाय पति मायाधनी।
अवतरेउ अपने भगतहित निज तन्त्र रघुकुल मनी॥ (बाल० ५१)

(२) "कैसे ?" का उत्तर भक्तियोग के प्रसंगों में है।

(३) रामभक्ति का फल क्या होगा ? तुलसी इसके सम्बन्ध में निश्चित हैं। फल तो स्वयं रामभक्ति है। प्रत्येक देवता, राक्षस, मनुष्य, रामभक्ति ही चाहता है। स्वयं तुलसी की कामना है—

हरहु विषम भव पीर (उत्तर० १३० क)
प्रिय लागहु मोहि राम (वही० ख)

राम की कथा कलि-कलुष धो देती है, राम के लोक को प्राप्त कराती है—

रघुबंस भूषन चरित यह नर कहहिं सुनहिं जे गावहीं।
कलिमल मनोमल धोइ बिनु श्रम राम धाम सिधावहीं ।।१३०।।

मन की स्वच्छता से आध्यात्मिक शांति का लाभ होगा—

जाकी कृपा लवलेस ते मति मंद तुलसीदास हूं।
पायो परम विश्रामु राम समान प्रभु नाहीं कहूं ।।१३०।।

परन्तु तुलसी के सामने राम-भक्ति के सम्बन्ध में जितनी समस्याएं थीं, वे यहीं शांत नहीं हो जातीं। 'राम' का एक उपासक-वर्ग ज्ञान को महत्व देता था, वह निराकार राम का उपासक था। तुलसी इस संत सम्प्रदाय से अवश्य परिचित थे जैसा रामचरितमानस के अनेक स्थलों से स्पष्ट है। अतः तुलसी को ज्ञान की अपेक्षा भक्ति को अधिक उपादेय बनाने के लिए बहुत प्रयत्न करना पड़ा। उत्तर काण्ड में ज्ञान-भक्ति की यही समस्या सुलझाई गई है। कागभुशुण्डि-गरुड़ सम्वाद, ज्ञान-दीपक आदि इसी प्रयत्न के फल हैं; परन्तु तुलसी ज्ञानाश्रयी राम भक्ति अर्थात् निर्गुण सम्प्रदाय की एक मान्यता को एक दम नहीं त्याग सकते थे। वह थी राम-नाम की महिमा। वैष्णव सम्प्रदाय में नाम की महिमा अत्यन्त प्राचीन काल से चली आती थी। भागवत में नाम-स्मरण को महत्वपूर्ण स्थान मिला है। वह नवधा भक्ति का अंग भी है। अतः तुलसी ने मानस की भूमिका में रामनाम के महत्व को भी स्थान दे दिया और उसे रामभक्ति को स्थिर करने का एकमात्र साधन या महत्वपूर्ण साधन समझ कर 'राम' से भी ऊपर माना।

(देखिए, बाल० १९-२८)

इस अपने प्रतिपाद्य विषय को पाठक को हृदयंगम कराने के लिए तुलसी राम-कथा को भक्तिरस पूर्ण बनाते हैं। राम उनके अवलम्बन हैं। उनके कथा के सरस स्थल एवं राम के शील, शौर्य, भक्त वत्सलता, गुण-गान के स्थल उद्दीपन विभाव हैं। बाल्मीकि की कथा में राम को इतना विस्तार नहीं दिया गया है। नीचे हम राम-भक्ति के उन अंगों पर विचार करेंगे जिनका तुलसी ने निरूपण किया है:—

(१) **आलम्बन का सौन्दर्य**—शृंगार के परिपाक के लिए जिस प्रकार आलम्बन के सौन्दर्य की आवश्यकता होती है, उसी प्रकार भक्ति को अंकुरित एवं सद्यः विकसित बनाए रखने के लिये इष्टदेव के सौन्दर्य वर्णन का महत्व है। तुलसी के रामचरितमानस को छोड़ कर अन्य किसी राम-कथा-ग्रंथ में राम के सौन्दर्यांकन को इतना महत्व नहीं मिला है। तलसी ऐसा कोई भी स्थल नहीं छोड़ते जहां वे राम का शरीर-शौन्दर्य उपस्थित कर सकते हों उन्होंने अनेक परिस्थितियों में अपने आलम्बन का सौन्दर्य वर्णन कर अपनी धर्म-भावना को दृढ़ किया है। वात्सल्यपूर्ण बालचरित बाल० १९९ क में सामने आता है और उसी में बालक राम का सौन्दर्य पल्लवित है। राम के तरुण चित्र बा० २०९, २१९, २३३, २४३-४४, ३१६, ३२७, ३५८ में मिलेंगे।

(२) **आलम्बन का शील**—राम के शील-स्थापन के लिए तुलसी ने पग-पग पर प्रयत्न किया है। वे बड़ों के प्रति आदरपूर्ण, विनयी और शांत रहते हैं। छोटों के प्रति उदारता का व्यवहार करते हैं। सीता के छोटे-मोटे दुःखों की उन्हें चिन्ता है। वे सुग्रीव के प्रति अनन्य मैत्री भाव रखते हैं। प्रत्येक सम्बन्धी ऋषि-मुनि के आगे उनका सिर स्वतः नत हो जाता है।

(३) **राम का शौर्य**—राक्षसवध के अनेक प्रसंगों में भगवान के शौर्य का वर्णन है। बाल्मीकि के राम-लक्ष्मण पग-पग पर हताश होते हैं; परन्तु तुलसी के राम तो भगवान हैं, शौर्य के अवतार हैं। वे अदम्य पराक्रमी हैं।

(४) **भक्त-वत्सलता**—राम साधारण नायक नहीं हैं, स्वय भगवान हैं। तुलसी ने पग-पग पर उनको भक्तवत्सल चित्रित किया है। मानस के सभी पात्र तो राम-भक्त हैं, इससे सभी को राम की भक्ति-वत्सलता का स्वाद मिलता है।

(५) **राम का गुणगान**—तुलसी के सभी पात्र राम का गुणगान करने में नहीं अघाते। यही गुणगान पाठक की भक्ति-भावना को दृढ़ करने में सहायक होता है; परन्तु इतने से ही काम नहीं चलता। इससे तुलसी ने भक्ति-रस के सर्वांग परि-पाक के लिये अन्य दिशाओं में भी प्रयत्न किए हैं।

पहले तो तुलसी की सबसे बड़ी कठिनाई स्वयं रामकथा थी। 'बाल्मीकि' में राम महामानव मात्र हैं। वे कुछ विशेष सर्गों में ही अवतार कहे गये हैं। अन्य स्थलों पर वे साधारण धरातल से ऊंचे उठे मानव भर हैं। 'अध्यात्म' में भी पग-पग पर राम को भगवान नहीं कहा गया है। वहां कथा को संक्षिप्त बनाकर काम चलाया गया। कथा विस्तार में पाठक भूल सकता है। राम के ईश्वरत्व की बात उससे लोप हो सकती है। इसी से तुलसी प्रत्येक प्रसंग में पाठक को याद दिला देते हैं कि वे किसी मनुष्य की नहीं, भगवान राम की कथा पढ़ रहे हैं और यह तो लीला भर है—भक्तों के आनन्द भर के लिए। उन्होंने इस विषय में श्रीमद्‌भागवत को अपना आधार बनाया है जहाँ शुकदेव अप्राकृतिक और प्राकृतिक घटना के साथ भगवान के अवतार के विषय में अपना मंतव्य जोड़ देते हैं। कृष्ण रस्सी में बंधे हैं। शुक कहते हैं—

एवं संदर्शिता हेमंग हरिण मृत्य वशता।
स्ववशेनापि कृष्णेन यस्मेदं सेश्वरं वशे॥

पहले भी वे कह चुके हैं—

न चान्तर्न वहिर्यस्थ म पूर्व नापि चाण्रम्।
पूर्वापरं वहिश्यान्तर्जगतो मो जगच्चयः॥
तं भत्वात्मजय व्यक्ते मर्त्यलिंगम् घोक्षजम्।
गोपिको लूखले दामा ववन्ध प्राकृतं यथा॥

तुलसी के सामने भी यही दृष्टिकोण है। कृष्ण के सान्दीपनमुनि से विद्याध्ययन के अवसर पर शुक कहते हैं—

प्रभवो सर्व विद्यानां सर्वज्ञो जगदीश्वरो।
नान्य सिद्धामल ज्ञानं गूह मानो नरे हितः॥

तुलसी भी कहते हैं—

गुरु गृह गये पढ़न रघुराई। अलप काल विद्या सब आई॥
जाकी सहज श्वास श्रुति चारी। सो हरि पद यह कौतुक भारी॥
(बाल० २०४)

सीता विरह के अवसर पर तुलसी अकस्मात् सामने आकर सावधान कर देते हैं—

पूरन काम राम सुख रासी। मनुज चरित कर अज अविनासी॥

जिससे पाठक इस प्रकार के भ्रम में नहीं पड़े जिस प्रकार का भ्रम उमा को हुआ था। वास्तव में रामचरितमानस की कथा इसी भ्रम को लेकर उपस्थित हुई है कि राम मनुष्य हैं या भगवान। तुलसी ने इसी भ्रम का निराकरण किया है, अतः उन्हें पग-पग पर पाठक को सचेत करना पड़ा। जो आलोचक तुलसी के दृष्टिकोण को नहीं जानते, वे इस बात के लिए तुलसी को लांछित करते हैं, परन्तु तुलसी की भक्ति-भावना को विकसित एवं दृढ़ करने में ये बातें महत्वपूर्ण ढंग से सफल होती हैं; परन्तु तुलसी एक अत्यन्त मौलिक ढंग का भी आश्रय लेते हैं। वे रामकथा को रहस्यमय, चमत्कारिक, अलौकिक लीला का रूप देते हैं। उनका कहना है—

राम कथा के मिति जग नाहीं (३३)

अथवा **सूझहिं राम चरित मणि मानिक।**
गुप्त प्रगट जंह जो जेहि खानिक॥

उन्होंने स्वयं रामकथा को एक अभुतपूर्व रूप में प्रगट किया है। इसलिए वे तार्किक पाठक के लिए पहले ही लिख देते हैं—

कीन्ह प्रस्न जेहि भांति भवानी।
जेहि विधि संकर कहा बखानी।
सो सब हेतु कहब में गाई। कथा प्रबन्ध विचित्र बनाई॥
जेहि यह कथा सुनी नहिं कोई। जनि आचरजु करै सुनि कोई॥
कथा अलौकिक सुनहिं जे ग्यानी। नहिं आचरजु करहिं अस जानी॥

\+ \+ \+

नाना भांति राम अवतारा। रामायन सत कोटि अपारा॥
कलप भेद हरि चरित सुहाए। भांति अनेक मुनीसन्ह गाए॥
करिअ न संसय अस जिय जानी। सुनिय कथा सादर रति मानी॥
राम अनन्त अनन्त गुन अमित कथा विस्तार।
सुनि आजरजु न मानिहहिं जिन्ह के विमल विचार॥ (बाल० ३३)

तुलसी के इस कथन को आधार मान कर कुछ आलोचकों ने रहस्यार्थ ढूंढ निकालने की चेष्टा की है; परन्तु वास्तव में तुलसी की कथा की रहस्यमयता

अन्य स्थानों पर ढूंढना चाहिए। यह रहस्यमयता रामकथा के अखण्ड, नित-नूतन, अण्ड-अण्ड व्याप्त रूप की कल्पना में है जो कागभुशुण्डि-प्रसंग में हमारे सामने आती है। कागभुशुण्डि राम की बाल-लीला में भाग ले रहे हैं कि बालक रामचन्द्र ने उन्हें मुंह में ले लिया—

उदर मांह सुनु संडजु राया। देखेउं बहु ब्रह्मांड निकाया॥
अति विचित्र तहं लोक अनेका। रचना अधिक एकते ऐका॥
कोटिहि चतुरानन गौरीसा। अगणित उड्गन रवि रजनीसा॥
अगनित लोकपाल जम काला। अगनित भूधर भूमि विसाला॥
सागर सरि-सर विपिन अपारा। नाना भांति सृष्टि विस्तारा॥
सुर मुनि सिद्ध नाग नर किन्नर। चारि प्रकार जीव सचराचर॥
जो नहिं देखा नहिं सुना जो मनहूं न समाइ।
सोसब अद्भुत देखेऊं बरनि कवनि विधि जाइ। (८० क)
एक-एक ब्रह्मांड महुं रहउं वरष सत एक।
एहि विधि देखत फिरउं मैं अंड कटाह अनेक॥ (८० ख)
लोक-लोक प्रति भिन्न विधाता। भिन्न विष्णु सिव मनु दिख त्राता॥
नर-गंधर्व भूत बेताला। किंनर निसिचर पशु खग व्याला॥
देव दनुज गन नाना जाती। सकल जीव तहं आनहिं भांती॥
महि सरि सागर सर गिरि नाना। सब प्रपंच तहं आनइ आना॥
अंडकोस प्रति प्रति निज रूपा। देखेउं जिनस अनेक अनूपा॥
अवधपुरी प्रति भुवन निनारी। सरजू भिन्न-भिन्न नर-नारी॥
दसरथ कौसल्या सुनु ताता। विविध रूप भरतादिक भ्राता॥
प्रति ब्रह्माण्ड राम अवतारा। देखेउं बाल विनोद हमारा॥
भिन्न-भिन्न मैं दीख सब अति विचित्त हरि जान।
अगनित भुवन फिरेउं प्रभु राम न देखेउं आन॥ (उत्तर० ८१ क)
सोइ सिसुपन सोइ सोभा कृपाल रघुवीर।
भुवन-भुवन देखत फिरेउं प्रेरित मोह समीर॥ (वही, ८१ ख)
भ्रमत मोहिं ब्रह्मांड अनेका। बीते मनहुं कल्प सत एका॥
फिरत-फिरत निज आश्रम आयऊं। तहं पुनि रहि कछु काल गवायऊं॥
निज प्रभु जन्म अवध सुनि पायऊं। निर्भर प्रेम हरषि उठि धायउं॥
देखेऊं जन्म महोत्सव जाई। जेहि विधि प्रथम कहा मैं गाई॥
राम उदर देखेउं राम सुजाना। मायापति कृपाल भगवाना॥
करउ विचार बहोरि बहोरी। मोह कलित व्यापित पति मोरी॥
उभय घरी महं मैं सब देखा। भयउं भ्रमति मन मोह विसेखा॥
देखि कृपाल विकल मोहि, विहंसे तब रघुवीर।
विहंसत ही मुख बाहरे, आयउं सुनु मति धीर॥ (८२ क)

इस समय से राम के सम्बन्ध में कई नई बातें मालूम होती हैं।

१. प्रत्येक ब्रह्माण्ड में राम का अवतार होता है।

२. ये अवतार प्रत्येक कल्प में बराबर चलते रहते हैं। इस प्रकार तुलसी राम को साधारण नायक की सीमा से मुक्त कर देते हैं। राम के लिए न देश की बाधा है, न काल की। इस प्रकार राम-कथा का रंगमंच अनन्त देश और अनन्त काल हो जाता है।

३. साथ ही तुलसी के राम सब परिवर्तनों के बीच में एक समान रहते हैं—

लोक लोक प्रति भिन्न विधाता। भिन्न भिन्न सिव मनु दिसि गाता।

× × ×

अवधपुरी प्रति भुवन निनारी। सरजू भिन्न-भिन्न नरनारी॥
दसरथ कौसल्या सुनु ताता। विविध रूप भरतादिक भ्राता॥

× × ×

भिन्न भिन्न मै दीख सबु अति विचित्र हरि जान।
अगनित भुवन फिरेउं प्रभु राम न देखेउं आन॥

(उत्तर० ४१ क)

इसीलिए '**नाना भांति राम अवतारा। रामायण सत कोटि अपारा**'

(यहां रामायण-रामकथा) सिद्धान्त के आधार पर तुलसी अपनी कथा में चार सम्वादों की प्रतिष्ठा कर सके है—

सम्भु कीन्ह यह चरित सुहावा। बहुरि कृपा करि उमहि सुनावा॥
सोइ सिक काग भुसुण्डहि दीन्हा। राम भगत अधिकारी चीन्हा॥
तेहि सन नागबलिक पुनि पावा। तिन्ह पुनि भरद्वाज प्रति गावा॥

तुलसी की रामकथा उमा-शिव, याज्ञवल्क्य-भरद्वाज, कागभुशुण्डि-गरुड़ और तुलसी तथा श्रद्धालु भक्त को लेकर चलती है।

स्पष्ट है कि तुलसी का लक्ष्य महाकाव्य नहीं, एक विशेष प्रकार का काव्य है जिसमें समस्त रसों का एक विशेष रस में पर्यावसान होता है। वे कहते हैं—

राम कथा जे सुनत अघाहीं।
रस विशेष जाना तिन्ह नाहीं॥

यह रस-विशेष है 'भक्तिरस'। इस रस को विकसित करने के लिए ही तुलसी ने राम-विवाह को विशद रूप से कहा है। बाल्मीकि, अध्यात्म आदि किसी भी रामायण में विवाह-प्रसंग इतने विस्तार से नहीं है। तुलसी की भक्ति-भावना ने ही इस प्रसंग को इतना विस्तार दिलाया है।

शास्त्रवेत्ताओं ने किसी ग्रंथ का प्रतिपाद्य विषय क्या है, यह जानने के लिए सात हेतु बताये हैं—

उपक्रमोप संहारावभ्वासो पूर्वता फलम् ।
अर्थवादोयपत्तिश्च लिंग तात्पर्य निर्णये ।।

१. उपक्रम २. उपसंहार ३. अभ्यास ४. अपूर्वता ५. फल ६. अर्थवाद ७. उपपत्ति । हम 'मानस' को इसी कसौटी पर कस कर अपने लेख को समाप्त करेंगे ।

(१) उपक्रम (ग्रन्थ का आधार क्या है ?)

रामचरित मानस के आरम्भ में संवाद-क्रम और कुछ कथाओं की भूमिकाएं हैं । संवाद चार हैं । श्रोता-वक्ता सब भक्त हैं—

सुनति नसाहिं काम मद दम्भा ।
रामचरित मानस ऐहि नामा । सुनत श्रवन पाइउ विश्रामा ।
मन करि विषय अनल वन नाई । होइ सुखी जौं एहि सर पाई ।।

(तुलसी बा० ३५)

भरद्वाज मुनि बसहिं प्रयागा । तिन्हहिं रामपद अति अनुरागा ।
महा मोह महि सुख विसाला । राम कथा कालिका कराला ।।
राम कथा ससि किरन समाना । संत चकोर करहिं जेहि पाना ।।

(याज्ञवल्क्य का कथन, ४७)

राम कथा मुनि वर्ग बखानी । सुनी महेस परम सुख मानी ।। (शंकर)

नारद मोह, सती मोह, प्रतापभानु और स्वयंभू मुनि-सतरूपा की कथाओं में अवतारवाद की प्रतिष्ठा है जो भक्ति का मूलाधार है । स्पष्ट है कि ग्रंथ का आरम्भ भक्तिवाद में होता है और उसका आश्रय रामावतार है जिसके लिए इन कथाओं की भूमिका तैयार की गई है ।

(२) उपसंहार (ग्रंथ-समाप्ति से किस सिद्धान्त की पुष्टि होती है) उपसंहार से भक्ति की पुष्टि होती है—

पायो परम विश्राम ।। (उत्तर १३० क)

कामिहिं नारि पियारि जिमि लोभिहि प्रिय जिमि दाम ।
तिमि रघुराथ निरन्तर प्रिय लागहु मोहि राम ।।

(उ० १३० ख)

पुण्यं पापहरं सदा शिवकरं विशान भक्ति प्रदं ।
माया मोह मलापहं सुविमलं प्रमाबुपुरं शुभम् ।।
श्री प्रेमचरित्र मानस मिदं भक्तयाव गाहन्ति ये ।
ते संसार पतंग घोर किरणोर्दह्यन्ति नो मानवाः ।।

(३) अभ्यास (बार-बार किस बात पर जोर दिया गया है ?) तुलसी ने बार-बार राम-भक्ति पर ही जोर दिया है—इसका मानस के प्रत्येक पाठक को सहज में ही परिचय हो जाता है । राम-भक्ति पर बल भी कई प्रकार से दिया गया है :

(क) स्वयं तुलसी के कथन में

(ख) सब चरित्र भक्त हैं और राम से भक्ति की प्रार्थना करते हैं। सालोक्य प्राप्ति ही उनका उच्चतम ध्येय है,'

(ग) सम्पूर्ण 'मानस' में स्तोत्रों (स्तुतियों) की भरमार है। जो चरित्र सामने आता है, स्तुति करता है, विशेष कर ऋषि-देवता। सब स्तुतियों का ढांचा भी लगभग एक-सा है। सभी भक्ति-याचना पर समाप्त होनी हैं।

(घ) स्वयं राम कई बार भक्ति-योग का प्रचार करते हैं। वे अपने ब्रह्मत्व और अपनी प्राप्ति के साधन को स्वयं ही बता देते हैं। सतसंग, श्रवण, कीर्तन भक्ति के अंगों का स्थान-स्थान पर वर्णन है।

(ङ) उत्तरकाण्ड तो केवल राम भक्ति के प्रतिपादन के लिए ही लिखा गया है। जिसमें कथा प्रसंग का तो लगभग अभाव ही है।

(४) अपूर्वता (दूसरे ग्रंथों से इसमें कौन सी अपूर्व बात है)

रामकथा के अनेक ग्रंथ तुलसी के पूर्व बन चुके थे और उनमें से कुछ में रामभक्ति की प्रतिष्ठा की थी; परन्तु इतने सुन्दर रूप में नहीं जितने सुन्दर रूप में (मानस) में है। बाल्मीकि की रामायण कथाग्रंथ है, उसमें तो भक्ति नाम को भी नहीं मिलेगी, अध्यात्म अद्वैत वेदांत का प्रतिपादक ग्रंथ है जिसमें भक्ति के ऊपर ज्ञान को श्रेय दिया गया है। अन्य रामायणों में पौराणिकता ही अधिक है। प्रसन्नराघव, हनुमन्नाटक, दूतांगद, चम्पू-रामायण, सेतुबंधरामायण, रामायण-मंजरी, भट्टिकाव्य आदि कितने ही नाटक-काव्यग्रन्थ हैं; परन्तु उनमें काव्य रसों की प्रतिष्ठा है, भक्तिरस का अभाव है। तुलसी ने इस कमी को समझा और राम-कथा को भक्ति-काव्य का रूप दे दिया। तुलसी की रामकथा मुक्ति नहीं, भक्ति प्रदायनी है। वे अपने ध्येय में सफल रहे। उन्होंने कथा की नए ढंग से सृष्टि की और ऐसा करने में उन्हें अत्यन्त सतर्कता और अद्भुत मर्मज्ञता से काम लेना पड़ा। कहीं-कहीं सुन्दर काव्यत्वों की अवहेलना भी करनी पड़ी; परन्तु वे अपने अपने ध्येय में सफल रहे। इसी से उनकी यह कथा चिर साधना बन जाती है। काव्य-ग्रंथ समझ कर एक दो बार पढ़ लेने से उसका रस विशेष नहीं हो जाता। मानस के श्रोता कथा को इसी भाव से ग्रहण करते हैं—

मैं कृत कृत्य भयऊं तब बानी।
सुनि रघुबीर भगति रस सानी॥ (गरुड़ उ० १२५)
मैं कृत कृत्य भयउं अब तव प्रसाद विस्वेस।
उपजी राम भगति दृढ़ बीते सकल कलेस॥ (उमा उ० १२९)

इस प्रकार की उक्तियां बारम्बार आई हैं। यह स्पष्ट है कि तुलसी काव्य-ग्रंथ या महाकाव्य के रूप में रामचरितमानस को उपस्थित नहीं कर रहे हैं। वह उसे राम भगति दृढ़ करने का साधन-मात्र समझते हैं। स्वयं उन्होंने इस ग्रंथ को

अपनी भक्ति दृढ़ करने के लिए लिखा और कदाचित् अपने श्रोताओं से भी वे इसी की अपेक्षा रखते हैं।

(५) फल (ग्रन्थ-पाठ का क्या फल है ?)

यहां ग्रंथ-पाठ का फल ही राम भक्ति का जन्म है और उत्तरोत्तर विकास ही उसका अन्त है—

रघुबंश भूषन चरित यह नर कहहिं सुनहिं जे गावहीं।
कलिमल मनोमल धोइ बिनु श्रम राम धाम सिधावहीं।।

(उत्तर० १३०)

(६) अर्थवाद (छोटी बातों को बहुत बढ़ा-चढ़ा कर कैसे कहा जाता है ?)

भगवान की लीलाएं और गुण तो अनन्त हैं, अतएव उनकी कथा में श्रद्धालु पाठक का अर्थवाद कहीं नहीं मिलता। परन्तु राम के सौन्दर्य, शौर्य और अलौकिकता के प्रसंगों का तुलसी ने अन्य राम कथाओं की अपेक्षा कहीं अधिक विस्तार दिया है। राम की भक्त-वत्सलता तो स्वयं उनकी ही सूझ है—तुलसी राम के इस गुण को प्रत्येक अवसर पर प्रतिबिम्बित करने से कभी नहीं चूकेगे। इसी प्रकार राम के बाल-केलि-वर्णन और विवाह-वर्णन को अपेक्षाकृत अधिक विस्तार मिला है। किसी भी रामकथा-ग्रन्थ में विवाह को दो चार श्लोकों से अधिक नहीं मिले हैं। तुलसी ने विवाह को खण्डकाव्य का रूप दे दिया है। यहां भी उनका उद्देश्य राम-कथा के एक नवीन रसपूर्ण प्रसंग का उद्‌धाटन करते हुए भक्त की भावना को दृढ़ करना ही है—

उपबीत ब्याह उछाह मंगल सुनि जे सादर गावहीं।
बैदेहि राम प्रसाद से जन सर्बदा सुख पावहीं।।
सिय रघुबीर बिबाहु जे सप्रेम गावहिं सुनहिं।
तिन्ह महुं सदा उछाहु मंगलायतन राम जसु।।

(बाल० ३६१)

इसी भावना के दृढ़ करने के लिए तुलसी राम के मधुर सौन्दर्य का एक बार नहीं, अनेक बार वर्णन करते नहीं अघाते।

७. उपपत्ति (किस विषय का युक्तियों के द्वारा समर्थन किया है ?) रामचरितमानस भक्ति की ज्ञान पर विजय है। उत्तरकांड का लगभग सारा विस्तार इसी ने ले लिया है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि तुलसी का प्रतिपाद्य विषय रामभक्ति है और उनकी कथा में रामभक्ति की प्रतिष्ठा के कारण जो मौलिकता आ गई है उसका सारा श्रेय तुलसी को ही है। इस रामभक्ति को ही उन्होंने 'रस विशेष' कहा है। इस भक्ति के अनेक रूपों का विवेचन भी उन्होंने उपस्थित किया है। राम उनकी भक्ति के आलम्बन हैं। उनका सौन्दर्य, उनकी लीला, उनका शील-स्वभाव इस भाव को दृढ़ करने के लिए उद्दीपन का काम करते हैं। इस प्रकार देखने से मानस

रामचरित मानस भक्ति-रस-पूर्ण ग्रंथ-मात्र भी नहीं रहता, वह तुलसीदास की भक्ति-साधना का प्रतीक बन जाता है। तुलसी की सम्पूर्ण भक्ति-भावना का तो उसमें प्रकाशन हो ही नहीं पाया है, उसके लिए तो हमें 'विनय-पत्रिका' को उठाना पड़ेगा; परन्तु 'विनयपत्रिका' बाद की रचना है। रामचरितमानस, विनयपत्रिका की पृष्ठभूमि उपस्थित करता है। केवल 'मानस' या केवल 'विनय-पत्रिका' के अध्ययन से हम तुलसी के व्यक्तित्व को पूर्णतः ग्रहण नहीं कर सकते। दोनों को एक साथ लेने पर ही हम भक्ति-पूर्ण व्यक्तित्व की सम्पूर्ण झांकी पा सकेंगे।

तुलसी का यह भक्तिभाव मानस में अनेक रूपों में समाया हुआ है। स्वयं तुलसी के भक्तिपूर्ण उद्गार तो स्थान-स्थान पर मिलेंगे ही, जिस विह्वल भक्ति-भाव से तुलसी ने रामकथा को उपस्थित किया है, राम के प्रति उनका जो ब्रह्म-भाव है, 'मानस' के सारे पात्र जो प्रकारांतर से राम-भक्त हैं, इत्यादि, अनेक योजनाएं ऐसी हैं, जो रामचरितमानस को साधारण कथाकाव्य या महाकाव्य के धरातल से ऊपर उठा देती हैं। मध्ययुग की राम-भक्ति का आकाशचुम्बी स्मारक ही तुलसीदास ने रामचरितमानस के रूप में उपस्थित किया है। रामचरितमानस १६वीं शताब्दी का ताजमहल है; परन्तु जहां ताजमहल पार्थिव प्रेम और वैभव-विलास का स्मृति-चिन्ह है, काल के गाल पर आंसू के रूप में चाहे वह कितना ही सुन्दर हो, वहां तुलसीदास का रामचरितमानस उस युग की अपार्थिव ईश्वरनिष्ठा और उनके अपूर्व दैन्य का चिरस्थायी स्मारक है। कहां ईट-पत्थरों पर उठा ताजमहल, कहां दैन्य, विरक्ति और प्रेमरूपा भक्ति के आलोक-स्तम्भों पर खड़ा मानस-भवन? ऊपर जो कहा गया है उसमें यह स्पष्ट है कि 'मानस' तुलसी के लिए मूलतः भक्ति ग्रंथ है और इसी रूप में ग्रहण करने में उसकी सार्थकता है।

●

: १२ :

तुलसी का काव्यशिल्प

तुलसी के काव्यशिल्प के दर्शन हमें रामचरितमानस में होते हैं। अन्य रचनाएं खण्ड काव्य या मुक्तक हैं और इस प्रकार की रचनाओं में शिल्प की उतनी अपेक्षा नहीं है। परन्तु रामचरितमानस वृहदाकार रचना ही नही है, वह सुचिंतित एवं सुनियोजित रचना भी है। अतः उसमें कवि के शिल्प-चातुर्य का सुन्दर स्वरूप उद्घटित हुआ है। यह स्मरण रखना होगा कि रामचरितमानस का शिल्प परम्परागत महकाव्य का शिल्प नहीं है। उसका शिल्प तुलसी का मनःशिल्प है, क्योंकि महाकाव्य की तरह वह सर्गबद्ध रचना नहीं है। मन्दिर-निर्माण-कला में जिस प्रकार तोरण-द्वार, अर्द्धमण्डप, मण्डप, अंतराल और गर्भगृह की योजना होती है और गर्भ-गृह के देवपीठ के ठीक ऊपर आमलक पर कलश की स्थापना रहती है, उसी प्रकार का सुयोजित वास्तु-वैभव हमें "मानस" में मिलेगा। निश्चय ही यह सारा प्रयास एक ही दिन की कल्पना नहीं है; परन्तु तुलसी ने अपनी रचना के विभिन्न उपसर्गों एवं स्वरूपों को जिस प्रकार एक महान कलाकृति में गुंफित कर दिया है, वह अपूर्व घटना ही कही जा सकती है। रामचरितमानस को मध्ययुगीन साहित्य का ताजमहल कहा गया है और यह स्पष्ट है कि तुलसी ने मुगल स्थापतियों और कलाकारों की भांति बड़े पैमाने पर राममन्दिर का निर्माण किया है और इस विशद भूमिका पर छोटे-छोटे प्रसंगों को लेकर सूक्ष्म पच्चीकारी की है। विराट् पटभूमि पर विशद सर्जन के साथ अलंकरण की सूक्ष्मता एवं प्रचुरता को उभारा गया है। इसका फल यह हुआ है कि तुलसी की यह रचना आकार-प्रकार में महाकाव्य से भी बड़ी चीज़ बन गई है।

ऐसा जान पड़ता है कि रामचरितमानस की रचना में तुलसी को कई वर्ष लगे हैं और उन्होंने १५६५ ई० से १५८०—८५ ई० तक उस पर कार्य किया है। यद्यपि "मानस" की रचना-तिथि १६३१ संवत् अथवा १५७५ ई० है; परन्तु रचना की प्रकृति को देखते हुए यह कहा जा सकता है कि उसके विभिन्न कालों में रचे गये और उन्हें एक विशिष्ट योजना देकर एक महान कृति के रूप में विकसित किया गया। सम्भवतः रचना का पहला स्वरूप "मंगल" ग्रंथ का है। स्वयं कबीर के समय में "मंगल-शैली" प्रसिद्ध थी, जैसा उनके कुछ ग्रंथों के नाम से स्पष्ट है और तुलसी की रचनाओं में "पार्वती-मंगल" (१५८६) और "जानकी-

मंगल" नाम की दो रचनाएं हमें मिलती हैं। बालकाण्ड के अन्त में तुलसी ने स्पष्ट कहा है :—

उपवीत व्याह उछाह मंगल सुनि जो सादर गावहीं।
बैदेही राम प्रसाद ते जन सर्वदा सुख पावहीं ॥३६१॥

अंत का सोरठा भी "सिय-रघुबीर-विवाहु" पद में इसी उद्देश्य की ओर लक्षित करता है। अतः स्पष्ट है कि बालकाण्ड के अधिकांश अंश में "मंगल" (देवता का विवाह प्रकरण) के रूप में ही सामग्री को कल्पित किया गया है। यह प्रसंग एकदम कल्पना पर आधृत है और रचना की शैली से यह स्पष्ट है कि कवि केवल अपनी अनुभूति के सहारे ही इस समस्त प्रकरण को प्रस्तुत कर रहा है। विवाह का अत्यन्त विशद, लोकानुभूतिपूर्ण तथा सुष्ठ विवरण यहां मिलता है। उपवीत और विवाह के दोनों प्रसंग कवि ने एक ही प्रकरण में जोड़ दिये हैं। उपवीत-प्रसंग के सम्बन्ध में कवि की एक रचना "नहछू" भी है जो इसी समय की अथवा परवर्त्ती रचना कही जा सकती है। जो समीक्षक इसमें विवाह का अमर्यादित स्वरूप देखते हैं वे इसे पूर्ववर्त्ती रचना मानते हैं; परन्तु जो तुलसी की रामभक्ति-प्रसार भावना को प्रधानता देते हैं, वे इसे इसी कोटि की मंगल रचनाओं के साथ १५८६ ई० के आस-पास रखते हैं। जो हो, यह स्पष्ट है कि इस अंश को रचते समय तुलसी पौराणिक कथादृष्टि का ही उपभोग कर रहे थे। कथाप्रसंग में मौलिक उद्‌भावनाओं के साथ "प्रसन्नराघव" और "हनुमन्नाटक" की सामग्री का उपयोग भी उन्होंने किया है। इसके उपरांत अयोध्याकाण्ड आता है जो "भरतचरित" के रूप में प्रस्तुत किया गया है। इसमें हम तुलसी के भक्त-हृदय की बड़ी सुन्दर झांकी पाते हैं। कथा का मूलाधार बाल्मीकि रामायण है और उसकी अभिव्यंजना महाकाव्यात्मक है। पूर्वार्द्ध में तुलसी की दृष्टि चारित्रिक ही अधिक है; परन्तु उत्तरार्द्ध में वे बाल्मीकि के कथाप्रसंग से हटकर भरत के चरित्र को "धायप" की दृष्टि से नहीं, भक्त की दृष्टि से प्रस्तुत करते हैं। अयोध्या और चित्रकूट में रह कर कवि ने इस अंब ही रचना की है, ऐसा प्रसंगों के विस्तार एवं स्वरूप से स्पष्ट है। ये दोनों अंश मिलकर रामचरित के पूर्वार्द्ध का निर्माण करते हैं। इन दोनों में कवि की काव्यात्मक दृष्टि और अभिव्यंजना महत्वपूर्ण है। तुलसी ने रामकथा के स्वरूप को आरम्भ से ही पहचान लिया है। रामकथा के दो केन्द्र हैं अयोध्या और लंका। दोनों केन्द्रों की कथा अपने में सम्पूर्ण है। राम का व्यक्तित्व ही दोनों कथाओं को जोड़ता है; परन्तु कथाओं में इस व्यक्तित्व के दो रूप उद्‌घटित हैं। अयोध्या (साकेत) की कथा चारित्रिक और व्यक्तिगत है, लंका की कथा भक्तिवादी एवं सार्वजनीन। इस उत्तरकथा में राम धर्म के प्रतीक हैं। कम-से-कम तुलसी ने अपनी रामकथा में यह भेद रखा है। बाल्मीकि में राम-रावण-युद्ध राम के दाम्पत्य प्रेम की चुनौती बन गया है और उससे राम के चरित्र के शृंगारी (पत्नीव्रती) पक्ष पर ही अधिक प्रकाश पड़ता है; परन्तु अध्यात्म का

अनुसरण करने के कारण तुलसी में यह सारी कथा धर्म का विजय-अभियान मात्र बन जाती है। अतः तुलसी का राम-रावण-समर साधारण युद्ध न होकर धर्मयुद्ध बन गया है इस समस्त उत्तर कथा की कल्पना अखण्ड रूप में हुई है और कवि ने उसे "रघुबर-चरित" कहा है। रावण-बध या राम के राज्याभिषेक के साथ यह उत्तर कथा परिसमाप्ति को प्राप्त होती है। लगभग समस्त उत्तर कथा काशी में प्रसूत हुई है जैसा मंगलाभरण के श्लोकों से इंगित है और उसमें पौराणिक कथा की त्वरा ही अधिक है, महाकाव्य की सुनिश्चित सुबद्धता और गतिशीलता नहीं। समस्त कथा प्रसंग में तुलसी राम के अवतारी रूप को ही अधिक सामने रखते हैं और 'मायामनुष्यं हरि" कह कर उनका स्मरण करते हैं।

रामचरितमानस में "मंगल" (विवाह), भरत-चरित और रघुबर-चरित के ये तीन खण्ड सम्पूर्ण रूप से समाहित हो गये है। सम्भवतः रघुबर-चरित की रचना से पहले पूर्व राम की कथा में अनेक कथाप्रसंग स्वतन्त्र रूप से जोड़ दिये गए थे और बाल-काण्ड ४०-४१ में उनके सम्बन्ध में स्पष्ट उल्लेख मिलता है। ये कथा प्रसंग हैं:

(१) उमा-महेश-विवाह
(२) रघुबरजनम
(३) बालचरित

शेष कथा सीय-स्वयंवर कथा, रामतिलक और भरतचरित के रूप में प्रस्तुत है। ऐसा जान पड़ता है कि तुलसी ने जब ग्रंथ को सम्पूर्ण रूप से पुनर्निमित करना चाहा तो उन्होंने रामाभिषेक के उपरांत सीता-बनवास की कथा भी कल्पित की थी। समस्त रामकथा पर षट्ऋतु का आरोप करते हुए इस संकल्प का इंगित है। (बाल० ४१) और उमा के प्रश्नों से यह आग्रह ध्वनित होता है; परन्तु सम्भवतः राम के ब्रह्म-भाव की रक्षा के लिए पुनर्योजना में इस प्रसंग को छोड़ दिया गया है।

वास्तव में यह पुनर्योजना ही रामचरितमानस को रामचरितमानस का रूप देती है। इस योजना में जहां उत्तरकाण्ड के विभिन्न प्रसंगों, विशेषतः कागभुशुण्डि संवाद और ज्ञान-भक्ति-विवाद के रूप में रामकथा का तात्विक ब्रह्मदृष्टि पर आरोप है और ज्ञान पर भक्ति की श्रेष्ठता प्रतिपादित है, वहाँ नारदमोह और भानुप्रताप के प्रसंग भी हैं जो कथा को आकर्षक और जनमनरंजन बनाते हैं। इस प्रयास में नाम को राम से बड़ा बताने के लिए आरम्भ में नाम-प्रकरण भी जोड़ दिया गया है और "मानस" रूपक की योजना के साथ समस्त कथा का सप्तप्रबन्धात्मक सोपान (अथवा काण्ड) मय विभाजन भी हो गया है। कहने का तात्पर्य यह है कि रामचरितमानस की महाकाव्यात्मकता संस्कृत महाकाव्यों के ढंग की महाकाव्यात्मकता न होकर नवीन ढंग की महाकाव्यात्मकता है और उसके लिए तुलसी की यह अन्तिम योजना ही उत्तरदायी है। तुलसी के शिल्प का प्रश्न इसी योजना को लेकर उठता है।

इस योजना के कई रूप हैं :

(१) रामजन्म के आरम्भ में उसके विभिन्न हेतुओं का वर्णन करने से शाश्वत्व का आभास दे दिया गया है और अनेक कल्पों में रामजन्म की कल्पना राम को धर्म के प्रतीक विष्णु का पर्यायवाची बना देती है। इन प्रसंगों में अवतारवाद की सार्थकता प्रतिपादित होती है और "हरि अनंत हरि कथा अनन्ता" कह कर कवि अपनी मौलिक उद्भावनाओं को भी शास्त्र तथा धर्म की मान्यता दे देता है।

(२) अपनी विशिष्ट रामकथा की भूमिका के रूप में रामजन्म के प्रयोजन का उद्घाटन करने के लिए महाकवि ने राक्षसों के जन्म और विस्तार से लेकर रावण के रावणत्व की भयावह चित्रपटी तक प्रस्तुत की है और आध्यात्म से इंगित लेकर पृथ्वी की पुकार पर ब्रह्म द्वारा रामावतरण का आश्वासन प्राप्त किया है। जिस चातुर्य से तुलसी ने अध्यात्म के विष्णु के स्थान पर रामचरितमानस के ब्रह्म की अवतारणा की है, वस तुलसी के विचक्षण कौशल और मनोयोग का सूचक है।

(३) उत्तर काण्ड की कागभुशुण्डि की कथा जहा निर्गुण-सगुण और ज्ञान-भक्ति के द्वन्द्वों का समाधान करती है, वहा "माया मनुष्य" राम को साधारण अवतार से ऊपर उठा कर परात्पर ब्रह्म का प्रतीक बना देती है क्योंकि वहां अनेक अंडकटाहों में रामकथा उद्घटित हो रही है और एक ही रामतत्व असंख्य भिन्नताओं के केन्द्र में प्रतिष्ठित है। (उत्तर ८०-१) इस योजना से तुलसी की रामकथा का चित्रपट देशकालबाधित अपरिसीमत्व या शाश्वतत्व वन जाता है। "जासु काल कोदण्ड" कहकर जिस नायक की अभ्यर्थना तुलसी ने उत्तरकाण्ड के आरम्भ में की है, वह न महाकाव्य का धीरोदात्त नायक है, न दार्शनिकों (रूमी, नीत्से अथवा इकबाल) का पुरुषोत्तम (अतिमानव) वह "मायामनुष्यं हरिं:" है, साक्षात् धर्म है, मूर्तिमान अभेदत्व है जिसकी आनन्दप्राण लीला ही ब्रह्माण्ड को धारण कर रही है। संसार के किसी भी प्राकाव्य के नायक को न कथा की ऐसी अलौकिक परिपूर्ण एवं प्रतीकात्मक विस्तृति मिली है, न उसका नायकत्व इस ईशकोटि का वन पाया है। इसमें सन्देह नहींकि तुलसी परंपरागत महाकाव्यों के काव्यधरातल से परिचित हैं और उन्होंने विनय का अभिनय करते हुए भी अपने काव्य में उसे प्रगट माना है; परन्तु उनकी रचना के महाकाव्यत्व को "काव्यत्व" की भूमि पर न देख कर हम उस "महत्" की भूमि पर देखें जो चिर काल से भारतीय जिज्ञासा और समाधान का लक्ष्य रहा है।

यह कहना ठीक नहीं होगा कि "महत्" की इस दार्शनिक या साधनात्मक योजना से रामकथा रहस्यवादी हो गई है क्योंकि तुलसी रहस्यवादी नहीं हैं, वह प्रत्यक्ष के उपासक हैं और प्रत्यक्ष "सियाराममय" (चिन्मय) है जो उनकी प्रियता का विषय है। रामकथा को तुलसी ने अध्यात्म, धर्म और व्यक्ति-मन की चेतना की जिस लड़खड़ा देने वाली ऊंचाई पर उठा कर देखा है, वही उसे रहस्यमय बनाने में समर्थ है। इससे बड़ी रहस्यवादिता तुलसी को नहीं चाहिए। राम-रावण के रूप में

धर्म-अधर्म, तमस्-ज्योति, सत्य-असत्य, मृत-अमृत का जो द्वन्द्व तुलसी ने रामचरितमानस में चित्रित किया है वह मिल्टन के शैतान-ईश्वर के युद्ध से कहीं अधिक रोमांचक और निर्णायक है। उनकी कल्पना की उड़ान दांते से कम नहीं है क्योंकि उन्होंने स्वयं राम के भीतर कोटि-कोटि लोकों को प्रत्यक्ष किया है तुलसी की महाकाव्यात्मकता को हम इस नए संदर्भ में देखें।

ऊपर के विवेचन से यह स्पष्ट है कि रामचरितमानस का कथाशिल्प तुलसी के मनः विकास तथा उनके भावकल्प का ही द्योतक है। हो सकता है, केवल मात्र काव्य की दृष्टि से यह योजना कलात्मक सिद्ध नहीं हो सकी हो और उसके बीच में अनेक खाइयां हों; परन्तु तुलसी का कविकर्म परव्यंजक न होकर आत्मव्यंजक ही अधिक है। वे व्यंजना को श्रेय नहीं देते, व्यंजक को महत्व देते हैं। उन्होंने हमें केवल "चरित" काव्य ही नहीं दिया है; क्योंकि उनकी रचना मूलतः भक्तिकाव्य है। उनके लिये चरित्र धर्म का ही अंग है और चारित्रिक मूल्य अंततः धार्मिक मूल्य ही है। उनके राम बाल्मीकि के राम की भाँति श्रेष्ठतम चरित्रवान ही नहीं हैं, वे श्रेष्ठतम धर्मवान भी हैं। इस धर्मविग्रह के प्रति प्रणाति ही तुलसी की दास्यभक्ति है; क्योंकि तुलसी के लिए भक्ति गलिदाश्रुता मात्र नहीं है, वह धर्मसाधना भी है जो अहिंसा, मैत्री, परहितसाधना तथा लोकमंगल द्वारा आत्मपरिष्कार की योजना में पल्लवित हुई है।

महाकाव्य की भूमि पर तुलसी का कृतित्व एक ऐसी विशेषता रखता है जो अन्य ग्रंथों में नहीं मिलती। महाकाव्य के पश्चिमी समीक्षकों ने जातीय महाकाव्य की व्याख्या करते हुए उसे लोकमानस का प्रतीक माना है और यह निश्चय किया है कि प्रत्यक्ष या परोक्ष में समस्त राष्ट्र या जाति के द्वारा ही उसका निर्माण होता है। इसके विपरीत ऐसे महाकाव्य हैं; जिनमें किसी एक ही महाकवि की प्रतिभा उद्भासित हुई है; परन्तु उनके पीछे जातीय या राष्ट्रीय संवेदन भी पर्याप्त मात्रा में है। तुलसी का रामचरितमानस जहां मध्ययुगीन लोक मानस का प्रतिबिंब है, वहां उसमें सांस्कृतिक भारत के शिष्ट मानस का वह सर्वोत्तम भी आत्मसात हुआ है जो लगभग तीन सौ श्रेष्ठ ग्रंथों में संकलित है। प्रसंगगत, संदर्भगत, सूक्तिगत अथवा काव्यगत ध्वनियों का ऐसा सम्मोहक इन्द्रजाल महाकवि ने इस रचना में बुन दिया है कि हमें उसकी प्रतिभा पर आश्चर्य होता है। कहने का तात्पर्य यह है कि तुलसी की भावप्रक्रिया में परम्परा ने मधुच्छद का रूप धारण कर लिया है; परन्तु यह परम्परा जड़ रूप में तुलसी को ग्रहीत नहीं हुई है; क्योंकि वह उस संत समाज की जीवित परम्परा थी जो भारत की मूल सांस्कृतिक भूमि का निर्माण करता है और शताब्दियों के अंधकार में भी जिसकी क्रियाशीलता ज्योतिर्वान् रही है। इस परम्परित शिष्ट मानस को अपनी रचना में मूलबद्ध कर तुलसी ने अपने महाग्रंथ रामचरितमानस को जो राष्ट्रीयता या जातीयता प्रदान की है वह किसी भी महाकाव्य के लिए श्रेय की वस्तु हो सकती थी। इसी दृष्टि से तुलसी का रामचरितमानस राष्ट्रीय

या जातीय महाकाव्य कहा जा सकता है। उसमें भारतीय अध्यात्म दृष्टि, नैतिकता, धर्म, व्यवहार और चरित्र का सर्वश्रेष्ठ प्रतिभासित हो उठा है। वह अनेक शताब्दियों में विकसित भारतीय मन का महदाकार दर्पण बन गया है। महाकाव्य को यदि राष्ट्रमानस का पर्वताकार दर्पण कहा जाता है तो फिर रामचरितमानस और क्या है? उसका शिल्प भले ही पौराणिक या चरितकथात्मक अथवा धर्मकथात्मक हो, उसकी भावभूमि, प्रयोजनीयता, चारित्रिकता तथा काव्यसंयम को संसार के कितने महाकाव्य प्राप्त कर सकेंगे। तुलसी का वास्तुशिल्प रामचरितमानस के द्वारा महिमा-वान बना है और उसमें श्रेष्ठ स्थापत्य की विराट् कल्पना के साथ तक्षण-शिल्प की बारीकी भी आ गई है। एक ओर राजपूत युग की उस अभुद्य दुर्गरचना से उसमें कोई भिन्नता नहीं है जो कालिंजर, अमेर तथा चित्तौड़गढ़ में शिल्पबद्ध हुई थी और जिसका परम्परा-विस्तार मुगल-युग के सीकरी के भवनों, राजप्रासादों तथा महासरोवरों में मिलता है। दूसरी ओर वह खजुराहो के उन विशाल मंदिरों की याद दिलाता है जो स्वयं विराट् की विविधता, अनेकरूपता, गम्भीरत्ता तथा चिन्मयता के प्रतीक बन गये हैं और जिनमें धरती की पूजा आकाश की ओर पंख पसारती है। निःसंदेह "मानस" का अवतरण भारतीय मध्ययुग की सबसे बड़ी घटना है और तुलसी का व्यक्तित्व इसी घटना में जीवित और सार्थक है। तुलसी की शिल्पक्षमता ने इस घटना को मूर्त्तिमान करने में कितनी सहायता दी है, यह सहृदय के समझने की बात है।

●

: १३ :

तुलसी की मौलिकता

तुलसी की मौलिक देन को समझने के लिए यही आवश्यक नहीं है कि हम उनके मूल स्रोतों की ओर इंगित करें अथवा उस योगायोग की चर्चा करें जो प्राचीन सुभाषितों, नाटकों, महाकाव्यों और पुराणों के मंथन तथा उपलब्ध सामग्री के संकोच एवं विस्तार पर अवलंबित है। तुलसी की मौलिकता का मूल उत्स कहां है, यह भी हमें देखना होगा। इस मौलिकता ने रचना के सौष्ठव एवं उसके आभ्यन्तर को किस प्रकार निजत्व दिया है, यह भी विचारणीय होगा। पिछली पन्दरह शताब्दियों की लिपिबद्ध एवं प्रवहमान समस्त सांस्कृतिक साहित्यिक निधि को तुलसी अपनी साधना में किस प्रकार एवं किस प्रक्रिया के द्वारा समीकृत कर सके हैं, यह उद्घाटित किए बिना हम तुलसी की मौलिकता का वास्तविक स्वरूप निश्चित नहीं कर सकेंगे।

तुलसी की मौलिकता का सबसे उत्कृष्ट स्वरूप हमें राम के व्यक्तित्व-स्थापन और राम-भक्ति के प्रस्तार में मिलता है। ये दो तत्व तुलसी की रामकथा और उनकी जीवनदृष्टि को सार्वभौमिकता देते हैं। वस्तु निर्माण और चरित्र चित्रण इन्हीं दोनों तत्वों पर आधारित होने के कारण मौलिक और सशक्त बन सके हैं। पहले हम राम के व्यक्तित्व को लें। दाशरथि राम तुलसी के राम नहीं हैं, इसको तुलसी ने अपनी रामकथा की भूमिका में ही स्पष्ट कर दिया है। पुराणों का अनुसरण करते हुए उन्होंने जय-विजय के शापमोचन के लिए वाराह और नरसिंह अवतारों की योजना की है और अंत में जलन्धर तथा प्रतापभानु की कथाओं का आश्रय लेकर रामवतार का विवेचन किया है। परन्तु इस शापमोचन के साथ कश्यप-अदिति के वरदान-प्राप्ति की भी योजना है। एक चौथा आवतार-हेतु नारद-शाप कहा गया है। इस प्रकार एक ही रामकथा जलन्धर, प्रतापभानु, नारद-शाप और कश्यप-अदिति के बरदान से चार भिन्न-भिन्न भूमिकाओं पर चलती है। फलतः चार भिन्न घाटों की भी कल्पना है। ये सब पौराणक जन्महेतु विष्णु के अवतार से सम्बन्धित हैं; परन्तु तुलसी राम में ब्रह्मत्व की स्थापना कर रहे हैं। फलस्वरूप, शिव-पार्वती-संवाद की भूमिका देकर उन्हें विष्णु का अवतार सगुण राम को दाशरथि राम से ऊपर उठा कर ब्रह्मत्व देना पड़ा। इस नए योग द्वारा निर्गुण-सगुण के द्वैध के परिहार की सुविधा थी। अतः तुलसी ने जानबूझ कर शिवकथा को शिवपुराण से

उठा कर रामकथा की भूमिका के रूप में उपस्थित किया और दाशरथि राम में ही निर्गुण राम या परब्रह्मत्व का समाहार किया। शिवकथा "भागवत"-कथा भी है क्योंकि शिव भरत की भांति ही राम के भक्त भी हैं। अतः एक अत्यन्त प्रिय प्रसंग तुलसी भूमिका के नाते उपस्थित कर सके हैं। शिव कथा में कबीर के निर्गुणवाद की ध्वनि है : दशरथ-सुत तिहुं लोक बखांना। राम-नाम का मरम है आना॥ और तुलसी रामचरितमानस की कथा को ही पार्वती के इस प्रश्न का समाधान बनाते हैं :

ब्रह्म जो व्यापक बिरज अज अकल अनीह अभेद।
सो कि देह धरि होइ नर जाहि न जानत वेद॥ (बाल० ५०)

तुलसी का पक्ष शिव के इस उत्तर में है :

मुनि धीर जोगी सिद्ध संतत विमल मन जेहि ध्यावहीं।
कहि नेति निगम पुरान आगम जासु कीरति गावहीं॥
सोइ रामु व्यापक ब्रह्म भुवन निकाय पति माया धनी।
अवतरेउ अपने भगत हित निजतन्त्र नित रघुकुलमनी॥(वही० ५१)

इसीलिए कथा के बीच में तुलसी बार-बार दाशरथि राम के निर्गुणत्व अथवा ब्रह्मपरत्व की घोषणा करते चलते हैं और कथा के अंत में कागभुशुण्डि प्रसंग के रूप में वे इस प्रसंग को फिर उभारते हैं और सगुण ब्रह्म के दुराग्रही कागभुशुण्डि राम के निर्गुणत्व का परिचय देते हैं। इस प्रकार निर्गुण-सगुण में कोई भेद नहीं रह जाता। भुशुण्डि के शब्दों में :

व्यापक व्याघ अखंड अनंता। अखिल अमोघ सक्ति भगवंता।
अगुन अदभ्र गिरा गौतीता। सवदरसी अनवध अजीता॥
निर्मम निराकार निरमोहा। नित्य निरंजन सुख संदोहा॥
प्रकृति-पार प्रभु सब उरवासी। ब्रह्म निरीह बिरज अविनासी॥
इहां मोह कर कारन नाहीं। रवि सन्मुख तम कबहुं कि जाहीं॥
भगत हेतु भगवान प्रभु धरेउ राम तनु भूप।
किए चरित पावन परम प्राकृत नर अनुरूप॥७२॥

(क) ॥उत्तर॥

इस आयोजना से रामकथा के दाशरथि राम में सगुण अवतारी विष्णु और निर्गुण ब्रह्मपर राम का एकीकरण हो जाता है और रामकथा "प्राकृत कवि" द्वारा रचित "नर-चरित" से भिन्न स्वरूप ग्रहण कर लेती है।

परन्तु रामकथा का स्वाभाविक विकास भी एक व्यापक भूमि पर हुआ है। आरम्भ में कवि रावण-कुम्भकरण-मेघनाद के दुर्दमनीय आतंक और राक्षसत्व के अपरिसीम विस्तार की योजना करता है जो देवताओं को भी त्रस्त कर देते हैं। गौ का रूप धारण कर स्वयं पृथ्वी ब्रह्मा के सम्मुख प्रार्थी होती है और अंत में देवताओं सहित ब्रह्मा यह विचार करते हैं कि कहां चला जाए; परन्तु शिव के कहने पर कि "हरि व्यापक सर्वत्र समाना। प्रेम में प्रगट होंहि मैं जाना" ॥उ०१८५ वहीं स्तुति करने

लगते हैं। फलस्वरूप आकाशवाणी के द्वारा उन्हें रामजन्म का आश्वासन मिलता है और अयोध्यापुरी के रघुकुल में एक जाति लघु ज्योतिबिन्दु के रूप में वह परात्पर शक्ति भूमि पर अवतरित होती है। इसके बाद रामजन्म-कथा का आरम्भ होता है और अत्यन्त क्षिप्र गति से कथा रामविवाह की ओर अग्रसर होती है। यह स्पष्ट है कि बालकाण्ड का समस्त समारम्भ तुलसी की उर्वरा कल्पना का बहुसूत्री प्रसार है और उसके द्वारा रामचरितमानस की रामकथा को उपयुक्त मनोभूमि और आध्यात्मिकता मिली है।

इस भूमिका के बाद अयोध्याकाण्ड की कथा खुलती है और अन्य काण्डों में प्रसरित होती हुई अंत में लंकाकाण्ड में परिसमाप्ति को प्राप्त होती है। बाल्मीकि रामायण में युद्ध-काण्ड के अंत में रामाभिषेक के साथ पटाक्षेप होता है और मानव-श्रेष्ठ रामचन्द्र राजा रामचन्द्र के रूप में आदर्श बन कर प्रतिष्ठित होते हैं। तुलसी ने रामाभिषेक को उत्तरकाण्ड में पल्लवित किया है; परन्तु रामराज्य की स्वर्णिम कल्पना वे दाशरथि राम को फिर एक बार अपने भक्तहृदय की भावभूमि देते हैं और कागभुशुण्डि-गरुड़-संवाद में ऐसी नियोजना करते हैं जिससे वे राम किसी एक युग, एक लोक, कल्प तक सीमित न रह कर युगातीत, लोकोत्तर और अकल्पित बन जाते हैं। इस योजना ने जहां बालकांड के आरम्भ में प्रतिपादित रामतत्व को भावभूमि दी है, वहां सगुण राम निर्गुण राम की सहस्रशः विस्तृति विकसित कर लेते हैं और पुरुष-सूक्त के "सहस्र सहस्र पादः" विराटत्व के रूपक बन जाते हैं। अगनित भुवनों में भ्रमण करते हुए कागभुशुण्डि असीम नानात्व में भी एकात्मरूपी राम को समान रूप से देखते हैं। वे कहते हैं :

उदर मांझ सुनु अंडज राया। देखेउं बहु ब्रह्माण्ड निकाया ॥
अति विचित्र तहं लोक अनेका। रचना अधिक एक ते एका ॥
कोटिन्ह चतुरानन गौरीसा। अगनित उडगन रवि रजनीसा।
अगनित लोकपाल जम काला। अगनित भूधर भूमि बिसाला ॥
सागर सरि सर बिपिन अपारा। नाना भांति सृष्टि बिस्तारा ॥
सुर मुनि सिद्ध नाग नर किंनर। चारि प्रकार जीव सचराचर ॥
जो नहिं देखा नहिं सुना जो मनहूं न समाइ।
सो सब अद्भुत देखेउं बरनि कवनि बिधि जाइ ॥
एक-एक ब्रह्माण्ड महुं रहउं बरण सत एक।
एहि बिधि देखत फिरउं मैं अंड कटाह अनेक ॥८० (ख)॥
लोक लोक प्रति भिन्न बिधाता। भिन्न बिष्नु सिव मनु दिसित्राता ॥
नर गंधर्व भूत बेताला। किंनर निसिचर पसु खग ब्याला ॥
देव दनुज गन नाना जाती। सकल जीव तहं आनइ भांती ॥
महि सरि सागर सर गिरि नाना। सब प्रपंच तहं आनइ आना।
अंडकोस प्रति प्रति निज रूपा। देखेउं जिनस अनेक अनूपा ॥

अवधपुरी प्रति भुवन निनारी। सरजू भिन्न भिन्न नर नारी॥
दसरथ कौसल्या सुनु ताता। बिबिध रूप भरतादिक भ्राता॥
प्रति ब्रह्माण्ड राम अवतारा। देखउं बालविनोद अपारा॥
भिन्न भिन्न मैं दीख सबु अति विचित्र हरिजान।
अगनि भुवन फिरेउं प्रभु राम न देखउं आन॥८१ (क)॥

इस चमत्कृती अपरिसीमिता और अकल्पित विभिन्नता की पृष्ठभूमि देकर तुलसी राम के "रामत्व" को इस कुशलता से प्रतिपादित करते हैं कि मन चकित हो जाता है। अखिल ब्रह्माण्डों की भेदमयी सत्ता के केन्द्र में स्थित अभेद मूल रूप से अग्राह्य और अतीन्द्रिय होने पर भी अपने लीलामय नाम रूपमूलक प्रसार में गृहीत और इन्द्रियकल्प है। इस नानात्व की वैचित्र्यमयी कलाविधियां ही सगुण दाशरथि राम के रूप में परिकल्पित हैं इस प्रकार अभेद और भेद में नाता जुड़ जाता है और इस समष्टिमूलक एकान्विति की भूमिका पर उठ कर तुलसी "सियाराममय सब जग" जानते हुए इस दृश्य को ही दृश्यान्तर का प्रतीक मान कर प्रणमित होते हैं। ऋषि-दृष्टि की यह सर्वभुकता और सर्वजनीनता ही तुलसी की विशेषता है। यही "राम" दर्शन तुलसी की रचनाओं को केन्द्र देता है और उन्हें द्रष्टा बनाता है। अपने महाकाव्यात्मक उपन्यास "युद्ध और शांति" में जिस प्रकार टाल्सटाय ने नेपोलियन के अभियानों से ऊपर उठकर देश-काल का अतिक्रमण करते हुए कथा को महान अर्थ दिए हैं, उसी प्रकार तुलसी के कथा-सौष्ठव ने बाल्मीकि के युग-पुरुष राम को युगातीत विश्वात्मा अथवा "परात्पर" बना दिया है। सत्, चित् और आनन्द में प्रतिष्ठित तथा देश-काल, वृद्धि-ह्रास, सर्ग-प्रलय से निरपेक्ष परात्पर राम (ब्रह्म) को तुलसी अपना अन्यतम स्पन्दन बना कर लोकनायक का रूप देने में सफल हुये हैं। उनके राम उनके होकर भी सब के हैं। इस प्रकार व्यष्टि की साधना और समष्टि के हित का समाहार हो गया है। सौन्दर्य, शील और शौर्य के चरम उत्कर्ष के निरूपण ने तुलसी के राम को इतना मानवीय बना दिया है कि हम क्षण भर में उनके परात्पर रूप को भूल जाते हैं और "अशेष शेष की गोदी में खिलौना" बन जाता है। सगुण-निर्गुण की इस द्वन्द्वात्मकता का शमन जिस अंतर्योजित मनःभूमि पर सम्भव हुआ है वह कवि की व्यक्तिमुखी भावभूमि है जो उसके लिए स्वयं रहस्य है। इस रहस्य-भूमि का आंशिक उद्घाटन ही रामचरित-मानस तथा अन्य रचनाओं में हो सका है। कथा, चरित्र, भाव और भाषा की सारी शक्ति उस रहस्यनिर्माण में लगी है; परन्तु प्रत्येक पाठक के लिए संवेदना के इस सर्वोच्च सोपान तक पहुंचना कठिन है। इस सोपान की ओर इंगित करते हुए ही कवि ने कहा है :

राम चरित के मिति जग नाहीं।

रामचरित में तुलसी ने जिन गुप्त-प्रगट मणि-माणिकों की कल्पना की है, उनमें "प्रगट" राम की चारित्रिक उत्कृष्टता है, "गुप्त" उनका अपौरुषेय दिव्य रूप।

तुलसी की रामकथा में रहस्यात्मकता की खोज की गई है और विनयपत्रिका के एक पद (संख्या ५८) में प्रतीकार्थ का आभास भी मिलता है; परन्तु इस प्रतीकार्थ से कहीं बड़ी चीज वह असामान्यता है जो स्वयं राम के व्यक्तित्वगत द्वैध में सम्पुटित है जो निर्गुण-सगुण के दो विभिन्न स्तरों पर चलता है और एक समन्वित इकाई सृष्टि करता है। सम्पूर्ण रामचरित को वर्णित करके भी तुलसी को तोष नहीं होता और वे शिव के माध्यम से कहते हैं :

रामचरित सत कोटि अपारा। श्रुति सारदा न बरनै पारा।।
राम अनंत अनंत गुनानी। जन्म कर्म अनंत नामानी।।
जल सीकर महि रज गनि जाहीं। रघुपति चरित न बरनि सिराहीं।।
(उत्तर० ५२)

यह विभ्रम और विराटत्व तुलसी की रामकथा को मौलिक अर्थ प्रदान करता हैं और उसे सार्वकालिकता देता है।

परन्तु राम के इस विराट रूप को तुलसी ने ज्ञान की विशिष्ट भूमि पर से उतार कर भक्ति के सामान्य धरातल पर स्थित किया है जो और भी चमत्कारक है। वे रामचरित में अंतर्निहित "रस-विशेष" की ओर इंगित करते हैं और उसी में रामकथा की सार्थकता मानते हैं। रस-विशेष अथवा भक्ति। आदि से 'अन्त तक रामचरितमानस की प्रत्येक पंक्ति इस विशेष रस से ओत-प्रोत है और साहित्य, संगीत एवं कला के सारे उपकरण भक्ति-रस की समृद्धि में लगे हैं। तुलसी की अतिरिक्त भक्ति-भावना भी रामकथा के पात्रों का एक अंग बन गई है, यहां तक कि प्रतिपक्षी रावण भी प्रच्छन्न भक्त है। फल यह हुआ है कि कथा के साथ चरित्रों में भी मौलिक रूप से गुणात्मक परिवर्तन हुआ है और रामचरित रामलीला बन गया है। इस "लीला" भाव में ही भक्त तुलसी की विजय और दाशरथि राम के चरित्रगत दोषों का परिहार है। यद्यपि भगवान राम की इस लीला को तुलसी ने दास्य भाव से देखा है; परन्तु उनका दास्य भाव सेवक-सेव्य भक्ति-मात्र नहीं है, उसमें पुराणोक्त नवधा भक्ति के साथ तन्मयासक्ति-प्रधान विह्वल दैन्य भावना का भी प्रसार है जिसमें मधुर भक्ति की तरलता साफ झलकती है। उत्तर काण्ड की परिसमाप्ति पर तुलसी दो दोहों में अपने भक्ति-सम्बन्धी दृष्टिकोण को स्पष्ट कर देते हैं :

मौ सम दीन न दीन हित तुम्ह समान रघुबीर।
अस विचारि रघुवंशमनि हरहू विषम भव भीर ।।१३०।।(क)।।
कामिहि नारि पिआरि जिमि लोभिहि प्रिय जिमिदाम।
तिमि रघुनाथ निरन्तर प्रिय लागहु मोहि राम ।।१३०(ख)।।

"विनयपत्रिका" के अनेक पदों में दास्य भक्ति का यही तरल और आकुल स्वरूप मिलता है। भक्ति का यह स्परूप तुलसी का अत्यन्त मौलिक पक्ष है और उसे उनकी साधना का बल प्राप्त है वास्तव में तुलसी की कविदृष्टि दाशरथि राम के

लीलात्मक, चिन्मय, विराट स्वरूप और अनन्त प्रसार तथा अपने भावाकुल, दीन, समर्पणप्रधान व्यक्तित्व पर एक साथ और बराबर रही है और इस नैरंतर्य में अनेक द्वन्द्वों और समस्याओं का समाधान स्वतः ही हो गया है। तुलसी के काव्य के इस सूक्ष्म तथा विलक्षण पहलू को ध्यान में रख कर ही हम उनकी मौलिकता को सम्यक् महत्व दे सकेंगे। यही उनके साहित्य-कोष का "बीजक" है।

वास्तव में तुलसी और उनकी विशिष्ट अनुभूति (भक्ति) को केन्द्र में रखकर ही हम उनकी रचनाओं में परम्परा और मौलिकता की पटरी बिठा सकेंगे। इस दृष्टिकोण से काव्य के व्यक्ति पर और व्यक्ति निरपेक्ष रूपों का लोप हो जाता है और तुलसी की रामकथा दाशरथि राम की प्रचलित कथा न होकर भावयोगी तुलसी की स्वलब्धि बन जाती है। सामने आता है एक विराट नैतिक जगत जिसके केन्द्र में हैं भोक्ता तुलसी। राम इस "ऋत्" के प्रतीक हैं। भोक्ता तुलसी की अनुभूति ही उस प्रक्रिया को जन्म देती है जो रामचरितमानस जैसी संहृत कलाकृति में परिणति प्राप्त करती है। रामचरितमानस तुलसी के लिए आत्मशोध, आत्मोपलब्धि और आत्मनिर्माण का साधन है जैसा तुलसी ने ग्रंथ के आरम्भ में "स्वान्तः सुखाय" और अंत में "पायौ परमु विश्रामु" (उत्तर० १३०) तथा "स्वान्तस्तमः शांतये" लिखकर संकेतित किया है। फिर भी यह विशेषता है कि इस प्रक्रिया से छन कर तुलसी की सर्जना व्यक्ति निरपेक्ष बन गई है। मौलिकता का श्रेष्ठतम संबल पाकर भी तुलसी का रामचरितमानस लोक-मानस बन सका है, यह तुलसी की कविप्रतिभा और उनकी जागरूक कलाकारिता का प्रमाण है। रामचरितमानस कवि के ही जीवन की केन्द्रीय घटना नहीं है, वह भारतीय संस्कृति की मंगलयात्रा की भी प्रमुख घटना है और तुलसी की सक्षम कविवाणी का बल पाकर आज भी हम में प्रत्येक के जीवन की अघटित घटना बनने में समर्थ है। जिस मौलिकता ने तुलसी की रचना को ऐसी अक्षय शक्ति दी है उसे प्राचीन ग्रंथों के भाव-साध्य पर ही समाप्त नहीं किया जा सकता। उसकी जड़ें गहरी गई हैं और तुलसी के व्यक्तित्व, उनकी साधना एवं उनके संकल्प-विकल्प में ही उनका प्रसार खोजा जा सकेगा।

●

: १४ :

तुलसी का समन्वय

तुलसी को समन्वयवादी कवि कहा जाता है; परन्तु इस समन्वय के पीछे की वेदना और समन्वय के स्वरूप को छोड़ दिया जाता है। यह समन्वय तुलसी के चेतन मन की प्रक्रिया है, या अवचेतन मन की, अथवा इस समन्वय को तुलसी कितनी दूर तक लेकर चलने में सफल हुए हैं। ये कुछ महत्वपूर्ण प्रश्न हैं जिनका उत्तर तुलसी के अध्येता को देना होगा। तुलसी की पहली बड़ी रचना 'मानस' है जो सम्भवतः उनके जीवन के आधे काल को सिमेट लेती है। इस रचना में तुलसी के समन्वय का क्या हेतु है, उसकी प्रक्रिया क्या है, उसका स्वरूप क्या है ? इस संबन्ध में हमें दो सूत्रो पर विचार करना होगा। कीट्स का कहना है कि अंतर्द्वन्द्व अथवा आत्मसंघर्ष से कविता का जन्म होता है और हाउसमेन के अनुसार कविता दुःख और विषमता से भरे संसार में संतुलन और समरसता की स्थापना करती है। ये दोनों क्या दो दिशाएं है और क्या किसी कवि में दोनों का होना आवश्यक है? कम से कम इस मान्यता को तो स्वीकार किया जा सकता है कि कविता अशांत और खण्ड भाव-जगत में संतुलन लाने का प्रयत्न है चाहे वह भाव-जगत भीतर पर आधृत हो या बाहर पर। रामचरितमानस में तुलसी ने आरम्भ-अंत में "स्वांतःसुखाय" और "अंतस्तमःशांतये" लिख कर अपने अंतर्द्वन्द्व को सूचित किया है; परन्तु कलियुग तथा रामराज्य प्रकरण अथवा राम-रावण-युद्ध परिवेशीय अवसाद तथा तज्जन्य समाधान की आवश्यकता की ओर भी इंगित करता है। यह निश्चय है कि इस रचना में पहले समाधान पर अपेक्षाकृत अधिक बल है। निर्गुण-सगुण, ज्ञान-भक्ति, धर्म-अधर्म का संघर्ष भरद्वाज, उमा और गरुड़ का ही मनःसंघर्ष नहीं, वह तुलसी का भी मनःसंघर्ष है। यह शंका-समाधान ऊपर से तात्विक जान पड़ता है परन्तु उसकी तीव्रता, आकुलता और अनिवार्यता तुलसी की ओर इंगित करती है। तुलसी ने सगुण भक्ति और धर्म के पक्ष को बड़ी शक्ति से स्थापित किया है। तुलसी मूलतः संवेदनशील भक्त कवि हैं और उनका कवि-हृदय तथा भावुक व्यक्तित्व अपने लिए मार्ग निकाल लेता है। उनके द्वन्द्व का एक दूसरा स्वरूप उनकी नारी-सम्बन्धी भावनाएं हैं। जहां एक ओर वे रामकथा के नारी-पात्रों को पूरा सहृदयता से गढ़ते हैं, वहां दूसरी ओर नारी को समस्त दुर्बलताओं और ह्रासोन्मुख चेतनाओं की जड़ भी मानते हैं। भक्ति के नाते उन्हें गुह-निषाद भी प्रिय हैं; परन्तु स्वयं ब्राह्मण होने

के नाते वे कठोर वर्णाश्रम-व्रती हैं। यह द्वन्द्व ही रामचरितमानस को आकर्षक और सजीव बनाता है। उन्होंने अपनी चेतना पर बराबर अंकुश चाहा है; परन्तु तरुण हृदय की सौन्दर्याकांक्षा और वर्णगत कठोरता प्रगट हो ही गई है। प्रो०वरॉन्निकोव ने तुलसी के दार्शनिक समन्वय (अद्वैत-विशिष्टाद्वैत) को तुलसी के व्यक्तित्व के पण्ड़ित कवि (अथवा बुद्धिपक्ष हृदयपक्ष) के द्वन्द्व का विस्फोट माना है। आरंभ से अन्त तक रामचरितमानस तुलसीका उद्वेलित मानस ही है जो रामकथाके पात्रों और भक्तिके सहारे अंतः-संहृति प्राप्त करने का प्रयत्न कर रहा है फलतः तुलसी की सहानुभूति उन पात्रों के साथ है जिनमें राम के प्रति विरोध-भाव नहीं है और विरोधी पात्रों को वे अपनी भक्ति दृढ़ करने का साधन और अपने आक्रोश का विषय बनाते हैं। इसी प्रकार उनका अतिरिक्त भक्ति-भाव उनके सभी पात्रों को प्रच्छन्न रामभक्त बना देता है। राम के निर्गुणत्व के प्रति उनकी शंका भी उनके पात्रों को राम के ब्रह्मत्व से अवांछित रूप से परिचित करा देती है। इन स्थलों पर तुलसी चरित्र, इतिहास तथा कला के प्रति अपने कर्त्तव्य को नहीं निबाहते; परन्तु वह अपने अन्तर्द्वन्द्व से लाचार हैं यह आपबीती हुई। जगबीती रामचरितमानस जैसी पौराणिक रचना में प्रच्छन्न रूप से ही आ सकती थी और तुलसी ने रावण-राज्य तथा कलियुग के रूप में अपने युग की अराजकता और अस्तव्यस्तता को ही चित्रित किया है यद्यपि दोनों की पुराण-परंपरा भी हमें मिलती है। वस्तुतः इस रचना में वह अपने से ही अधिक झगड़े हैं, —अपने से बाहर उनकी दृष्टि कम गई है। उन्होंने अपने पात्रों को मर्यादा, संतुलन, धर्मवुद्धि एवं शिष्टता के ढांचे में ढाल कर जो नवीन रूप दिया है वह युग की दुर्बलताओं पर भी प्रकाश डालता है। विलासविभ्रम में ग्रस्त रीतिकालीन नायिकाओं और अभिसारिकाओं की तुलना तुलसी की रामकथा की पारिवारिक चित्रपटी से कीजिये, या पत्नी एवं ग्रहणी सीता को सामने रखिये, एक चुनौती बराबर उभर आती है। इस चुनौती के बीच में तुलसी राम को उभारते हैं और उनके पुरुषोत्तम स्वरूप को इस प्रकार हमारे सामने अप्रत्याशित रूप से रख देते हैं जैसे कोई घने पल्लवों के बीच से उत्फुल्ल गुलाब को खींच निकाले। यही नहीं, वह उसे नई प्रकाश-दिशा देकर अभिनव दीप्ति से आलोकित कर देते हैं। फलतः जो कुछ है वह अभूतपूर्व और अत्यन्त रहस्यमय बन जाता है। मध्ययुग की सांस्कृतिक चेतना के छिपे हुए कोने से "राम" को खोज निकालना और उसे अपनी अंतःशांति का प्रतीक बनाना आश्चर्यजनक साहस का काम था; परन्तु इसके साथ ही यह राम संसार के सर्वश्रेष्ठ और मनुष्य की सर्वश्रेष्ठ सम्भावनाओं के प्रतीन बन गए हैं।

यही नहीं, तुलसी अपनी अंतःसंहृति से ऊपर उठ कर हमारे अन्तर्जगत को संस्कारी बनाने एवं संतुलन तथा समरसत्व स्थापित करने की क्षमता रखते हैं। वे हमारे रागमय जगत में ही अतीन्द्रिय सौन्दर्य की खिड़कियां खोलकर हमारे आत्मा के बन्दीगृह को नए रूप-रंग-शब्द-स्पर्श-गन्ध से भर देते हैं।

परन्तु प्रश्न यह है कि यह आत्मसंहृति क्या बराबर बनी रही है? क्या

तुलसी की परवर्ती रचनाओं में उनकी आत्मवेदना अधिक मुखरित नहीं है और उनका अपने परिशेव के प्रति विद्रोह अधिक तीव्र नहीं हो उठा है ? "विनयपत्रिका" के पदों में तुलसी का भाव-जगत नए समीकरण के लिए चेष्टावान है और उन्होंने अपने आत्म-संस्कार को और भी सूक्ष्म, तरल, निर्मल तथा कोमल बनाना चाहा है। उसमें हम अतिसंवेदित व्यक्तित्व का कातर भाव पाते हैं, उन्नयन के अधिक ऊंचे सोपानों की आकांक्षा देखते हैं। यह आत्मसंघर्ष तुलसी के व्यक्तित्व की धार को और भी तेज करने में समर्थ हुआ है। "कवितावली" और "दोहावली" के आत्मोल्लेख तथा भौतिक परिस्थितियों के विवरण उसी मात्रा में कवि की वहिर्जगत के प्रति मंगलाकांक्षा को मूर्त्तिमान करते हैं। ऐसा लगता है कि वह सारे संसार के विरुद्ध अकेले खड़े हों और किन्हीं भी मूल्यों पर समझौता करने को तैयार नहीं हों।

"बाहुक" के अन्त में उनका यह भीतरी विश्वास बहुत कुछ टूट गया है और वह प्रयत्न करने पर भी उसे जोड़ नहीं पाते। हार कर वह मौन हो जाते हैं।

परन्तु इस हार में ही तुलसी की विजय है क्योंकि उन्होंने अपने व्यक्तित्व और साधना की धार को बराबर तेज, नुकीला और तरल बनाये रखा है। उनके साहित्य का जितना आकर्षण उसके अंतर्द्वन्द्वों में है, उतना ही उसके समन्वय में है। साधक के रूप में और धर्म की दृष्टि से समन्वय अधिक महत्वपूर्ण हो; परन्तु कवि कविता की दृष्टि से अंतर्द्वन्द्व ही अधिक मूल्यवान है क्योंकि उसी में तुलसी-मानस का वास्तविक स्वरूप उद्घटित है।

तुलसी को हम कहां पकड़ें,—चेतन में या उपचेतन में ? वह तुलसी है जो आकांक्षित है, आदर्श है, महान और संयोजित है, या वह जो दमित, यथार्थ, क्षुद्र अनगढ़ है ? वास्तव में चेतन-उपचेतन के दोनों छोरों से तुलसी को पकड़ना होगा, कदाचित् चेतन की अपेक्षा उपचेतन में वह हमें अधिक प्राप्त होंगे। वैसे तुलसी जागरूक कवि है और उपचेतन में उन्हें पकड़ना कठिन है; परन्तु उनके व्यक्तित्व की दरारों में ही उनका सहज रूप झांक रहा है। अन्तर्द्वन्द्वों में, विरोधाभासों में, सूक्तियों में, चुनौतियों में तुलसी की वास्तविकता अधिक नही तो कम भी प्रकट नहीं हुई है। ऊपर उनका ज्ञानमंडित रामतन्त्र है जो धर्म के आकाशचुम्बी राजप्रासादों और देवमंदिरों से पथसंकुल है और हमें अपने ऐश्वर्य और परिपूर्णत्व से विभ्रमित कर देता है तो नीचे उनका अत्यन्त कोमल, तरल और करुणार्द्र हृदय है जो मदांध मनुष्य को भक्ति के राजपथ पर चलाने का प्रण लेकर निकल पड़ा है। सम्भवतः इस दूसरे रूप में ही हमें तुलसी अधिक मिलेंगे। रामचरितमानस उनके बौद्धिक उत्कर्ष का प्रतीक है तो विनयपत्रिका उनके हार्दिक उत्कर्ष की प्रतिनिधि रचना है। भक्ति की अन्तःसलिला दोनों ग्रंथों को जोड़ती है और तुलसी के व्यक्तित्व की दरारें उसी के पुण्य जल से भरी हैं। उनके भक्तिभाव में चेतन अवचेतन से हाथ मिला कर आगे बढ़ा है। उसमें व्यक्ति की दुर्बलताएं और कदर्थनाएं ऊर्जान्वित होकर

उन्नीत हुई हैं और कितनी ही अनामिकाएं सार्थवती बन गई हैं। रामबोला के रूप में अनाथ तुलसी ने अपने मन में जिस असहायता का अनुभव किया था, वही उनके दैन्य भाव और महाराज रामचन्द्र के संरक्षक रूप के घनीभूत होकर त्राण को प्राप्त हुई है। मध्ययुग में भारतीय मन जिस संरक्षण को खोज रहा था, वह तुलसी के अपने व्यक्तिगत समाधान का बल पाकर जातीय या राष्ट्रीय समाधान का रूप प्राप्त कर सका। फल यह हुआ कि धनुर्धर रामचन्द्र मध्ययुग की प्रतिरोधी आस्था और आक्रामक शक्ति के प्रतीक बन गये। तुलसी को यह श्रेय मिलेगा कि उन्होंने अपनी वाणी द्वारा सामाजिक उपचेनत को उभारा और उसे समृद्ध एवं सप्राण नेतृत्व देकर नये युगधर्म की सृष्टि की। इस दृष्टि से समन्वय केवल तुलसी की आवश्यकता ही नहीं थी, वह तात्कालिक हिन्दू समाज की भी अनिवार्यता थी। इस अनिवार्यता को तुलसी ने पहचाना और उसे अपनी सारी संवेदना के साथ प्रस्तुत किया। उनके तरल, सजग और समर्थ व्यक्तित्व का बल पा कर यह समन्वय जीवंत परम्परा बन गया और हम तक पहुंचा। यह समन्वय ही तुलसी की मौलिकता है। मौलिकता परम्पराविच्छिन्नता नही है, वह परम्परा का नूतन संस्कार है, युग में युगातीत की प्रतिष्ठा है। न तुलसी की रामकथा वही है जो उन तक पहुंची, न उनके राम ही पूर्ववर्ती महाकाव्यों, नाटकों और पुराणों के राम है। उन्होंने हेतु, कथा, चरित्र, अभिव्यंजना सब का संस्कार किया और सौन्दर्य, शील तथा शौर्य की नई कल्पना के साथ इस नए संस्करण को धर्म की दीप्ति दी। उनकी अपनी हृदयवान आस्था और भक्तिपरक विह्वलता उनके इस योगायोग को अपूर्व बना देती है। नूतन के प्रति असंतुलित आग्रह तुलसी की दुर्बलता नहीं है; परन्तु उनमें परम्परा ही अभिनव प्रयोग बन गई है।

●

: १५ :

तुलसी का काव्यजगत

(१)

सामान्यतः हम भूल जाते हैं कि कला-चेतना के स्रोत सूक्ष्म और मानसीय हैं। स्थूल रूप में ईंटों-पत्थरों, रंगों, ध्वनियों और शब्दों के द्वारा हमें जो प्राप्त होता है वह प्रयोजनीय मात्र है, सूक्ष्म और मानसीय की अभिव्यंजना-मात्र। इसीलिए तुलसी के साहित्य को हम पौराणिक और परम्परागत रामकथा के माध्यम से ही देखने लगते हैं। अभिव्यंजना ही काव्य है, ऐसा क्रोचे का मत है; परन्तु यहां अभिव्यंजना से इस सूक्ष्म, मानसीय तथा प्राथमिक काव्यानुभूति का ही तात्पर्य है, उसका नहीं जो शब्दों में बंध कर विशिष्ट काव्यविधा के रूप में सामने आती है। कहने का तात्पर्य यह है कि मूलतः कला-मात्र प्रतीकात्मक वस्तु है, उसका बोध इन्द्रिय पर अथवा इन्द्रियातीत है। कलाकार की चेतना का मूल उत्स उसका मन है और वह पाठक अथवा श्रोता के मन को ही छूता है। इस आदान-प्रदान में तात्कालिकता और तादात्म्यता की स्थिति वांछनीय है, अन्यथा रसोद्रेक आंशिक, अस्पष्ट अथवा भिन्न कोटि का रहेगा। तुलसी के अधिकांश पाठक इस गंभीर तथ्य को भुला देते हैं और उनकी रामकथा उनके लिए पौराणिक इतिवृत्त मात्र रह जाती है। उसकी मानसिकता से उनका परिचय नहीं होता। कलाकार यथार्थ की प्रतिकृति नही उतारता, वह उसे मनसा ग्रहण करता है और अपनी मनच्छवि को ही यथार्थ की वास्तविकता देता है। जो कलाकार यथार्थ को जितना भी अधिक मानसिक, सूक्ष्म तथा अर्थमय (व्यंजक) बनाने में समर्थ है, वह उतना ही बड़ा कलाकार है। इस पृष्ठभूमि में तुलसी-साहित्य का अध्ययन करने से ही हम तुलसी के मनःजगत में प्रवेश कर सकेंगे।

तुलसी ने रामचरितमानस के आरम्भ में अपनी रामकथा की इस मानसीयता (या मानसिकता) पर प्रकाश डाला है और "रच महेस निज मानस राखा" कह कर उसकी सूक्ष्मता, पवित्रता तथा भाषा सम्बन्धी निरपेक्षता का आभास दिया है। रामकथा के उल्लेखों को मानसिक प्रतिरूपता देकर और उसके वहिर्जगत को अपनी कल्पना में मूर्त्तिमान कर कवि ने एक नए धारणा-जगत का निर्माण किया है जो उसकी राम-भावना तथा तद्रूप विचारावलि से ओतप्रोत है। कवि के शब्द इस भावजगत के प्रतीक-मात्र हैं। महत्वपूर्ण वह है जो शब्दों से परे है, या उनके पीछे है। तुलसी-साहित्य की मर्यादाएं वस्तुतः स्वयं तुलसी के मनःजगत की मर्यादाएं

हैं। उन्होंने वहिर्जगत को रामनिष्ठ बना कर एवं उसे प्रतीकात्मक मानसिकता देकर ही रामकाव्य के रूप में प्रस्तुत किया है और उनकी अभिव्यंजनागत या कलागत सीमाएं भी पूर्वनिर्दिष्ट हैं क्योंकि ये स्वयं कवि के मन:जगत की सीमाएं हैं। इस प्रकार तुलसी के काव्यजगत पर विचार करने के पहले हमें उनके मन:जगत का परिचय प्राप्त करना होगा।

वाह्यजगत से कवि का सम्पर्क दो स्तरों पर चलता है; वस्तून्मुखी और भावोन्मुखी (या आत्मोन्मुखी)। वस्तुपरक सम्पर्क इन्द्रियबोध (अनुभवों) तक सीमित रहता है और उसमें हम क्षणिक या तात्कालिक को महत्व देते है; परन्तु यह वस्तून्मुखी जगत हमारे मन के भीतर चलने वाले प्रतिमानों, संदर्भों एवं प्रतीकों से रूपांतरित होता रहता है जो कभी वाह्य स्थितियों से संबद्ध रहते हैं, कभी एकदम असंपृक्त। इस प्रकार हम दो दृष्टिकोण लेकर चलते हैं। वस्तून्मुख दृष्टिकोण यथार्थ के वास्तविक रूप को प्रगट करता है और भावोन्मुख दृष्टिकोण उसके आत्मगत रूप को। सच तो यह है कि काव्य तथा साहित्य का जगत भावजगत ही है। अपने मन के द्वारा हम जिस जागतिक दृष्टिकोण का निर्माण करते हैं, वही सच्चा दृष्टिकोण है। इस मन:जगत के निर्माण में अर्जित स्मृतियों, तर्कवाद, पूर्वानुभूतियों एवं संस्कारों (व्यक्तिगत और जातिगत) का प्राधान्य रहता है। वास्तव में परम्परा और व्यक्तित्व के माध्यम से ही हम अपने भावलोक को रूप देते हैं। यह भावलोक आत्मगत होने के कारण ही महार्घ होता है।

परन्तु आत्मगत होने का तात्पर्य यह नही है कि उसमें केवल कवि की अनुभूतियां ही आकलित हैं—उसमें मान-मात्र की समस्त ऐतिहासिक, विकासात्मक तथा विविध चेतनाएं (जो कला, साहित्य, परम्परा तथा श्रुति में बद्ध हैं) आत्मसात होती हैं। परम्परा स्वयं अपने में न गुण है, न दोष, वह व्यक्तित्व से छन कर ही सप्राण बन सकती है। अत: कवि के आत्मजगत में उसके व्यक्तित्व के साथ परम्परा का भी उतना अंश आ जाता है, जितना उस व्यक्तित्व का अंग बन गया है। इस संदर्भ में यदि हम तुलसी की रचनाओं को देखें तो यह स्पष्ट हो जाता है कि उनके आत्मजगत में उनकी व्यक्तिगत अनुभूति के साथ तात्कालिक राष्ट्रीय (या सांस्कृतिक) चेतना और वैष्णव भक्ति की परम्परा की विकासात्मक ऐतिहासिक उपलब्धि का सर्वश्रेष्ठ भी आकलित हो गया है। भक्ति की जो आकुलता हमें तुलसी में दिखलाई देती है वह उनकी व्यक्तिगत साधना होते हुए भी अनेक पूर्ववर्त्ती तथा समकालिक भक्तों की अंतश्चेतना से संपृक्त है। इसी से वह समष्टिगत, प्रतीकात्मक तथा व्यंजक वन गई है। तुलसी का रामचरितमानस हमारी राष्ट्र-चेतना की एक महत्वपूर्ण ऐतिहासिक घटना है; परन्तु अपने सूक्ष्म, अव्यक्त, आंतरिक रूप में वह स्वयं तुलसी के जीवन की भी सबसे बड़ी घटना है। शब्द-प्रतीकों के द्वारा तुलसी ने इस घटना के वाह्य स्वरूप का उद्घाटन नहीं किया है, उसमें तात्कालिक इन्द्रियबोध के नाम पर कदाचित कुछ भी नहीं है, या बहुत थोड़ा है,

—परन्तु रामकथा को विभिन्न पात्रों और स्वयं अपनी अपेक्षा में रख कर तुलसी उसे जीवन्त चेतना बना देते हैं। हम तुलसी-साहित्य में परंपरित रामकथा नही खोजते, रामकथा के विभिन्न संदर्भों, प्रकरणों, पात्रों, मनःस्थितियों की तुलसी पर क्या प्रतिक्रिया है, यह देखना चाहते हैं। यही सत्य है, रामकथा साधन मात्र है। कथा के नाने जो होता है, या चरित्र-साधना के नाते, वह अपने में महत्वपूर्ण हो सकता है; परन्तु तुलसी के मनःमुकुर में वह जो प्रतिबिम्ब जगाता है, वही तुलसी का है यदेप्र। तुलसी का सम्पन्न अंतर्जगत ऐसे ही स्थलों पर हमें मिलेगा।

यहाँ मूल्यों का प्रश्न भी उठता है क्योंकि मन इतस्ततः नहीं है, वह मूल्यमय (-वान) है। वे मूल्य क्या हैं जो तुलसी के लिए सर्वोपरि हैं ? ये मूल्य उनके लिए कितते निजी, समीपी तथा आभ्यंतरिक हैं ? इन मूल्यों का प्रकाशन उनके साहित्य में किस प्रकार, कितनी ईमानदारी के साथ और किस रूप में हुआ है ? मनुष्य का मन मूल्यों में ही जीवित है, वह क्षण भर भी निर्मूल्य नहीं रह सकता। ऐसी स्थिति में तुलसी के काव्यगत की खोज उनके मूल्यों से ही आरम्भ होगी। ये मूल्य क्या हैं ? निश्चय ही ये मूल्य "प्राकृत काव्य" के मूल्य नहीं हैं क्योंकि तुलसी ने स्पष्ट कहा है :

कीन्हे प्राकृत जन गुन गाना। सिर धुनि गिरा लागि पछताना॥

तुलसी के राम अप्राकृत हैं, अलौकिक हैं। इस एक पंक्ति में तुलसी अपने सम्पूर्ण युगधर्म को चुनौती दे रहे हैं क्योंकि उन्होंने प्राकृत जन के उस आदर्श को ललकारा है जो समकालीन कवियों की प्रशंसा का विषय बना था। उन्होंने कहा है :

गोंड गंवार नृपाल महि, यमन महा-महिपाल।
साम न दाम न भेद कलि, केवल दण्ड कराल॥

—(दोहावली, ५५६)

परन्तु इसके विपरीत वे बराबर राजा राम की दुहाई देते रहे हैं :

रंक के निवाज रघुराज राजा राजनि के,
उमरि दराज महाराज तेरी चाहिए॥

—(कवितावली, उत्तर, ७६)

अपने युग को उन्होंने अत्यन्त निकट से देखा है और "दुराज" अथवा कलिकाल के रूप में उसे चित्रित किया है :

दिन दिन दूनो देखि दारिद दुकाल दुख,
दुरित दुराज, सुख सुकृत सकोचु है।
मांगे पैंत पावत पचारि पातकी प्रचंड,
काल की करालता भले का होत पोचु है॥
आपने तो एक अवलम्ब अंग डिंभ ज्यों,
समर्थ सीतानाथ सब संकट विमोचु है।

तुलसी की साहस सराहिये कृपालु राम,
नाम के भरोसे परिनाम को निसोचु है ॥
—(कवितावली, ८१)

इस कलिकाल की विभीषिका को तुलसी बार बार उभारते हैं। वह केवल पौराणिक परम्परा मात्र न रह कर तुलसी की चेतना का महत्वपूर्ण अंग बन जाता है। "मानस" के कलि-वर्णन को हम परम्परा के अधिक निकट पाते हैं; परन्तु "कवितावली" में तुलसी अपने युग का ही चित्रण कर रहे हैं और उन्होंने उसे आत्मानुभूति की पृष्ठभूमि और तीव्रता दे दी है। उनका समाधान है रामराज्य जिसकी विस्तृत रूपरेखा "मानस" के उत्तरकाण्ड में रामकथा की समाप्ति पर मिलेगी। इस योजना से तुलसी के जीवन-मूल्यों पर स्पष्ट रूप से प्रकाश पड़ता है। वे मुगल-युग के अभिजात-वर्ग की सुख-समृद्धि से चमत्कृत नहीं हुए। उन्होंने अपने चारों ओर के समाज में उन मानव-मूल्यों की खोज की जो भारतीय सांस्कृतिक परम्परा की अमूल्य निधि थे। इन मूल्यों को न पाकर वे क्षुब्ध हुए और उन्होंने अपनी साधना, काव्यप्रतिभा और सर्जना-शक्ति के बल पर एक नया भाव-जगत ही खड़ा कर दिया। इस भाव-जगत की भाषा पुरानी थी,—परम्परागत रामकथा की भाषा—, परन्तु उसका रूप-विन्यास नवीन था। तुलसी की रचनाओं को हम उनकी बाल्यस्मृति, जातीय चेतना और नवनिर्माणमूलक आदर्शमयता (आइड्येशन) के तीन स्तर साथ-साथ चलते देखते हैं। कवि के बाल-जीवन के दैन्य के जो चित्र हमें "कवितावली" में मिलते हैं, वे उसके आस्थाप्राण मनस्तत्व के निर्माण में नींव का पत्थर बन गये हैं। निरीहता के आत्यंतिक बोध से ऊपर उठकर तुलसी ने राम को स्वामी मान कर अपार शक्ति पाई है और इस अनुभव ने ही उनके काव्य को स्फूर्ति, सप्राणता एवं आत्मस्थता प्रदान की है। अपने चारों ओर फैले महाभय का अतिक्रमण कर आस्था, अनाकांक्षा और स्वनिष्ठा के उच्चतम शिखर पर पहुंच जाना साधारण कार्य नहीं है। उसके लिए तुलसी को अपने भीतर कितनी साधना जगानी पड़ी होगी, यह कहना कठिन है। परन्तु इस आस्था ने उसे "स्वांत:सुखाय" को जन्म दिया है जो मंगलाचरण का वक्तव्य बन गया है।

परन्तु तुलसी का मोर्चा बाहर से ही नहीं है जो कलियुग और रामराज्य के दो विरोधी प्रतीकों में प्रकाश्य हो। उनका भीतरी मोर्चा भी है जिसको उन्होंने ग्रंथ की समाप्ति पर "अन्तस्तमःशांतये" कह कर इंगित किया है। विजय-रथ रूपक में हम स्वयं तुलसी के भीतर की तैयारी देखते हैं और 'विनयपत्रिका' के मनोराज्य तथा संकल्प-विकल्प वाले पदों से हम उस अन्तर्द्वन्द्व की झांकी पाते हैं जो तुलसी के विनयकाव्य को अत्यन्त आकर्षक, सहज और स्वाभाविक बना देता है। श्रेष्ठ काव्य कवि के अन्तर्द्वन्द्वों का समाधान है तो तुलसी के काव्य में यह उक्ति सम्पूर्ण रूप से चरितार्थ होगी। कलियुग-रामराज्य का लेकर चलने वाला वहिर्द्वन्द्व रामकथा को नवीन संदर्भ देता है तो अपने खण्डित को परिपूर्ण बनाने का प्रयत्न तुलसी की

रचनाओं को सच्चे अर्थो में संत-काव्य बनाता है । इसी से उसे नीतिमयी दृष्टि उपलब्ध हुई है । यह नैतिक दृष्टि ही तुलसी-साहित्य का प्राण है । तुलसी के जीवन-मूल्य मूलतः नैतिक जीवन-मूल्य हैं और उन्होंने सम्पूर्ण रामकथा को इन नैतिक मूल्यों की व्याख्या बना दिया है । स्वयं उनके राम धर्म के प्रतीक बन गये हैं जिसमें नैतिक दृष्टि की परिपूर्णता ही लक्षित है ।

रामभक्ति का बीज बचपन में ही गुरु द्वारा बो दिया गया था और सूकरखेत में "पुनि" रामकथा-श्रवण का उल्लेख है यद्यपि "अचेत" होने के कारण उसके सम्पूर्ण अर्थो की विवृत्ति कवि पर नहीं हो सकी । इसी बीच ने कालान्तर में वटवृक्ष का रूप धारण कर लिया । अध्ययन, मनन और साक्षात्कार से पुष्ट होकर गुरु से सुनी हुई रामकथा तुलसी के लिए मेरुदण्ड बन गई । परन्तु क्या इस कथा में जातीय स्मृतिया भी संरक्षित नहीं थीं ? पूर्वमध्ययुग में नृसिंह, वराह और विष्णु के प्रतीकों के द्वारा एक नई कल्पना का उदय हुआ । इनमें भी राम का प्रतीक जातीय नैतिक संस्कारों के अधिक निकट होने के कारण विशेष लोकप्रिय हुआ । रामानन्द ने "रामरक्षा-स्तोत्र" के द्वारा जिस रामयज्ञ का सूत्रपात किया था, वह तुलसी के रामचरितमानस के रूप में परिसमाप्ति को प्राप्त होता है । उनके राम, युंग के शब्दों में, जाति-प्रतीक (आर्किटाइपल पेटर्न) हैं जो पिता, स्वामी और संरक्षक के रूप में मर्यादा, संतुलन तथा स्वास्थ्य की ओर इंगित करते है । हिन्दू जाति के अन्तरतम में प्रतिष्ठापित इस त्राणकर्त्ता को तुलसी की समर्थ वाणी ने चुनौती के रूप में उभारा और इसीलिए उनकी रामकथा आत्मप्रबोध से ऊपर उठ कर जातीय जीवन का श्रेष्ठतम अनुष्ठान बन गई । भक्त और भगवान में शक्ति और शक्तिमान का तादात्म्य कर तुलसी ने राष्ट्रीय जीवन को जिस अक्लेद, वीरत्व और साहस से सम्पन्न किया, वह स्वयं अपने में अप्रतिम लाभ था ।

इन दो भूमिकाओं के साथ तुलसी-साहित्य की एक तीसरी भूमिका भी है । यह भूमिका आदर्शनिर्माण (आइडेलिज़म) से सम्बन्धित है । रामकथा को मर्यादित कर और उसके पात्रों का भीतर से संस्कार कर तुलसी अपने युग की अतिवादिता, नैतिक अराजकता और कौटुम्बिक विग्रहशीलता के समक्ष एक नया आदर्श जगत रखते हैं जो अत्यंत समृद्ध, स्वनिष्ठ तथा संतुलित है । यह नवीन सृष्टि ही समकालीन परिस्थितियों के सम्बन्ध में तुलसी की आलोचना है; क्योंकि उससे युग के विरोधाभास अनायास ही रेखांकित हो जाते हैं ।"काव्य जीवन की समीक्षा है", ऑर्नाल्ड की यह उक्ति तुलसी-साहित्य पर विशेषतः लागू होती है; क्योंकि "कलियुग" के समकक्ष "रामराज्य" अथवा "रावण" के आगे "राम" को रख कर तुलसी मानव-जीवन और तत्सम्बन्धी मूल्यों के विषय में सब कुछ कह डालते हैं, किसी भी प्रकार का भ्रम नहीं रह जाता । कहा गया है कि श्रेष्ठ काव्य जाग्रत स्वप्न होता है, वह प्रकाशवान चेतना की उपज है, अवचेतन के अंध कुहासे से उसका जन्म नहीं होता । कवि द्रष्टा है, ऋषि है, सम्यक्दर्शी है । अतः वह

उच्चतर जीवन-बोध को सामने ला कर, नये स्वप्न-लोक की सृष्टि कर वस्तुस्थिति को उजागर कर देता है। इस प्रकार व्यक्तिगत, जातिगत और जीवनगत मनोभूमियों का बड़ा सुन्दर संश्लेष हमें महाकवि तुलसीदास की रचनाओं में मिलता है। उनका काव्य-जगत उनका अपना मनःजगत होता हुआ भी समस्त मध्ययुगीन हिन्दू जनता का मनःजगत बन गया था और उसकी जीवनगत मनोभूमियां भारतीय सांस्कृतिक उपकरणों में पुष्ट श्रेष्ठतम आदर्श का प्रतीक थीं।

संक्षेप में, हम कह सकते हैं कि तुलसी का काव्यजगत मनोमय है, राममय (चिन्मय) है, नीतिमय (धर्ममय) है। उसमें रामकथा की स्थूलता है; परन्तु तुलसी की काव्य-स्फूर्त्ति बना और उनकी भक्ति-भावना उसे नवीन उपादानों से पुष्ट कर जीवंत सत्ता बना देती है। वह "माया-मनुष्यं हरि" की लीला बनकर अनन्त आकर्षण-मय बन जाता है और अन्त में तुलसी दाशरथि राम को परात्पर ब्रह्म बना कर, उन्हें एकमात्र वास्तविकता देकर, अपनी रामकथा को देशकाल-निरपेक्ष और शाश्वत अन्तरंगिता प्रदान कर देते हैं। कथा के अन्त में तुलसी का काव्य-जगत उनके आराध्य की भांति ही विराट्, चिन्मय और मूलभूत सत्य बन जाता है। प्लेटो ने काव्य में जिस सत्य, नीति (नैतिकता) और उदात्त चारित्र्य की प्रतिष्ठा चाही थी, उसे हम तुलसी-साहित्य में मूर्त्तिमान देखते हैं। सत्य वही नहीं है जो भौतिक या तात्कालिक रूपरेखाओं में बंध सके। कहीं बड़ा सत्य वह है, जो कवि की आन्तरिक उपलब्धि बन कर जीवन के सहज सौन्दर्य से तादात्म्य प्राप्त कर सके। तुलसी के साहित्य में यही श्रेष्ठ सत्य चरितार्थ हुआ है और उनके काव्य-जगत की नींव स्थूल, भौतिक, उच्छिष्ट यथार्थ पर स्थिर न होकर इसी हार्दिक, साक्षात्कारिक तथा अनुभूत यथार्थ पर पड़ी है। अपने सम्पूर्ण व्यक्तित्व से तुलसी ने इस सत्य को परिपूर्णता में ग्रहण किया है और, स्वप्नाविल आवेग से नहीं, जागरूक कला-चेतता से उन्होंने इस सत्य को समर्थ भाषा तथा सार्थक छन्दों में बाधा हैं।

यह स्पष्ट है कि तुलसी का काव्य एक भिन्न कोटि का काव्य है जो सुन्दरम् की अपेक्षा सत्यं और शिवम् को अधिक महत्व देता है। सत्यं का प्रकाशन राम में ब्रह्मत्व का आरोप लेकर आता है और शिवम् की अभिव्यक्ति सूक्ष्म धर्मबोध, श्रेष्ठ नैतिकता और उदात्त चारित्र्य में हुई है। धर्म-अधर्म की जैसी अनुभूति रामचरितमानस में मिलेगी, वैसी अन्यत्र नहीं। सांस्कृतिक (या राष्ट्रीय) जीवन को सम्पूर्ण रूप से धर्मप्राण (नीतिप्राण) बनाने का अदम्य आग्रह लेकर तुलसी ने लेखनी उठाई है और रामकथा को अपने इस व्रत के लिए साधन बनाया है। उनकी चेतना विरोधों को पहचान कर उनके बीच से प्रशस्त मार्ग बनाती हुई चलती है। इसीलिए उनके काव्य में कथा-संदर्भ, पात्र, स्थिति, उपमा-उपमान के द्वारा जड़-चेतनमय द्विधाजड़ित संसार और संकल्प-विकल्पप्राण मनःचेतना का वैपरीत्य आकर्षक रूप में संग्रथित है।

(२)

तुलसी का काव्य-जगत नैतिक तथा धर्मप्रवण जीवन से सम्पन्न उत्कृष्ट कोटि का भाव-जगत है; परन्तु यह भाव-जगत कोरी कवि-कल्पना नहीं है; क्योंकि तुलसी ने उसे भारतवर्ष के श्रेष्ठतम संस्कारों तथा पारम्परिक आदर्शों में साक्षात्कार किया है। तुलसी की भारतवर्ष और भारतीय संस्कृति पर अटूट आस्था है। इसी से उन्होंने किसी स्वप्न-लोक की कल्पना न कर (जैसा "कामायनी" के अन्तिम सर्ग में द्रष्टव्य है) सहज भाव से भारतभूमि को सामने रख मन की बात कह दी है। उत्तर काण्ड के अन्त में उनके इस मनःजगत की झांकी मिलती है जो इस प्रकार हैं :—

धन्य देस सो जहं सुरसरी । धन्य नारि पतिव्रत अनुसरी ॥
धन्य सो भूपु नीति जो करई । धन्य सो द्विज निज धर्म न टरई ॥
सो धन धन्य प्रथम गति जाकी । धन्य पुन्य रत मति सो पाकी ॥
धन्य घरी सोइ जब सतसंगा । धन्य जन्म द्विज भगति अभंगा ॥
सो कुल धन्य उमा सुनु जगत पूज्य सुपुनीत ।
श्री रघुबीर परायन जेंहि नर उपज बिनीत ॥

(मानस, उत्तर० १२७)

इन पंक्तियों को जब हम "विनयपत्रिका" की इन आत्मपरक पंक्तियों से मिलाते हैं तो यह स्पष्ट हो जाता है कि तुलसी जिस रामराज्य की कल्पना कर रहे हैं वह व्यक्तिगत चेतना के माध्यम से अभिव्यंजित होते हुए भी समष्टिगत चेतना पर आधारित है। यह एक अभिनव संसार है जो पीछे छूट गया है; परन्तु कवि अपनी सारी पूर्वाग्रहता से उसे पकड़ना चाहता है। पकड़ना ही नहीं चाहता, वह उसे अपने संकल्प में बांध कर भविष्यत् के पट पर उतारना भी चाहता है। सच तो यह है कि तुलसी यथार्थ और आदर्श की दो दुनियाओं में जीते हैं और उनका काव्य व्यक्तिगत जीवन के यथार्थ से ऊपर उठ कर समष्टिगत जीवन के आदर्श तक फैला हुआ है। यथार्थ की कल्पना कलयुग अथवा रावण-राज की भूमिका का निर्माण करती है तो आदर्श का संकल्प रामराज्य के सतयुगी अपने में सार्थक है; परन्तु यह रामराज्य इतिहास का प्रत्यावर्त्तन नहीं, पौराणिक कल्पना की तन्द्रालस सिद्धि नहीं, आने वाले युगों के प्रति कवि की मंगलाशा है। जिस आशा और उत्साह से कवि ने अपने इस भविष्यत् स्वप्न को वाणी दी है, वह उसे पुरोगामी (और पुनरुत्थान-वादी भी) होने से बचा लेता है। तुलसी के लिए उनका रामराज्य त्रिकाल-सत्य है। इस रामराज्य में वहिरंतर एक है, भीतर के ही मूल्य बाहर भी प्रसारित हैं। तुलसी का संत-मानस द्विधात्मक स्थितियों की कल्पना करता है और दो विरोधी पक्षों में से निर्भ्रान्त रूप से एक अपने लिए चुन लेता है। धर्म-अधर्म, सत्य-असत्य, राम-रावण, जड़-चेतन के रूप में द्वन्द्वों का विस्तार उनके काव्य में मिलेगा। इन द्वन्द्वों को कवि बार-बार उभारता है और अपने पक्ष को स्पष्ट रूप में उद्घोषित कर देता है। तुलसी को विरोधाभास का कवि (पोएट आव कन्ट्रास्ट) कहा गया है। यह

विरोधाभास स्थितिजन्य है और इसी ने तुलसी के काव्य को स्पष्ट,दो-टूक और शक्ति-सम्पन्न बनाया है। अपनी चेतना को निर्भ्रान्त रूप से दो पक्षों में बांट कर तुलसी अपने प्रति आश्वस्त और ईमानदार रह सके हैं। उन्होंने समन्वय-बुद्धि का आत्यंतिक प्रसार करने पर भी इन नौ मूल विरोधी स्थितियों में समझौता नहीं किया है। वे जड़ के साथ नहीं, चेतन के साथ हैं, रावण के साथ नहीं, राम के साथ हैं। रामचरितमानस का सारा काव्य-प्रासाद इसी द्वन्द्वात्मक अनुभूति पर खड़ा है। केवल कथा और परिवेश में ही नहीं, प्रतिमानों के क्षेत्र में भी तुलसी द्वन्द्वात्मक कल्पना को ही प्रश्रय देते हैं। इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि तुलसी का कविकर्म मात्र कविकर्म नहीं है, वह उनकी व्यक्तिगत साधना भी नहीं, उनके सम्पूर्ण व्यक्तित्व का समाधान है जो जहां एक ओर भक्त के नाते सूक्ष्मदर्शी बन कर अपनी अंतश्चेतना की दुर्बलताओं को देखता है, वहां दूसरी ओर दृष्टा के नाते विराट् देश में फैले हुए "दुरित दारिद दुख" और "दुराज" को भी देखता है। दोनों का समाधान एक ही राम है। अंतश्चेतना की पुष्टि के लिए वे ब्रह्म से नीचे उतर कर भगवान और अवतारी राम बन गये हैं; परन्तु राष्ट्र अथवा भारत-संस्कृति के उद्धार के लिए वे दाशरथि राम अथवा महराज राम के रूप में (जो धर्म के प्रतीक हैं) सिंहासनारूढ़ हैं। दोनों रूपों में वे तुलसी को प्रिय हैं। एक से उनकी भक्ति-भावना की पुष्टि होती है तो दूसरे से उनकी संस्कृतिनिष्ठा आश्वस्त होती है। एक ही साथ वहिरांतर पर दृष्टि रखने वाले साधक और कवि बिरले ही मिलेंगे; परन्तु तुलसी में साधना की ये दो भूमियां समानान्तर चल कर भी राम के व्यक्तित्व और कवि की भक्ति-भावना की सांस्कृतिक सम्पन्नता में एकाकार हो गई हैं।

"विनयपत्रिका" के एक पद (पद, ५८) में जहां तुलसी ने रामकथा की अंतर्जागतिक एवं प्रतीकात्मक स्थिति का निर्वाह किया है (जो कवि के भाव-जगत के आत्मिक पक्ष हैं), वहां उन्होंने इसी ग्रंथ में (पद, १३९) में वाह्य परिस्थितियों का भी वर्णन किया है और राम-राज्य की स्थापना से "सुकृत सेन हारत जितई है" कह कर नव अरुणोदय की ओर इंगित किया है। यह नवअरुणोदय तुलसी का मनःसंकल्प है और इसमें अनागत कालों का सपना सुरक्षित है। इस प्रकार तुलसी की मनःचेतना वर्त्तमान क्षण में ही अतीत क्षण तथा भविष्यत् क्षण को सार्थक कर लेती है। यही तुलसी का साक्षात्कार है। इसी के भीतर से रामकथा को देख कर हम उनके प्रति न्याय कर सकेंगे। यहीं उनकी वैष्णवता बन जाती है और भक्ति राष्ट्र-धर्म के रूप में सम्पन्न सांस्कृतिक योजना का वर्म धारण कर लेती है। राम के व्यक्तित्व में तुलसी ने सौन्दर्य शील और शौर्य की पराकाष्ठा कल्पित की है। सौन्दर्य उनकी भक्ति-भावना की मांग है, शील उनकी नैतिक धारणा और तत्सम्बन्धी आकांक्षा की पुकार है, शक्ति स्वदेश और स्वराज्य के लिए आशा और कर्मठता की पुकार है। स्वभाव, स्वधर्म और स्वदेश के प्रति तुलसी की जागरूकता और ईमानदारी राम के व्यक्तित्व के इन तीन स्तरों में मिलेगी। इनमें से किसी एक

को भी हटा दें तो तुलसी की रामकथा अपूर्ण रहेगी और स्वयं उनका चरित्र एकांगी रह जायेगा। वस्तुत: रामकथा तुलसी के विकसनशील, परिपूर्ण एवं आत्मस्थ चरित्र की कथा है। भरत और राम इस चरित्र के दो मूल स्तम्भ हैं दोनों में से किसका पल्ला भारी है, यह कहना कठिन है।

मध्ययुग में राष्ट्रीयता का वह अर्थ नहीं हो सकता था जो अर्वाचीन काल में मान्य है। इसलिए शासकों की विदेशीयता ऐतिहासिक दृष्टि की सृष्टि है; परन्तु उस युग में इतिहास-चेतना पुराण-चेतना के रूप में ही पल्लवित थी। अत: तुलसी ने चारणों और भाटों की पद्धति को नहीं अपनाया। उन्होंने हिन्दू मात्र के भीतर सांस्कृतिक मोर्चा खड़ा किया और रामानन्द के रामरक्षास्तोत्र को रामचरितमानस के वृहदाकार में इस तरह ढाल दिया कि यह एक ग्रंथ सम्पूर्ण भारतीय संस्कृति का प्रतिनिधि ग्रंथ बन गया। भक्ति तुलसी के लिए व्यक्तिगत समाधान हो सकती थी, और इस समाधान से तुलसी ने अपनी संस्कृतिनिष्ठा, काव्यप्रतिभा और कला-चेतना को भली प्रकार लाभान्वित किया है; परन्तु राक्षस-राज्य और राम-राज्य की तुलनात्मक सांस्कृतिक पीठिकाएं प्रस्तुत कर तुलसी एक दूसरी दिशा में भी आगे बढ़े हैं जो सच्ची राष्ट्रीयता की दिशा है क्योंकि राष्ट्रीयता का अर्थ संस्कृति-संरक्षण से भिन्न और क्या हो सकता है? तुलसी का काव्य सच्चे अर्थों में राष्ट्रीय काव्य है क्योंकि वह भारतीय जीवन-चेतना के मूलगत, सूक्ष्म और अव्यमिश्र उपकरणों पर प्रतिष्ठापित है। उसमें सांस्कृतिक एवं चिन्मय भारत का स्पन्दन गतिमान है।

यह कम श्रेय की बात नहीं है कि तुलसी ने न अपने अंतर्जगत के द्वन्द्वों से अपने को आतंकित होने दिया, वाह्य जगत के द्वन्द्वों से ही वे आक्रांत हुये। उन्होंने जहाँ "विनयपत्रिका" (पद, १८५, १८६) में अपनी दुर्बलताओं की भर्त्सना की, वहां साथ ही अत्यंत गर्व से "संसार" के सन्मुख अपने मन का गर्वीला मोर्चा भी बांधा। "मैं तोहि अब जान्यो संसार" (पद, १८२) इस संदर्भ में दृष्टव्य है। "कवितावली" में वहिर्गत जीवन की विभीषिका है; परन्तु वह भी तुलसी को आतंकित नही कर सकी है। "कलियुग" के विरुद्ध उन्होंने रामराज्य की लक्ष्मण-रेखा खींच दी और सम्पूर्ण रामकथा को धर्माधर्म, सदासद एवं संतासंत का संघर्ष बना दिया। उनकी वाणी का अकुंठित स्वर अपने युग के "प्राकृत जन गान" दैन्य और आत्महीनता पर सम्पूर्ण रूप से हावी रहा है। "दोहावली" और "कवितावली" में उनके दृढ़, आश्वस्त एवं निर्द्वन्द व्यक्तित्व की मनमोहक झांकी हमें मिलती है। अपने प्रति अगाध आस्था से परिपूर्ण व्यक्ति ही कह सकता है:

तुलसी देवल देव को लागे लाख करोरि।
काक अभागे हगि भर्‌यो महिमा भई कि थोरि ॥३८४॥
कै निदरहु कै आदरहु सिंहहिं स्वान सियार।
हरष विषाद न केसरहि कुंजर-गंजनिहार ॥३८१॥

स्पष्ट है कि ऐसे निर्द्वन्द्व, अनाकांक्षी तथा तेजस्वी व्यक्तित्व का निर्माण चमत्कारिक घटना है। सम्पूर्ण मध्ययुग में ऐसा तेजवान व्यक्तित्व और कहां मिलेगा? स्मरण रखना होगा कि तुलसी का युग महान व्यक्तित्वों का युग था जिन्होंने इतिहास के पृष्ठों पर अपनी छाप छोड़ी है। परन्तु तुलसी ने भीतर से जो निर्माण किया, वह अप्रतिम वस्तु थी। उन्होंने ईंट-पत्थरों की सीकरी नहीं सजाई, हिन्दू मन के भीतर राममय जीवन का महामन्दिर खड़ा कर दिया। जन्मस्थान का मन्दिर बाबरी आक्रोश का लक्ष्य बन कर भले ही ध्वस्त हो गया, उसके स्थानपर रामचरितमानस की भावभूमि पर लाखों राममन्दिर उठ खड़े हुए और उनके शिखरों पर रखे हुए जयकलश आज भी तुलसी की काव्य-प्रतिभा, उनकी अदम्य संस्कृतिनिष्ठा, उनके अगाध आत्मविश्वास और अक्षय भक्ति-भाव के दैदीप्यान सूर्य हैं।

: १६ :

तुलसी का आत्मजगत

काव्यजगत की भाँति तुलसी का आत्मजगत भी अत्यन्त सम्पन्न है। इस सम्पन्नता को ठीक से समझे बिना हम उनके भक्ति-भाव और काव्य-कला के प्रति न्याय नहीं कर सकेंगे। "मानस", "विनयपत्रिका", "कवितावली" और "दोहावली" इस आत्मजगत की अत्यन्त सुन्दर झांकियां हमारे सामने प्रस्तुत करते हैं। वास्तव में "मानस" तुलसी के आत्मजगत की साधनावस्था का द्योतक है तो शेष रचनाएं उनकी सिद्धावस्था को प्रस्तुत करती हैं यद्यपि अपने जीवन के उत्तरार्द्ध में तुलसी बार-बार अपने बालपन की ओर मुड़ते हैं और समस्त जीवन-काल पर दृष्टि डालते दिखलाई पड़ते हैं।

"मानस" में तुलसी का आत्मजगत विनयशील भक्त, उदात्तचरित्रसम्पन्न युगनेता तथा संयमशील कलाकार कवि का आत्मजगत है जो अपनी काव्यरचना को आत्मसाधना बना रहा है और जिसने युगधर्म (कलिधर्म) के विरुद्ध रामधर्म को चुनौती दी है। तुलसी के रामचरितमानस में प्रगीतात्मक तल्लीनता, स्वच्छन्दतावादी सम्पन्नता और महाकाव्यात्मक उदात्त कल्पना के साथ भक्ति-भावना की गम्भीर आंतरिकता है। उसकी सर्जनशक्ति अबाध और अप्रतिम है। उसमें पर्याप्त मौलिकता है। वह उद्ग्रीव मानस-चेतना का प्रतीक है, ह्रासोन्मुख संस्कृति का विकास उसे छू नहीं गया है। उसमें महाभारत और रामायण की नभचुम्बी ऊंचाइयां और क्षितिजव्यापी विस्तार नहीं हो,—यह कमी उसकी गहनता से पूरी हो जाती है। उसका "व्यक्तिगत" परम्परागत कथा और पौराणिक चेतना पर इतना छा जाता है कि ग्रंथ का रूप ही बदल जाता है। फलस्वरूप इस एक ग्रंथ में महाकाव्य और गीतिकाव्य की विभाजक-रेखाएं समाप्त हो जाती हैं और पात्रों के चरित्र तथा कथा के महाकाव्यात्मक विस्तृति में भक्ति की तरल संवेदना लहरों की तरह उठती-गिरती दिखलाई देती है। भक्ति की इस व्यक्तिगत, तीव्र तथा एकनिष्ठ अनुभूति ने ही तुलसी की रचना को विशेषत्व दिया है। परन्तु यह भक्ति मध्ययुग की राष्ट्रीय (या सांस्कृतिक) उपलब्धि भी है और इसने रामकथा के राष्ट्रीय स्वरूप का संवर्द्धन ही किया है। बाल्मीकि की रामकथा धर्मकथा है, कालिदास की रामकथा चरित्रकथा तो तुलसी की रामकथा सम्पूर्ण जाति की आध्यात्मिक (भक्तिमूलक) चेतना का इतिहास है। उसमें धर्म और चरित्र का

भी बहुत कछ आ गया है क्योंकि तुलसी के राम धर्म के प्रतीक हैं और उनके पात्रों में चरित्र की पराकाष्ठा है; परन्त उन्हें मध्ययुग की श्रेष्ठतम संस्कारिता (भक्ति) का इतना सम्भार मिला है कि वह सम्पूर्ण भक्ति-साहित्य और पुराण-साहित्य के केन्द्र में प्रतिष्ठित है। इस दृष्टि से उसे भागवत का नवीन संस्करण कहा जा सकता है यद्यपि भागवत के विपरीत वह लोकसंग्रही जीवन चेतना और उदात्त जीवनदर्शन से ओतप्रोत है। भागवत प्रतीक-ग्रंथ है, उसकी भाषा समाधि-भाषा है, परन्तु रामचरितमानस साक्षात्कार है और उसकी भाषा में मानव-चेतना के सभी स्तर मूर्तिमान हो गये हैं। तुलसी के साक्षात्कार को समझने के लिये हमें उनके आत्मलाभ की ऊंचाई तक उठना होगा; परन्तु रामचरितमानस के प्रत्येक सोपान पर तुलसी हमारे साथ मार्गदर्शक के रूप में हैं। उनकी अंतःप्रेरणा के लिए हमें उनके व्यक्तित्व के भीतर उतरना होगा। सच तो यह है कि तुलसी के व्यक्तित्व को खोलने की एकमात्र कुंजी भक्ति है, वह परम पुरुषार्थ है; क्योंकि आत्मसमर्पण आत्मपरक सांस्कृतिक चेतना का चरम लक्ष्य ही बन सकता है। इस आत्मसमर्पण को हम भाग्य-वाद, नियतिवाद, परोक्षवाद आदि सूत्रों में नहीं बांध सकते। वह जीवंत चेतना है। हमारी वैज्ञानिक (विश्लेषणात्मक) और उपयोगितावादी तर्कबुद्धि ने हमें आत्म-संकोची बना दिया है और हम अपनी व्यक्तिगत इकाई में सिमट कर ही अपने को सुरक्षित समझने लगे हैं। समस्त संसार को दो बाहुओं में भर लेने वाली आत्मप्रसारक जीवनदृष्टि हमारे पास नहीं रह गई है। इसीलिए हम मध्ययुगीन साधकों को निवृत्ति-मार्गी कह कर उनके लोकपरक (आत्मकल्याणी) प्रवृत्तिवाद को आंखों की ओट कर देते हैं। संतों और भक्तों के व्यक्तित्व में इस प्रकार की विभाजक-रेखाएं नहीं हैं। तुलसी का साहित्य प्रमाण है। उसमें जीवन का सत्य है; परन्तु उसके भी ऊपर है आत्मा का सत्य। युगसत्य को रावणराज्य के रूप में बांध कर कवि ने आत्मिक सत्य को रामराज्य का रूपक दिया है और इस प्रकार जहां वर्त्तमान की समीक्षा की है वहां भूत का पुनर्मूल्यांकन भी किया है। यही नहीं, उसके साहित्य में शाश्वत मानव-धर्म की रूपरेखाएं भविष्यत् संकल्प के साथ उभरी हैं और उसमें मानव के बहिरन्तर के लिए समान रूप से समाधान मिलेगा।

कहने का तात्पर्य यह है कि रामचरितमानस में तुलसी का आत्मजगत अत्यन्त भाव-सम्पन्न, विनम्र, कल्पनाशील युगचेता तथा भक्तिप्रवण कवि का व्यक्तित्व है। उसने दो विरोधों को स्पष्ट रूप से देखा है। ये विरोध देह और आत्मा के दो पक्षों को लेकर हैं जिनके परम्परागत प्रतीक रावण और राम हैं। देहबुद्धिप्रधान भौतिक जीवन की अपार समृद्धि राक्षसी माया है वह जड़ को देखती है, चेतन को नहीं। इसके विपरीत चेतन बुद्धिप्रधान आत्मिक जीवन की सम्पन्नता नैतिक मूल्यों को प्रश्रय देती है। राम-रावण-युद्ध देह पर आत्मा की विजय का रूपक है। विजयरथ-प्रसंग में तुलसी ने इसी आत्मिक संस्कृति की दुंदभी बजाई है। यही तुलसी-संस्कृति है।

अन्य कवि ने किया हो। द्वन्द्वात्मकता के प्रति यह सजगता उनके काव्य में बारबार मिलेगी। यह कहा जा सकता है कि "मानस" कार का मानस राम-रावण, सत्-असत्, धर्म-अधर्म, नीति-अनीति, सुन्दर-असुन्दर, शिव-अशिव के दो विरोधी पक्षों को छोड़कर और कुछ देख ही नहीं पाता। इनमें से तुलसी किस पक्ष के साथ हैं, इसके सम्बन्ध में किंचित् मात्र भी संदेह नहीं हो सकता। यह पक्षधरता पूर्वग्रह की सीमा तक पहुंच गई है। यह स्पष्ट है कि "मानस" में तुलसी अपनी भक्त-प्रवृत्ति पर हावी हैं। उन्होंने उसे भरत, हनुमान, निषाद जैसे पात्रों में ढ़ाल दिया है। वे परदे के पीछे चले गये हैं; परन्तु उनके पात्र किस डोरे पर चलते हैं, यह कोई भी विज्ञ देख सकता है। आश्चर्य यह होता है कि भक्त की भावुकता और तरलता में भी तुलसी अपनी विराट् जीवनदृष्टि और सर्वग्राही जीवनचेतना को नहीं छोड़ते। वह स्रष्टा ही नहीं, युगद्रष्टा भी हैं।

परन्तु तुलसी के व्यक्तित्व का एक दूसरा रूप हमें मानसोत्तर रचनाओं में मिलता है। इनमें गीतावलियों तथा विनयपत्रिका का जगत एक स्वतन्त्र इकाई है। इन ग्रंथों में मधुरता की साधना है, कोमलता की खोज है। विराट् की अपेक्षा सूक्ष्म और ओज की अपेक्षा कोमलता की पकड़ हमें यहां मिलेगी। इन रचनाओं में तुलसी ऋत्चित् और ऋतात्व न होकर मंद्रजिह्वा हैं। रामचरितमानस में उन्हें युवाकवि: कहा जा सकता है; क्योंकि द्रष्टा के परिपक्व चिन्तन के साथ-साथ उनमें यौवा का चुनौती-भरा साहस भी है। परन्तु इन परवर्ती रचनाओं में वे आत्मशोधी हैं, द्रवित चन्द्रमणि की भाति पारदर्शी ही नहीं, करुणाविगलित भी है। वे अपने में सिमट गए हैं। उनका आत्मजगत हार्दिक मानवीय संवेगों से आप्लुत और सर्वसमर्पी है। वे स्वयं राममय हो गए हैं। भरत, हनुमान और निषाद में उन्होंने जिस आत्मदानी व्यक्तित्व की कल्पना की है, उस व्यक्तित्व को उन्होंने अपनी काव्यसाधना में मूर्तिमान कर लिया है। "विनयपत्रिका" में हमें स्तोत्रों की एक श्रृंखला मिलती है; जो एक लम्बी सांस्कृतिक परम्परा है और उसकी महाकाव्यात्मक उठान हमें चमत्कृत कर देती है। भाषा, विचार, आराधन और काव्य का विचक्षण समन्वय हमें इन प्रगीतों में मिलता है। ये प्रगीत सामासिक वाद्य-संगीत की भांति जातीय कंठ को उद्घोषित कर देते हैं। उनमें व्यक्तिगत उतना ही है जितना तुलसी की छाप देकर अंतिम पंक्ति में सामने आया है। इस अंश को छोड़ दें तो शेष 'विनयपत्रिका' को समर्पण-काव्य ही कहा जा सकता है। इस गलिदाश्रु व्यक्तित्व तक हम तर्कबुद्धि से नहीं पहुंच सकते। इसके मर्म तक पहुंचने के लिए श्रद्धा चाहिए। वह श्रद्धा आज के अहंवादी युग में हमें कहां मिलेगी ? ग्रियर्सन ने ईसाई मर्मियों की वाणी की टेक पकड़ कर इस व्यक्तित्व को पहचाना है; परन्तु वे आत्मपरिष्कृति तक ही पहुंच पाए हैं। रामचरितमानस जगबीती है तो विनयपत्रिका आपबीती। इस प्रकार ये दो रचनाएं तुलसी के व्यक्ति के दो छोरों को छूती हैं।

परन्तु तुलसी का तीसरा व्यक्तित्व भी है; जिसमें आत्म-पर घुलमिल कर

एक हो गया है, जगबीती आपबीती और आपबीती जगबीती हो गई है। इस प्रौढ़तम व्यक्तित्व में द्वन्द्वों का समाहार है। "कवितावली" का उत्तरकाण्ड, बाहुक, दोहावली और बरवै रामायण के कुछ स्फुट छंदों में हमें इस तुलसी की झलक मिलती है। भाषा की नादात्मक शक्ति, लक्षणा-व्यंजना और छांदसी गरिमा का अनोखा चमत्कार हमें इन स्फुट रचनाओं में मिलता है। "आत्म" से हट कर तुलसी ने एकबार फिर "पर" को देखना चाहा है; परन्तु रामचरितमानस के सपने को चरितार्थ होते न देख वे क्षुब्ध और संस्मरणात्मक हो उठे हैं। उनका यह क्षोभ भी दर्शनीय है। इसकी कटुता भी तटस्थता के कारण आकर्षक बन गयी है। आत्मिका के रूप में तुलसी ने जो कुछ कहा है वह तो संग्रहणीय है ही क्योंकि उसी में हमें तुलसी के जीवनगत द्वन्द्वों, मानस-भूमियों, तैयारियों तथा आत्मोपलब्धियों का पता चलता है। यह व्यक्तित्व जहां एक ओर चट्टान की तरह अडिग और आस्थावान है :

जागें जोगी जंगम, जती जमाती ध्यान धरैं,
उरैं उर भारी लोभ मोह कोह काम के।
जागें राजा राजकाज, सेवक समाज साज,
सोचैं सुनि समाचार बड़े बैरी बाम कै ॥
जागें बुध विद्याहित पंडित चकित चित,
जागें लोभी लालच धरनि धन धाम के।
जागैं भोगी भोगही, वियोगी रोगी सोगबस,
सोवै सुख तुलसी भरोसे एक राम के॥

(कवितावली, १०९)

और इस प्रकार चुनौती की ललकार देता है :

धूत कहौ, अवधूत कहौ, रजपूत कहौ, जोलहा कहौ कोऊ।
काहू की बेटी सों बेटा न ब्याहब, काहू को जाति बिगार न सोऊ॥
तुलसी सरनाम गुलाम है राम को, जाको रुचै सो कहै कछु ओऊ॥
मांगि कै खैबो मसीत को सोइबो, लैबे को एक न दैबे को दोऊ॥

—(कवितावली, १०६)

वहाँ "बाहुक" में वह अपने समस्त जीवन का लेखा जोखा लेता हुआ अन्त में अपनी वेदना का प्रकाशन यों करता है :

बालपने सूधे मन राम सनमुख भयो,
राम नाम लेत, मांगि खात टूकटाक हौं।
पर्‌यो लोकरीति में, पुनीत प्रीत रामराय,
मोहबस बैठो तोरि तरकि तराक हौं॥
खोटे खोटे आचरन आचरत अपनायो,
अंजनीकुमार सोध्यो रामपानि पाक हौं॥

तुलसी गुसाईं भयो, भोंड़े दिन भूलि गयो,
ताको फल पावत निदान परिपाक हौं ।।
असन-बसन हीन, विषम-विषाद लीन,
देखि दीन दबरो करं न हाय हाय को ?
तुलसी अनाथ सों सनाथ रघुनाथ कियो,
दियो फल सीलसिंधु आपने सुभाव को ।।
नीच यहि बीच पति पाइ भरुआई गो,
बिहाय प्रभुभजन बचन मन काय लो ।
तातें तनु पेषियत घोर बरतोर मिस,
फूटि-फूटि निकसत लोन रामराय को ।।
—(बाहुक ४०-४१)

और अन्त में इस उलाहना के साथ मौन हो जाता है :

कहौं हनुमान सों सुजान रामराय सों,
कृपानिधान संकर सों, सावधान सुनिए ।
हरष-विषाद-राग रोष-गुन दोष-मई,
बिरचि बिरंचि सब देखियतु दुनिए ।।
माया जीव काल के, करम के सुभाय के,
करैया राम, बेद कहैं, सांची मन गुनिए ।
तुमतें कहा न होय, हाहा, सो बुझैये मोहिं,
होहूं रहौं मौन ही, बयो सो जानि लुनिए ।।
—(बाहुक, ४४)

इस कटाक्षेप के साथ तुलसी का कृतित्व समाप्त हो जाता है; परन्तु उनके व्यक्तित्व की जागरूकता, सप्राणता एवं आत्मविभोरता उनकी रचनाओं में आद्यंत सुरक्षित रहती है। उनका सम्पन्न आत्मजगत आज भी खुला पृष्ठ है। उनके भौतिक जीवन की रूपरेखाएं भले ही अस्पष्ट हों, उनके व्यक्तित्व के सभी सोपान स्पष्ट हैं। उनकी उत्तरोत्तरता में संदेह नहीं किया जा सकता। एक ही स्थान पर यदि हमें उनके अपरिसीम व्यक्तित्व का चमत्कार देखना है तो दोहावली उपयुक्त रचना सिद्ध होगी जिसमें तुलसी का व्यंग विनोद, आत्मविश्वास, फक्कड़पन, नीति-चातुर्य और आत्मदंश छोटी-छोटी सूक्तियों में सार्थक हो उठा है। काव्य यदि जीवन-समीक्षा है तो उसे यहां परिपूर्णता मिलती है। इन सूक्तियों में चातक के प्रति कही सूक्तियां भी हैं जो आत्मप्रबोधन कही जा सकती हैं। ऐसे स्थलों पर काव्य आत्मदीक्षा (या अग्निदीक्षा ?) बन गया है। सच तो यह है कि तुलसी का समस्त काव्य ही उनका आत्मजगत है; क्योंकि उन्होंने "आत्म" को ही काव्य में ढाल दिया है उनका काव्य उनकी उदात्त आत्मा का महाकार दर्पण ही तो है।

: १७ :

तुलसी-संस्कृति

जिन अर्थों में और जितनी दूर तक तुलसी को आध्यात्मिक जीवन का महाकवि कहा जा सकता है उन अर्थों में और उतनी दूर तक कदाचित् दांते को छोड़ कर संसार के किसी भी कवि को इसी विशेषता से अभिहित नही किया जा सकता। इसमें संदेह नहीं कि हमारे महाकवियों की भूमि आध्यात्मिक रही है। व्यास, बाल्मीकि और कालिदास तीनों धर्मदृष्टि-संपन्न हैं यद्यपि तीनों में यह दृष्टि विशेष व्यवहार-दर्शन, नैतिक जीवन और सौन्दर्यचेतना के तीन विभिन्न रूपों में प्रकाशित हुई है। परन्तु इन कवियों का काव्य अध्यात्म से उतना ओतप्रोत नही है जितना तुलसी या सूरदास का काव्य। आध्यात्मिक जीवन आंतरिक जीवन है, वह भौतिक जीवन न होकर आत्मा का जीवन है और तुलसी के काव्य में इसी आंतरिक तथा आत्मिक सत्य को वाणी मिली है। कहा जाता है कि तुलसी का काव्य जीवन के प्रतिषेध का काव्य है, वह विरागात्मक है, उसमें जीवन की अस्वीकृति है अथवा पलायन है, परन्तु ऐसा कह कर हम जीवन को वहिर्चेतना तक सीमित कर देते है जो निश्चय ही एकांगी दृष्टि है। अन्तरंगी जीवन भी कम महत्वपूर्ण नहीं है, वरन् एक प्रकार से वहिर्जगत हमारे अन्तरंग से ही प्राणवान बनता है। बाहर जो है वह तथ्यगत, अनेकरूपी और विविध है। वह अर्थवान तभी है जब उसमें केन्द्रीयता की स्थापना हो और यह केन्द्रीयता दृष्टा के आत्मिक (व्यक्तिगत) दृष्टिकोण का ही फल है। फलतः यह कहा जा सकता है कि तुलसी का वहिर्जीवन के प्रति निषेध या विराग उनकी आंतरिक सम्पन्नता का ही द्योतक है। विराग इसलिए कि राम के प्रति उत्कृष्ट और परिपूर्ण राग का संग्रह हो सके। वैसे विराग अपने में निरर्थक है। तुलसी केवल राम के नाते ही वहिर्जगत के "नाते-नेह" मानते हैं, इसीलिए उनके प्रकृति-प्रेम, मानवीय संवेग, कविकर्म तथा जीवन-चेतना का एकमात्र लक्ष्य "राम" हैं। ये "राम" पौराणिक या अवतारी राम मात्र नहीं है। इनसे तुलसी का आध्यात्मिक जगत पूर्णतः ओतप्रोत है। वस्तुतः वे उनके आध्यात्मिक जगत के प्रतीक मात्र हैं जो चरम सत्य होने के साथ वहिरांतर को समान रूप से आप्लुत किये हुए हैं। उनके "राम" के इस प्रतीक-रूप को समझने पर ही हम उनके साहित्य के महत्व को ठीक-ठीक समझ सकेंगे और उसे आध्यात्मिक सिद्ध करने में समर्थ होंगे।

इसीलिए जब संस्कृति की बात उठती है तो हम तुलसी के काव्य में उसे भरपूर पाते है; परन्तु वह उस संस्कृति से भिन्न है जो व्यास, बाल्मीकि और कालिदास के काव्य में सुरक्षित है। वास्तव में भारतीय संस्कृति एक और अविच्छिन्न है; परन्तु इन महाकवियों में उसके विभिन्न पक्षों पर बल मिलता है। व्यास में भारतीय संस्कृति की धर्मशीलता है, बाल्मीकि मे चरित्रमूलकता, कालिदास में सौन्दर्यचेतनता जो प्रकृति, नारी और जीवन के प्रति उनके अबाध तथा कोमल आकर्षण में प्रत्यक्ष है। तुलसी मे भारतीय संस्कृति का अन्तर्भूत आंतरिक पक्ष (अध्यात्म) पल्लवित हुआ है। शेष सब कुछ अंग बन कर आया है। इसी से तुलसी के काव्य की रूपरेखा ही भिन्न है। यदि वह किसी अन्य कवि से मिलती है तो व्यास से ही, परन्तु उनके ग्रंथों में व्यास की आत्मसंयमित रेखांकन-पद्धति के साथ सामासिक समाधि-भाषा भी है। उन्होंने सत्यं-शिवं-सुन्दरं में "शिवं" को ही महार्घता दी है और उसमें अद्वैतम् एवं आनन्दम् को जोड़ कर उसे त्रिसूत्री बनाया है।

प्रारंभ में ही यह बता देना है कि तुलसी-संस्कृति कहने से यह तात्पर्य नहीं कि जिस संस्कृति की रूपरेखा "मानस" और अन्य रचनाओं में मिलती है वह एकांततः तुलसी का आविष्कार है। उसमें बहुत कुछ (कदाचित् सभी) परम्परागत है, प्राचीन है; परन्तु तुलसी के साक्षात्कार ने उसे नवीनता प्रदान की है और वह उनका अनुभूत सत्य बन गया है। स्वयं तुलसी "नानापुराणनिगमागमसम्मत" कह कर अपने सांस्कृति दाय की ओर इंगित करते हैं। उनका सांस्कृतिक जगत सब धर्मों का सारभूत सत्य हे। उनकी आध्यात्मिक संस्कृति में भारतीय आध्यात्मिक चेतना ही नहीं, मानव-मात्र की मूलभूत तथा अंतरंगी आध्यात्मिकता मूर्त्तिमान हुई है। इसी से उसमें सार्वभौमिक प्रश्न और समाधान प्रस्तुत है। देशकालजातिनिरपेक्ष विश्व-मानव को तुलसी ने आत्मिक स्तर पर साकार किया है। यह उर्वरा धरती मानव-मात्र के लिए समान रूप से उपलब्ध है; परन्तु भारतीय जीवन में उसका अपेक्षाकृत अधिक उपयोग हुआ है। उपनिषद, गीता, भागवत और रामचरितमानस वैष्णव परम्परा के भीतर इसी अध्यात्म-भूमि का प्रकाशन करते हैं; परन्तु बौद्ध साहित्य और शैव तथा तन्त्र ग्रंथों में विभिन्न पर्यायों में समानान्तर रूप से इसी भूमि का प्रसार है। तुलसी के साथ जोड़ कर हम इस संस्कृति को मध्ययुग की ऐतिहासिकता देते हैं, उसे व्यक्तिगत साधना से सम्पन्न करते हैं और अपने अत्यन्त समीपी समीकरण की ओर इंगित करते हैं। यह संस्कृति तुलसी के व्यक्तिगत जीवन (या व्यक्तित्व) की अनिवार्यता थी; परन्तु उसमें शाश्वत जीवन-धर्म भी उसी अनिवार्यता और शक्तिमत्ता से प्रवहमान है।

इस तुलसी-संस्कृति का प्रथम सोपान भौतिक जगत से परे सर्वव्यापिन् चिन्मय जगत की सत्ता है। यह चिन्मय जगत धर्ममय, मूलभूत और अंतरंगी है। उपनिषद् के शब्दों में वह "सत्यस्य सत्यं" और "एकम् अद्वितीय" है। वह "अजातम्, अमृतम्, एकतम्, असंस्कारतम्" है। पदार्थ-मात्र नित्य है; परन्तु नश्वर पदार्थों से परे ऋत्

और सत्य के रूप में सूक्ष्म, चिन्मय, सच्चिदानन्द, अद्वैत वास्तविकता विराजमान है। इसी चरम सत्ता को तुलसी ने "राम" में मूर्त्तिमान किया है। राम ब्रह्म हैं, वही एकमात्र सत्य हैं। तुलसी उन्हें "हरि", "कृष्ण", "विष्णु", "शिव" आदि अनेक पर्यायों से याद करते हैं; परन्तु इस मूलभूत चिन्मयता के प्रति उनका पूर्वग्रह निरन्तर बना रहता है। कागभुशुण्डि-प्रसंग में अखिल ब्रह्माण्ड में, अनेक सर्ग-प्रलय के बीच में तुलसी ने इस चिन्मयता (ब्रह्म या राम) को एकमात्र अपरिवर्त्तनीय माना है। वे राम को इस प्रकार परिभाषित करते हैं :

राम सच्चिदानन्द दिनेसा। नहिं तहं मोह निसा लवलेसा ॥
सहज प्रकासरूप भगवाना। नहि तहं पुनि बिग्यान बिहाना ॥
हरष बिषाद ग्यान अग्याना। जीव धर्म अहमिति अभिमाना ॥
राम ब्रह्म व्यापक जग जाना। परमानन्द परेस पुराना ॥

—(बालकाण्ड ११६)

राम ब्रह्म चिनमय अबिनासी। सर्व रहित सब उर पुर बासी ॥

—(वही, १२० क)

संशय सर्प ग्रसन उरगादा। शमन सुकर्कश तर्क विषादा ॥
भव भंजन रंजन सुर यूथा। त्रातु सदा नो कृपा वरूथा ॥
अमलमखिलमनवद्यमपारं। नौमि राम भंजन महि भारं ॥
भक्त कल्पपादप आरामः। तर्जन क्रोध लोभ मद कामः ॥
अति नागर भव सागर सेतुः। त्रातु सदा दिनकर कुल केतु ॥
अतुलित भुज प्रताप बल धामः। कलिमल विपुल विभंजन नामः ॥
धर्म वर्म नर्मद गुण ग्रामः। संतत शं तनोतु मम रामः ॥
जदपि विरज व्यापक अविनासी। सब के हृदयं निरंतर बासी ॥

—(अरण्य ११)

तात राम नहिं नर भूपाला। भुवनेस्वर कालहु कर काला ॥
ब्रह्म अनामय अज भगवंता। व्यापक अजित अनादि अनंता ॥
गो द्विज धेनु देव हितकारी। कृपासिंधु मानुष तनुधारी ॥
जन रंजन भंजन खल बसता। बेद धर्म रच्छक सुनु भ्राता ॥

—(सुन्दर ११)

बिस्वरूप रघुबंस मनि करहु बचन बिस्वासु।
लोक कल्पना बेद कर अंग अंग प्रति जासु ॥

पद पाताल सीस अज धामा। अपर लोक अंग अंग विश्रामा।
भृकुटि बिलास भयंकर काला। नयन दिबाकर कच घनमाला ॥
जासु घ्रान अस्विनीकुमारा। निसि अरु दिवस निमेष अपारा ॥
श्रवन दिसा दस बेद बखानी। मारुत स्वास निगम निज बानी ॥
अधर लोभ जम दसन कराला। माया हास बाहु दिगपाला ॥

आनन अनल अंबुपति जीहा । उतपति पालन प्रलय समीहा ।।
रोम राजि अष्टादस भारा । अस्थिसैल सरिता नस जारा ।।
उदर उदधि अधगो जातना । जगमय प्रभु का बहु कल्पना ।।
अहंकार सिव बुद्धि अज मन ससि चित्त महान ।
मनुज बास सचराचर रूप राम भगवान ।।

—(लंका० १५)

यह रामत्व का निर्गुण, निर्वैयक्तिक स्वरूप है, जो साक्षात्कार (विज्ञान) का विषय है। यह भावसाधना का विषय नहीं हो सकता। भाव-साधना के लिए ही ब्रह्म को सगुण मान कर उसके साथ अनेक मानवीय सम्बन्धों की कल्पना की गई है। तुलसी ने इन मानवीय सम्बन्धों में से एक को विशेष रूप से ना है। चुवे राम को "स्वामी" के रूप में देखते हैं और उनसे सेवक-सेव्य भाव का नाता जोड़ते हैं। राम के ऐतिहासिक अथवा पौराणिक स्वरूप से उनकी इस मान्यता की रक्षा भी हो जाती है क्योंकि राम राजा हैं, लोकसंग्रही तथा धर्मसंस्थापक हैं। वे दुष्टों के दण्डदाता और साधु मात्र के परित्राता हैं। युगधर्म को पहचान कर तुलसी ने इसी कल्याणकारी रूप में राम की अभिवंदना की है। परन्तु तुलसी यह जानते हैं कि ये व्यक्तिगत तथा बौद्धिक सम्बन्ध ब्रह्म-जिज्ञासा का सब कुछ परिशेष नहीं कर देते, चिन्मय परोक्ष सत्ता का महदांश इनसे बाहर रह जाता है। नभचुम्बी कैलाश-शिखरों की ऊंचाइयां अन्धकार में खो गई हैं और हमारी आंखें पदतल में पड़े हुए पर्वतीय विस्तार को ही देख पाती हैं।

तुलसी-संस्कृति की दूसरी धारणा है कि यह चरम सत्ता मानव-हृदय में अन्तर्यामिन् के रूप में निवसित है मानवात्मा में ब्रह्म का निवास है। "तद्दूरे नदवंतिके" कह कर उपनिषद् ने जिस अन्यतम नैकट्य की कल्पना की है, वह संत-धाधना का अनुभूत सत्य है। बौद्धों का भी विश्वास है कि आदि बुद्ध सूक्ष्म रूप में सबके हृदय में विराजमान हैं। सर्वव्यापिन् चिद्शक्ति (ब्रह्म) ही मानव-हृदय के भीतर आत्मा के रूप में प्रतिष्ठित है। इस प्रकार भीतर-बाहर समान रूप से एक ही चिन्मयता का प्रसार है। सच तो यह है कि ब्रह्म और आत्मा पर्यायवाची शब्द हैं क्योंकि उसी एक सर्वव्यापिन् अन्तर्यामिन् चिन्मय शक्ति के लिए दोनों का उपयोग हुआ है। राम के प्रति आस्था इसी वहिरांतरभूत चरम सत्ता की अनुभूति का दूसरा नाम है और रामभक्ति इसी चिन्मयता के प्रति भक्त का तादात्म्यभाव है।

तीसरे, यह चरम वास्तविकता मनुष्य के लिए परमादर्श है, जिसे सत्यं, शिवं, सुन्दरम् के रूप में कल्पित करने की चेष्टा हुई है मनुष्य के सभी मानदण्ड यहां आकर समाप्त हो जाते हैं। ज्ञान, भक्ति, कर्म, योग सबकी पराकाष्ठा ईश्वर है। वह परम सत्य, परम शिव, परम आनन्द है। सभी धर्मों का एक मात्र लक्ष्य इसी परात्पर की उपलब्धि है। उसे पाकर ही परम शान्ति की प्राप्ति होती है क्योंकि शाश्वत होने के कारण वही एक प्रकार से संग्रहणीय है। भगवान् बुद्ध ने

स्पष्ट कहा है : यह अनिच्चन् तम नालम् अभिनन्दितम् नालम् अभिवादितम् नालम् अज्झोसितम् (जो शाश्वत् नहीं है वह मनुष्य के लिए न आनन्द का विषय हो सकता है, न भिवादन का, न आकर्षण का)। इसी अन्तिम लक्ष्य को तुलसी ने राम कहा है और उन्हें एकमात्र वास्तविकता माना है। उन्होंने राम, रामभक्ति और रामाश्रित जीवन को मानव-जीवन का चरम लक्ष्य माना है।

चौथी कल्पना यह है कि यह वास्तविकता मानवीय सम्बन्धों में प्रेम के रूप में प्रकाशित है। महायान-दर्शन में "महाकरुणाचित्तम्" को "बोधि" का सार बतलाया गया है। तुलसी के राम भी परम कारुणीक हैं। भक्त की ओर से भक्ति और भगवान की ओर से करुणा का प्रसार आरोहण-अवरोहण के दो प्रमुख सूत्र हैं। परन्तु मनुष्य-मनुष्य के पारस्परिक सम्बन्धों में "परहित-धर्म" के रूप में इसी करुणा की अपरिसीम व्याप्ति है। तुलसी स्पष्ट कहते हैं :

परहित सरिस धर्म नहिं भाई। परपीड़ा सम नहि अधिमाई॥

तुलसी ने इस धर्म को "संत-स्वभाव" के रूप में ग्रहण किया है और संत-चर्या की रूप-रेखा यों प्रस्तुत की है :

कबहुंक हौं यहि रहनि रहौंगो।
श्री रघुनाथ-कृपालु-कृपा ते संत सुभाव गहौंगो॥
यथा लाभ संतोष सदा काहू सौं कछु न चहौंगो।
परहित निरत निरंतर मन क्रम बचन नेम निबहौंगो॥
परुष बचन अति दुसह स्रवन सुनि तेहि पावक न दहौंगो।
बिगत मान, सम सीतल मन, परगुन, नहि दोष कहौंगो॥
परिहरि देहजनित चिंता, दुख सुख समबुद्धि सहौंगो।
तुलसिदास प्रभु यहि पथ रहि अविचल हरि भक्ति लहौंगो॥

—(विनयपत्रिका, १७२)

परन्तु भक्त के लिए मानव-धर्म भगवान के नाते ही धर्म है। इसीलिए तुलसी का मानववाद कोरा बुद्धिवाद न होकर आध्यात्मिक एकात्मता अथवा सत्ता मात्र की चिन्मयता पर आधारित है। "नाते नेह राम के मनियत सुहृद सुसेव्य जहां लों" पंक्ति में तुलसी ने अपनी इसी आध्यात्मिक मानववादी प्रेरणा को स्पष्ट किया है। यही क्रियात्मक वेदाँत का मूलाधार है। यह स्पष्ट है कि हम भक्तों और संतों को पलायनवादी नहीं कह सकते क्योंकि वे मनुष्य मात्र के प्रति अपनी कर्त्तव्यनिष्ठा को जाग्रत करने के लिए ही प्रपंचात्मक क्षुद्र बन्धनों को तोड़ते हैं। उनका विराग आत्मप्रसार ही कहा जा सकता है। उसमें विराट् चैतन्य की अनुभूति के द्वारा आत्मसंकोच को चुनौती मिलती है। बौद्धधर्म की महाकरुणा की अनुभूति की तरह वैष्णव धर्म की चिन्मयता की यह सक्रिय अनुभूति भी श्रेष्ठतम मानव-धर्म है और उसे प्रकारांतर ही समझा जा सकता है।

पांचवीं धारणा है कि रामाश्रित जीवन नैतिक जीवन है, आत्मदानी और बलिदानी जीवन है। वैराग्य, आत्मसमर्पण, नैतिक अनुशासन और संयम हरिभक्ति पथ के अनिवार्य अंग हैं। व्यक्तिगत रूप से ध्यान, धारणा, नामस्मरण आदि में इस मार्ग का प्रकाशन है। तुलसी ने नवधा और दशधा भक्ति के रूप में अपने हरिभक्ति पथ की विस्तृत भूमिका हमारे सामने प्रस्तुत की है।

छठा सोपान करुणा, मैत्री अथवा अहिंसा का संदेश है जीवन की अखण्डता तथा चिन्मयता के प्रति क्रियात्मक भावाभिव्यक्ति का ही दूसरा नाम है। भगवान राम के चरित्र में कवि ने इसे सम्पूर्ण रूप से मूर्तिमान किया है। वे परम कारुणीक हैं। उनकी करुणा ही भक्त का बल और आश्वासन है। इसे ही तुलसी ने भक्तवत्सलता नाम दिया है। उनका सम्पूर्ण साहित्य भक्त के आत्मसमर्पण-भाव और भगवान की भक्त-वत्सलता का ही उदाहरण कहा जा सकता है। "विनय-पत्रिका" में भक्त और भगवान के इस सम्बन्ध को अन्यतम नैकट्य का रूप दे दिया गया है और उसकी अभिव्यक्ति वैयक्तिक भाव-साधना में हुई है। यह भाव-साधना अत्यन्त मार्मिक है और इसमें मानवीय संकल्प विकल्प तथा सूक्ष्मतम आध्यात्मिक परिष्कृत का चित्र आकर्षक ढंग से उभरा है। कहने का तात्पर्य यह है कि भक्त को सर्वदिक् भगवान की करुणा और भक्तवत्सलता का ही प्रसार दिखलाई पड़ता है और इसी में उसे मूलगत चिन्मयता की झलक दिखलाई पड़ती है। इसी भावभूमि पर वह विश्वमैत्री की अनुभूति प्राप्त करता है। वैसे तुलसी ने स्वयं भगवान राम के मुख से मित्रता के विशिष्ट गुणों का वर्णन कराया है और उनके राम मित्रता के आदर्श कहे जा सकते हैं; परन्तु व्यापक रूप से विश्वमैत्री की कल्पना भी उनमें परिपूर्ण रूप से दिखलाई देती है। यह विश्वमैत्री ही उनके साहित्य में संत की "रहनि" बन कर सामने आई है। तुलसी कहते हैं :

> काज कहा नरतनु धरि सा्र्यो।
> पर-उपकार सार श्रुति को जो सो धोखेहु न बिचार्यो॥
> द्वैत मूल, भय सूल, सोग फल, भव तरु टरै न टार्यो।
> राम-भजन तीछन कुठार लै सो नहिं काटि निवार्यो॥
> संसय-सिंधु नाम-बोहित भजि निज आतमा न तार्यो।
> जनम अनेक बिबेकहीन बहे जोनि भ्रमत नहिं हार्यो॥
> देखि आन की सहज सम्पदा द्वेष-अनल मन जार्यो।
> सम दम दया दीन-पाछन सीतल हिय हरि न सम्भार्यो॥
>
> —(विनय० २०२)

वैष्णव भक्ति-परम्परा में विशुद्ध नैतिक और आध्यात्मिक भूमि पर अहिंसा का अपार महत्व है क्योंकि उसी में प्राणिमात्र की एकात्मता तथा चिन्मयता का प्रकाशन सम्भव है; परन्तु यह अहिंसा-भाव बौद्ध अहिंसा-भाव से भिन्न है। इसमें दानवीय शक्तियों के विरुद्ध कटिबद्धता का भाव मिश्रित है। गीता की "यदायदाहि

धर्मस्य" वाली घोषणा ही रामचरितमानस की भूमिका बन गई है। हिंसा-अहिंसा सम्बन्धी यह द्वन्द्व राम के व्यक्तित्व में ही समाधान पाता है और कवि स्पष्ट रूप से कहता है : राम अतर्क्य बुद्धि मन बानी ।। (बाल० १२१) वह राम-जन्म के कारणों का वर्णन करता हुआ अन्त में धर्म के अवरोध और अधर्म के आतंक को ही मूल कारण बतलाता है :

जब जब होय धरम की हानी । बाढ़हिं असुर अधम अभिमानी ।।
एहि अनीति जाइ नहिं बरनी । सीदहिं विप्र धेनु सुर धरनी ।।
तब तब प्रभु धरि बिबिध सरीरा । हरहिं कृपानिधि सज्जन पीरा ।।
असुर मारि थापहिं सुरन्ह राखहिं निज श्रुति सेतु ।
जग बिस्तरहिं बिसद जस राम जन्म कर हेतु ।।—(बाल० १२१)

इस भूमिका पर वैष्णव धर्म को हिंसा का समर्थक नहीं कह सकते; क्योंकि यह हिंसा-अहिंसा के पोषक और संरक्षक तत्वों के संवर्द्धन के लिए ही है और हिंसा के शमन के लिए ही सात्विकी हिंसा के रूप में राक्षस-बध की कल्पना की गई है यह हिंसा व्यक्ति द्वारा नहीं, स्वयं भगवान द्वारा संचालित होती है। परम कारुणीक राम अपनी भक्तवत्सलता और करुणा से द्रवित होकर ही भक्तों और सद्वृत्तियों के परि-त्राण के लिए हिंसा का आश्रय लेते हैं। जीवन की चिन्मयता और पावनता के संरक्षण के लिए की गई हिंसा धर्म का अनिवार्य अंग है, ऐसा तुलसी मानते हैं; परन्तु इसमें श्रेष्ठतम नैतिक और मानवीय मूल्यों का बहिष्कार और अस्वीकार कहीं भी नहीं है। रामचरितमानस के स्वरूप की स्थापना करते हुए तुलसी रामभक्ति को प्राथमिकता देते हैं और पश्चात् राम के चरित्र को। इसके बाद राम-रावण युद्ध के रूप में वे काव्य और रस की महाधारा की कल्पना करते हैं और अन्त में इन तीनों धाराओं का पर्यवसान राम के स्वरूप में करते हैं। यही उनके रामचरितमानस की योजना है। उन्होंने इसे यों रखा है :

राम भगति सुरसरितहि जाई । मिली सुकीरति सरजु सुहाई ।।
सानुज राम समर जसु पावन । मिलेउ महानदु सोन सुहावन ।।
जुग बिच भगति देवधुनि धारा । सोहति सहित सुबिरति बिचारा ।।
त्रिबिध ताप त्रासक तिमुहानी । राम सरूप सिंधु समुहानी ।।
—(बाल० ४०)

इस स्थल पर "राम समय" को "जस पावन" कह कर तुलसी धर्मयुद्ध की सार्थकता का ही उद्घोष करते हैं। इस भूमिका पर वैष्णव धर्म की अहिंसा अकर्मण्यता अथवा अवसाद जन्य कातरता नहीं रह जाती। वह आंतरिक शक्ति से ओत-प्रोत अधर्म के प्रति खड्गबद्धता बन जाती है। धर्म के इस व्यापक और सूक्ष्म स्वरूप में हिंसा-अहिंसा द्वन्द्व का समाधान स्वतः हो जाता है।

सातवीं बात यह है कि अध्यात्म-साधना सीमा से आगे बढ़ कर असीम को अपने भीतर आत्ममात कर लेती है। "सुखावती","ब्रह्मनिर्वाण" और"परिनिव्वाण,'

(परम सुखम्) अथवा "महासुह" के रूप में जिस तादात्म्यता की कल्पना प्राचीनों ने की थी, उसी को तुलसी ने अपनी जीवन-साधना बनाया है। परन्तु यह साधना व्यक्तिगत चेतना मात्र नहीं है, वह समष्टिगत जीवन-चेतना भी है। तुलसी के समस्त काव्य में इसी की स्फूर्त्ति व्याप्त है। वह अपने ही जीवन को राममय बनाकर साधना अथवा भक्तिधर्म की इतिश्री नहीं समझते। उन्होंने सभी को राममय बनाना चाहा है। उनका कवि-कर्म इसी अथक प्रयास का प्रमाण है।

संक्षेप में कहा जा सकता है कि तुलसी की साँस्कृतिक चेतना भारतीय अध्यात्म-चेतना का ही दूसरा नाम है। उन्होंने संस्कृति को अध्यात्म का पर्याय माना है क्योंकि वही मानव के आचार-विचार और व्यवहार का मूलाधार है। उसी से चरित्र, नैतिकता, जीवन-दृष्टि तथा प्रकृति-दर्शन का तार जुड़ता है। उन्हें अलग-अलग न देख कर तुलसी मूल में देखते हैं। फलतः अध्यात्म का जितना और जैसा प्रसार हमें तुलसीमें मिलता है, वैसा अन्यत्र असम्भव है। रामकथा उनके लिए साधन-मात्र है, उदाहरण मात्र है क्योंकि उसमें उनकी "राम"भावना पूर्णतः चरितार्थ होती है। वह ऐतिहासिक या पौराणिक सत्य न होकर भाव-सत्य है क्योंकि उसमें राम का नाम ही नहीं, उनका कर्त्तव्य भी है। यह कर्त्तव्य बाल्मीकि और कालीदास में चारित्रिक भूमि पर प्रतिष्ठित है क्योंकि उनके राम मानव के श्रेष्ठतम आदर्श हैं, नरश्रेष्ठ हैं; परन्तु तुलसी के लिए रामकथा देवकथा (इष्टदेव कथा) है और उसमें उन्होंने अखण्डता तथा अनन्तता की व्याप्ति देखी है। "हरि अनंत हरि कथा अनंता" कह कर उन्होंने रामकथा में थोड़ी मौलिकता की गुंजाइश कर दी है और यह मौलिकता राम को विष्णुत्व (अवतार) से ऊपर उठा कर ब्रह्मत्व (परात्पर) तक ले जाती है। इस प्रकार तुलसी में परम्परागत रामकथा का पर्यवसान रामत्व (ब्रह्मत्व अथवा ब्रह्म-भावना) में होता है और अंतर्यामिन् होने के नाते उनके राम उनकी भाव-साधना (भक्ति) के आलम्बन भी बने रहते हैं। फलतः राम में निर्गुण और सगुण का समाधान हो जाता है और वह एक साथ ज्ञान (विज्ञान अथवा साक्षात्कार) और भक्ति (व्यक्तिगत भावसाधना) के केन्द्र बन जाते हैं। ज्ञानमार्गी दृष्टिकोण निर्वैयक्तिक दृष्टिकोण है और भक्तिमार्गी दृष्टिकोण वैयक्तिक; परन्तु दोनों के लक्ष्य एक ही "राम" हैं, दोनों चैतन्य की अनुभूति के दो स्वरूप हैं। निर्गुण राम में चैतन्य का ऐसा बोध है जो समरस, तटस्थ, मूलभूत तथा अनाकांक्षी है। सगुण राम में यही चैतन्य तरल, आत्मद्रवित, कारुणिक, व्यक्तिगत तथा प्रतीकात्मक बन कर सामेनस आता है। एक में अहंकार, मन, बुद्धि का प्रकाश है तो दूसरे में समर्पित हृदय का आनन्द मूर्त्तिमान है। कर्म की भूमि इन दोनों भूमियों को जोड़ती है क्योंकि उसमें विवेक और प्रेम (करुणा) दोनों का प्रसार है। श्रद्धा, मैत्री तथा करुणा में ही मनुष्य के कर्म की ज्योति जाग्रत होती है। तीनों के मूल में अहिंसा-धर्म है जो मूलतः चैतन्य का धर्म है। इसी चैतन्य का तुलसी ने राम तथा रामत्व में साक्षात्कार किया है।

रामचरितमानस के उत्तरकाण्ड (दो ८६-६०) के अंत में तुलसी ने अपने भक्तिवाद की रूपरेखा अत्यंत सुन्दर रूप में प्रस्तुत की है। भक्ति रामकथा से प्राप्त होती है, यह तुलसी का समर्पण-भाव है :

रामकृपा बिनु सुनु खगराई। जानि न जाइ राम-प्रभुताई ।।
जानें बिनु न होइ परतीती। बिनु परतीति होइ नहिं प्रीती ।।
प्रीति बिना नहिं भगति दिढ़ाई। जिमि खगपति जल कै चिकनाई ।। (८६)

दूसरी अनिवार्यता है गुरुकृपा :

बिनु गुरु होइ कि ग्यान......(८६ क)

तीसरी अनिवार्यता है सहज संतोषपूर्ण नैतिक जीवन :

कोउ बिश्राम कि पाव तात सहज संतोष बिनु।
चलै कि जल बिनु नाव कोटि जतन पचि पचि मरइ ।।८६ ख।।
बिनु संतोष न काम नसाहीं। काम अछत सुख सपनेहुं नाहीं ।।
राम भजन बिनु मिटहिं कि कामा। थल बिहीन तरु कबहुं कि जामा ।।
बिनु बिग्यान कि समता आवइ। कोउ अवकास कि नभ बिनु पावइ ।।
श्रद्धा बिना धर्म नहिं होई। बिनु महि गंध कि पावइ कोई ।।
बिनु तप तेज कि कर बिस्तारा। जल बिनु रस कि होइ संसारा ।।
सील कि मिल बिनु बुध सेवकाई। जिमि बिनु तेज न रूप गोसांई ।।
निज सुख बिनु मन होइ कि धीरा। परस कि होइ बिहीन समीरा ।।
कवनिउ सिद्धि कि बिनु बिस्वासा। बिनु हरि भजन न भव भय नासा ।।
बिनु बिस्वास भगति नहिं तेहि बिनु द्रवहिं न रामु।
राम कृपा बिनु सपनेहुं जीव न लह बिश्रामु ।।६० क।।

इस प्रकार तुलसी अपने रामाश्रित जीवन की तीन भित्तियां देते हैं :-हरिकृपा, गुरुकृपा और नैतिक जीवन। विजय-रथ-रूपक में इस नैतिक जीवन की ऐसी झांकी प्रस्तुत की गई है जो एक ही साथ वहिर्जीवन और अंतर्जीवन पर लागू है। हरिकृपा और गुरुकृपा अन्योन्याश्रित है और साधक का उन पर कोई अधिकार नहीं; परन्तु नैतिक जीवन उसका अपना कर्तृत्व है। तुलसी-संस्कृति के मूल में यही नैतिक जीवन है जो शौर्य, धैर्य, सत्य, शील, विवेक, दम, परहित (परोपकार), क्षमा, कृपा, समता, ईशाराधना, विरती, सन्तोष, दान, बुद्धि, विज्ञान, मानसिक निर्मलता अचलता, संयम-नियम, विप्र-गुरु-भक्ति पर आधारित है। स्मृति-ग्रंथों और गीतोक्त स्थितप्रज्ञ, ज्ञानी, कर्म-संन्यासी और भक्त के व्यक्तित्व में ये नैतिक तत्व समान रूप से ओतप्रोत रहते हैं। वस्तुतः यही तत्व मानव-संस्कृति के मूलाधार हैं। शताब्दियों के विकास में मनुष्य ने इनका अर्जन किया है। अपने प्राणविक जीवन में मनुष्य ने जिन संस्कारों का चयन किया, वे उत्तरोत्तर परिष्कृत होते गये और अंत में वही मनुष्य के नैतिक और अध्यात्मिक जीवन के मूलाधार बने। इन तत्वों ने मनुष्य के विकास-सरणि को रूपांतरित कर दिया। वह प्राकृतिक न रह कर चेतनाप्राण बन गया।

मनुष्य स्वयं अपना भाग्यविधाता बना। वह प्रकृति के अनगढ़ हाथों का खिलौना नहीं रह गया। तुलसी-संस्कृति यही उदात्त मानव-संस्कृति है जो प्रकृति पर चैतन्य को मूलाधार बना कर मानव को देवत्व की भूमि पर ऋग्वेद की ऋचाओं में हमें आदि मानव की सुख-समृद्धि की अकांक्षा मिलती है; परन्तु धीरे-धीरे चरम सत्ता "ईश्वर" ही मनुष्य की आकांक्षा का लक्ष्य बन गई है। रहस्य-धर्मी मर्मी संतों की यही पुकार है। साक्षात्कार के लिए तीव्र आग्रह मानव की सर्वोच्च भाव-साधना कही जा सकती है। इसी ने कालांतर में मोक्ष या निर्वाण के प्रति अकांक्षा का रूप धारण किया है। मोक्ष या निर्वाण का तात्पर्य है उन सब प्रपंचों से मुक्ति जो ईश्वर-साक्षात्कार में बाधक हैं और अंततः स्वेच्छा का ईश्वरेच्छा में ही पर्यवसान है। इस आत्मसमर्पणको ही भक्ति कहा गया है जिसे मध्ययुगीन संतों ने पंचम पुरुषार्थ के रूप में स्थापित किया है। भक्त इस संसार में "रामराज्य" की स्थापना चाहता है और अपने भीतर इस रामराज्य का अनुभव परिपूर्ण आत्मसमर्पण के रूप में करता है। नामस्मरण इसी विनयमूलक भक्तिभाव का चरमोत्कर्ष है। तुलसी ने तो नाम को "राम" से भी बड़ा बतलाया है और उसे रामचरितमानस की भूमिका के रूप में रखा है। उनका मत है :

समुझत सरिस नाम अरु नामी। प्रीति परसपर प्रभु अनुगामी ॥
नाम रूप दुइ ईस उपाधी। अकथ अनादि सुसामुझि साधी ॥
को बड़ छोट कहत अपराधू। सुनि गुन भेदु समुझिहहिं साधू ॥
देखिअहिं रूप नाम आधीना। रूप ग्यान नहिं नाम बिहीना ॥
रूप बिसेष नाम बिनु जानें। करतल गत न परहिं पहचानें ॥
सुमिरिअ नाम रूप बिनु देखें। आवत हृदयं सनेह बिसेषें ॥
नाम रूप अति अकथ कहानी। समुझत सुखद न परत बखानी ॥
अगुन सगुन बिच नाम सुसाखी। उभय प्रबोधक चतुर दुभाषी ॥

—(बाल०, २१)

नाम की उपयोगिता रूप को विशेषत्व में बांधने और उसे महार्घ बनाने में है। इसीलिए सगुणोपासना में नाम अत्यन्त उपयोगी वस्तु है; परन्तु निर्गुण ब्रह्म (ब्रह्म राम) से भी नाम को बड़ा बलवान बतलाया गया है क्योंकि नाम का अर्थ है मूल्य और नामस्मरण से अनायास ही नये मूल्य की सृष्टि हो जाती है। प्रश्न अंततः यह है कि हमारे मूल्य चिन्मय हैं या जड़मय। नाम देकर हम परोक्ष में पदार्थ को सार्थकता देते हैं और उस पर गुणों अथवा विशेषताओं का आरोप करते हैं। उससे ही हमारे भावबोध को स्थायीत्व की प्राप्ति होती है। तुलसी के अनुसार ब्रह्म का ब्रह्मत्व रत्नच्छाया की भाँति स्वंप्रकाश है :

ब्यापक एकु ब्रह्म अबिनासी। सत चेतन घन आनन्द रासी ॥
अस प्रभु हृदयं अछत अबिकारी। सकल जीव जग दीन दुखारी ॥

काम निरूपन नाम जतन सें। सोउ प्रगटत जिमि मोल रतन तें ।।

—(वही २, घ)

इस तर्क-शृंखला पर चलते हुए तुलसी चिन्मयत्व के निराकार और साकार दोनों रूपों के भीतर भाव-साधना अथवा चिन्मयत्व की प्रतीति को महत्वपूर्ण रूप से प्रतिष्ठित करते हैं। यह गम्भीर भावबोध ही तुलसी के व्यक्तित्व और उनकी साधना की देन है। उठाती है और उसके हाथ में विकास के नये सूत्र देती है। यह श्रेय की बात है कि उपनिषद्काल में ही भारतवर्ष ने मनुष्य की स्वतन्त्र-चेतना और मूलभूत आध्यात्मिकता की घोषणा कर दी थी। वैदिक ऋत् की कल्पना सत्य में बदल गई और करुणा-भक्ति का स्थान ब्रह्म-चेतना ने ले लिया। इसके पश्चात् सत्य को धर्म के रूप में मूर्त्तिमान कर उसके लक्षणों का आविष्कार हुआ। धर्म के इन लक्षणों ने ही मानव संस्कृति की नींव डाली। तुलसी के राम धर्म के ही मूर्त्त रूप हैं। इस प्रकार तुलसी की धर्मचेतना वैदिक काल से मध्ययुग तक के सम्पूर्ण अध्यात्म को अपने भीतर आत्मसात कर लेती है। उसने अपने युग की भौतिकवादी ईरानी भोगलिप्सा को भी चुनौती दी जो देह के पोषण पर गर्व कर सकती थी और भारतीय जीवन को तात्कालिकता से ऊपर उठा कर शाश्वत मूल्यों पर आधारित करती थी। यही नहीं, उसमें भविष्यत् संस्कृति के व्यापक तत्व समाहित थे। आज भी तुलसी का सपना सम्पूर्णतः सार्थक नहीं हुआ है क्योंकि तुलसी-संस्कृति मानव मात्र की गतिमान साँस्कृतिक चेतना है और उसमें नये-नये ज्ञान-विज्ञानों के साथ श्रेष्ठतम अध्यात्म को आत्मनिष्ठ करने की क्षमता है। वह जड़ को चेतन की ओर से देखती है। उसमें सत्यं, शिवं, सुन्दरम् अलग-अलग न रह कर अद्वैतम् में प्रतिष्ठित हो जाते हैं और इस अद्वैतम् चैतन्यम् के प्रति प्रणति ही "परम विश्रामु" का सर्जक बन जाती है। इसी प्रणति में तुलसी ने परम आनन्द की कल्पना की है। इस प्रणति में तटस्थता है, अपने व्यक्तित्व का बचाव है, साक्षात्कार का आनन्द है, मर्यादा और संयम है। उसमें वह निर्बाध आत्मदान और आत्मोल्लास नहीं है जो सूरदास और मीरा की भाव-साधना में है; परन्तु इससे तुलसी का साक्षात्कार छोटा नहीं हो जाता। सूरदास के काव्य में आनन्दम् की अभिव्यक्ति है तो तुलसी के काव्य में अद्वैतम् की। सूर की आनन्द-भूमि भी अद्वैतमूलक और साक्षात्कारजन्य है और तुलसी की अद्वैतानुभूति में भी आनन्द के स्रोत खुले हैं। दोनों की भावभूमि और साधना में प्रकृतिभेद हो सकता है; परन्तु दोनों एक ही धरातल की अनुभूतियाँ हैं। यह स्पष्ट है कि तुलसी की भावभूमि सर्वसुगम, नैतिक और मर्यादित होने के कारण व्यक्तिमात्र के लिए संग्राह्य है। सूरदास की आनन्द-भूमि तब बिरले ही पहुंचेंगे। महान युगद्रष्टा की भाँति तुलसी ने विशिष्टों और अपवादों के लिए नहीं, सार्वभौमिक मानवता के लिए मूलतः आध्यात्मिक संस्कृति की योजना की है। उन्होंने मानव-मन के गहन गर्त्त में हुंकृत महाभय से त्राण देने के लिए धनुर्धर राम के रूप में जिस कर्मठ चैतन्य की उद्भावना की है वह काल को भी जीतने में समर्थ है क्योंकि काल राम का कोदण्ड मात्र है।

पौराणिक (ऐतिहासिक), और चारित्रिक भूमियों के साथ आध्यात्मिक भूमि को लेकर चलने के कारण तुलसी की रामकथा मानव-चैतन्य के तीन स्तरों पर एक साथ चलने वाली जीवंत प्रेरणा बन गई है। उसकी सांस्कृतिक चेतना में वह सब सिमटि आता है जो व्यास, बाल्मीकि और कालिदास में शेष रह गया या एकांगी रूप में प्रकाशवान है।

: १८ :

तुलसी-दर्शन

तुलसी-दर्शन के सम्बन्ध में गवेषणात्मक अध्ययन की एक परम्परा हिन्दी-साहित्य-जगत में दीर्घ काल से मिलती है और उनके साहित्य में अद्वैत, विशिष्टाद्वैत अथवा अन्य दार्शनिक प्रणालियों की खोज की गई है। कठिनाई यह है कि अध्येता और आलोचक दर्शन-परम्पराओं और साम्प्रदायिक मान्यताओं से आरम्भ करते हैं और दर्शन-विशेष को तुलसी पर आरोपित करना चाहते हैं। इसमें सन्देह नहीं कि श्रीहर्ष के "खण्डनखाद्य" के समय से लेकर १६वीं शताब्दी के अंत तक काशी अद्वैत के विभिन्न सम्प्रदायों का अखाड़ा बनी थी और पदा-विपक्ष को लेकर शास्त्रार्थ तथा वाद-विवाद की लम्बी परम्परा प्रतिष्ठित थी। तुलसी के लिए इस शास्त्रीय वातावरण से रस ग्रहण करना उपयुक्त ही था और वे इससे अछूते नहीं रह सकते थे। परन्तु स्वयं उनके ग्रन्थों की दार्शनिक स्थिति क्या है, यह फिर भी विचारणीय रह जाता है। इस रहस्य को खोलने की कुञ्जी तुलसी का अध्ययन अथवा दार्शनिक ज्ञान है, या भक्ति-विह्वल व्यक्तित्व, या उदार समन्वय-भाव—ये कुछ प्रश्न महत्वपूर्ण हो जाते हैं। केवल शास्त्रीय सूत्रों के आधार पर हम इस विषय पर कोई निर्णय नहीं दे सकते। देंगे भी तो वे अधूरे रहेंगे क्योंकि स्पष्ट ही तुलसी-दर्शन कर्त्ता अथवा विचारक नहीं हैं। वे साधक, भक्त और कलाकार हैं एवं उनकी शास्त्रीय उपलब्धियां उनकी प्रेरणा-शक्तियां नहीं बन पाई हैं।

समन्वयवादी कहते हैं कि तुलसी ने उदारतापूर्वक अद्वैत और विशिष्टाद्वैत की विरोधी दर्शनधाराओं में समझौता करना चाहा है और इसीलिए उन्होंने अपने रामचरितमानस के प्रवक्ताओं को ज्ञानी और भक्त की दो कोटियों में रखा है। ज्ञानी प्रवक्ता विशुद्ध अद्वैतवाद की भूमिका पर बोलते हैं तो भक्त प्रवक्ता विशिष्टाद्वैतवाद की भूमिका पर से। इस प्रकार "मानस" में दर्शन की दो भूमिकाओं का समन्वय हो जाता है। एक प्रकार से यह तुलसी के द्वैध व्यक्तित्व का समाधान भी कहा जा सकता है। ज्ञानी तुलसी अद्वैतवादी हैं तो भक्त तुलसी विशिष्टाद्वैतवादी। ज्ञान वहिरंगी विभिन्ताओं का समाधान चाहता है तो भक्ति अंतरंगी जीवन की पुष्टि के लिए सौन्दर्य, शील और शौर्य की प्रतिमा गढ़ लेती है और गुणों के भीतर से भाव-पुष्टि की अपेक्षा रखती है। ज्ञान में एकता (अद्वैत) का तेज है तो भक्ति में कारुण्य का तारल्य। दोनों पूरक होकर ही अपने को सार्थक कर सकते हैं। इस

प्रकार तुलसी का समाधान दार्शनिक समाधान मात्र न होकर व्यक्तिगत जीवन अथवा कवि के हृदय और मस्तिष्क का समझौता भी बन जाता है। यह भी कहा जाता है कि विशिष्टाद्वैती (रामानन्दी) तुलसी अद्वैतवादी अध्यात्म रामायण को आधार बनाने के कारण यह सम्भ्रम उपस्थित कर देते है; परन्तु तुलसी जैसे जागरूक कवि के लिए यह असम्भव नहीं था कि वे अद्वैतवादी स्थलों को बचा जाते या उन्हें अपनी इच्छानुसार नया मोड़ देते । अतः केवल अध्यात्म रामायण के सहारे हम इस समस्या का समाधान उपस्थित नहीं कर सकते।

अद्वैतवादी सृष्टि को प्रपंचात्मक (अतः माया, अवास्तव) मानते हैं, उसे ब्रह्म की सत्ता नहीं देते। तुलसी भी कहते हैं :

मैं तोहि अब जान्यों, संसार।
बांधि न सकहि मोहि हरि के बल प्रगट कपट आगार ।।
देखत ही कमनीय, कछू नाहिन पुनि किए विचार।
ज्यों कदली-तरु मध्य निहारत कबहुं न निकसत सार ।।

—(विनय० १८२)

संसार असत्य हो सकता है; परन्तु इस असत्यता का भ्रम तो सत्य है ही। सृष्टि को नकारात्मक कह कर हम उसकी सत्ता को टाल नहीं सकते क्योंकि हमारे इन्द्रिय-बोध में तो सत्य है ही। वह "रमणीय" है, अविचार में ही सही। अतः केवल वाक्यज्ञान से समस्या का समाधान नहीं होता। उसके लिए सम्यक् विचार की ही आवश्यकता नहीं है, सम्यक् दर्शन (प्रत्यक्षानुभूति) की भी आवश्यकता है। इसीलिए तुलसी का मत है :

हे हरि, यह भ्रम की अधिकाई।
देखत सुनत कहत समुझत संसय सदेह न जाई ।।
जो मृग मृषा, तापत्रय-अनुभव होहिं कहहु केहि लेखे।
कहि न जाइ मृगबारि सत्य, भ्रम तें दुख होइ बिसेखे।।
सुभग सेज सोवत सपने बारिधि बूड़त भय लागै।
कोटिहुं नाव न पार पाव कोउ जब लगि आपु न जागै ।।
अनबिचार रमनीय सदा, संसार भयंकर भारी।
सम संतोष दया बिबेक तें व्यवहारी सुखकारी ।।
तुलसिदास सब बिधिप्रपंच जग जदपि झूठ सुति गावै।
रघुपति-भगति संत-संगति बिनु को भव त्रास नसावै ।।

—(विनय० १२१)

जगन्मिथ्या का उद्घोष मात्र वाक्यज्ञान होने के कारण असार्थक है। उसकी आन्तरिक अनुभूति "रघुपति-भगति" (भक्ति) और "संत-संगति" (सत्संगति) के द्वारा ही सम्भव है। इसीलिए :

तुलसिदास जग आपु सहित जब लगि निर्मूल न जाई।
तब लगि कोटि कलप उपाय करि मरिय, तरिय नहिं, भाई ।।

—(विनय० १२२)

अन्ततः प्रश्न मनःबोध का है। विकाररहित मन के लिए यह सृष्टि प्रपंच न होकर "चिद्विलास" बन जाती है। द्वैत-बुद्धि विकारग्रस्त बुद्धि है। अखण्डता और चिन्मयता को प्रत्यक्ष करने पर उसका नाश हो जाता है। इसी भूमि पर दर्शन के विभिन्न "वाद", समाधान प्राप्त करते हैं। इस प्रकार तुलसी का विशिष्टाद्वैती दृष्टिकोण व्यावहारिक अद्वैत भी कहा जा सकता है। चिन्मयता की सरलता से प्रक्षालित मानस सहज ही अपने भीतर के एकात्म को पहचान लेता है और अंत में उसे जगत की चिद्विलासिता की अनुभुति होती है :

जो निज मन परिहरै बिकारा।
तौ कत द्वैत-जनित संसृति-दुख, संसय, सोक अपारा ।।
सत्रु मित्र मध्यस्थ तीनि ये मन कीन्हें बरियाई।
त्यागब गहब उपेच्छनीय अहि हाटक तृन की नाई ।।
असन, बसन, बसु, बस्तु बिबिध बिधि सब मनि महं रह जैसे।
सरग, नरक, चर, अचर लोक बहु बसत मध्य मन तैसे ।।
बिटप मध्य पुत्रिका, सूत्र महं कंचुक बिनहिं बनाए।
मन महं तथा लीन नाना तनु, प्रगटत अवसर पाए ।।
रघुपति-भगति-बारि-छालित चित बिनु प्रयास ही सूझै।
तुलसिदास कह चिद्रविलास जग बूझत बूझत बूझै ।।

— (विनय० १२४)

इस प्रकार मूल में पहुंच कर अद्वैत विशिष्टाद्वैत बन जाता है, अवास्तव और वास्तव में भेद नहीं रहता। उपनिषदों ने नकारात्मक और स्वीकारात्मक दोनों शब्दावलियों में ब्रह्म को समझाने की चेष्टा की है और तुलसी भी एक साँस में दोनों भूमियों पर दौड़ जाते हैं। जहां राम के सगुण रूप का यह ध्यान है :

सर्वसौभाग्यप्रद, सर्वतोभद्रनिधि, सर्व सर्वेस सर्वाभिरामं।
शर्व-हृदि-कंज-मकरंदमधुकर रुचिर भूपालमनि नौमि रामं ।।
सर्व सुखधाम गुनग्राम विश्रामपद नाम सर्वास्पद मति पुनीतं।
निर्मलं सांत सुबिसुद्ध बोधायतन क्रोध-मद-हरन करुनानिकेतं ।।

आदि (विनय० ५३)

वहां दूसरी ओर इन्हीं राम के सम्बन्ध में तुलसी की यह निर्गुण भावना भी है :

नित्य निर्मोह निर्गुन निरंजन निजानंद निर्वाण निर्वाणदाता।
निरानंद निःकंप निःसीम मुक्त निरुपाधि निर्मम विधाता ।।

आदि (विनय० ५६)

सच तो यह है कि निर्गुण-सगुण ब्रह्म एक ही सिक्के के दो पहलू हैं और उनके लिए हमारी शब्दावली का उपयोग वाक्यज्ञान मात्र है। भक्त की अनुभूति में यह भेद समाप्त हो जाता है और वह सिक्के के दो विभन्न पहलुओं को न देख कर उसके मूल्य को देखता है। यह मूल्य भक्त के लिए ब्रह्म की सार्थकता है। यही तात्विक दृष्टि तुलसी-दर्शन है जो तुलसी की विशिष्टता है, शेष पारिभाषिक अनिवार्यता मात्र है।

इस साक्षात्कारात्मक तात्विक दृष्टि के कारण ही तुलसी वादीय स्थापनाओं को भ्रम मानते हैं और आत्मज्ञान के लिए उन्हें बाधक समझते हैं। इसे हम अनिर्वचनीयवाद भी नहीं कह सकते यद्यपि तुलसी ने इसे रहस्यदृष्टि के रूप में प्रस्तुत किया है। वे कहते हैं :

केशव, कहि न जाइ का कहिए ?
देखत तव रचना विचित्र अति समुझि मनहिं मन रहिए ॥
सून्य भीति पर चित्र, रंग नहिं, तनु बिनु लिखा तितेरे।
धोए मिटै न, मरै भीति-दुख, पाइय यहि तनु हेरे ॥
रविकर-नीर बसै अति दारुन मकररूप तेहि माहीं।
बदनहीन सो ग्रसै चराचर पान करन जे जाहीं ॥
कोउ कह सत्य, झूठ कह कोऊ, जुगल प्रबल करि मानै।
तुलसिदास परिहरै तोनि भ्रम सो आपन पहिचानै ॥

—(विनय० १११)

इस पद से यह स्पष्ट है कि तुलसी प्रपंच को मायात्मक मानकर भी उसकी भावात्मक सत्ता पर आस्था रखते हैं। यह संसार शून्य भीति पर लिखे चित्र के समान है; परन्तु उसके द्वारा उत्पन्न भय तो सच्चा है। तात्विक दृष्टि से अवास्तव होते हुए भी आत्मिक दृष्टि से उसकी स्थिति से इंकार नहीं किया जा सकता। तब यह कहा जा सकता है कि वह एक साथ है भी और नहीं भी है; परन्तु तुलसी चरम सत्ता को अस्ति-नास्ति से परे आत्मतत्व के रूप में मानते हैं और इस प्रकार "है", "नहीं है", और "है-नहीं" को भ्रम मान कर तीनों स्थितियों में दृष्टिदोष देखते हैं। आत्मज्ञान होने पर, साक्षात्कर की स्थिति में, वाक्यज्ञान की असार्थकता की ओर इंगित करना ही तुलसी का उद्देश्य जान पड़ता है। यह अनुभव अपूर्व है, अतः अलौकिक और अनिर्वचनीय है। परन्तु अनिर्वचनीय रस-रूप में ही इस अनुभव की तीव्रता और उसके तेज से चमत्कृत होकर साधक इस वैचित्र्य के मधु का भीतर-ही-भीतर पान करने लगता है। इसे ही अन्य स्थान पर उन्होंने जगत की चिद्विलासी स्थिति कहा है। लीला के माध्यम से ही "पूर्णस्य पूर्ण" की जड़ में अवस्थिति सिद्ध की जा सकती है। यह सिद्ध-दृष्टि जड़ में नश्वर जड़ अथवा शून्य न देखकर उसमें शाश्वत चैतन्य का दर्शन करती है। फलतः जो है, वह मान्य-अमान्य की सीमाओं से बाहर निकल कर चिदात्म बन कर सार्थक हो जाता है।

प्रकृति की जो स्थिति है उससे कम गम्भीर आत्मा-परमात्मा या जीव-ब्रह्म की समस्या नहीं है; परन्तु अपने समझौतावाद के बल पर तुलसी इस विषम स्थिति से तर जाते हैं। अन्त में भक्त और भगवन्त का नाता ही एकमात्र नाता रह जाता है। विनयपत्रिका में आद्यंत इसी सम्बन्ध का निर्वाह है; परन्तु रामचरितमानस में भी भरत और हनुमान जैसे पात्रों में तुलसी परोक्ष रूप से उपस्थित हैं और उनके भक्त-हृदय का स्पन्दन स्पष्ट रूप से सुनाई पड़ता है। यहां जाकर तुलसी का जीवन-दर्शन भक्ति-दर्शन बन जाता है और ब्रह्म राम दाशरथि राम के रूप में सगुणात्मक चित्सत्ता के प्रतीक बन जाते हैं। द्वैत-बाधा का समाधान भक्ति के द्वारा ही हो सकता है और इसके फलस्वरूप जिस चिन्मयी अखण्डता का बोध होता है वह द्वैत-वियोगी (भक्त) के द्वारा अनुभूत एकात्मता से भिन्न नहीं है। तुलसी के अपने शब्दों में :

रघुपति, भक्ति करत कठिनाई।
कहत सुगम, करनी अपार, जानै सोइ जेहि बनि आई॥
जो जेहि कला कुसल ता कहं सोइ सलभ सदा सुखकारी।
सफ़री सनमुख जलप्रवाह, सुरसरी बहै गज भारी॥
ज्यों सर्करा मिलै सिकता महं बल ते न कोउ बिलगावै।
अति रसज्ञ सूच्छम पिपीलिका बिनु प्रयास ही पावै॥
सकल दृश्य निज उदर मेलि सोवै निद्रा तजि जोगी।
सोइ हरिपद अनुभवै परम सुख अतिसह द्वैत-वियोगी॥
सोक, मोह, भय, हरष, दिवस, निसि, देसकाल तहिं नाहीं।
तुलसिदास यहि दसाहीन संसय निर्मूल न जाहीं॥

—(विनन० १६७)

परन्तु अंत में वे रामभजन को राजडगर मान कर, प्रतीति (श्रद्धा) का संबल लेकर चल खड़े होते हैं :

बहु मत सुनि बहु पंथ पुराननि जहां तहां झगरो सो।
गुरु कह्यो रामभजन नीको मोहि लागत राजडगरो सो॥
तुलसी बिनु परतीति प्रीति फिरि फिरि पचि मरे मरो सो।
रामनाम बोहित भवसागर, चाहै तरन तरो सो॥

—(विनय० १७३)

यह स्पष्ट है कि तुलसी-दर्शन साम्प्रदायिक दर्शन से भिन्न आत्मदर्शन है और उसे हम भक्ति-दर्शन के रूप में ही पल्लवित देखते हैं। पारम्परित दर्शन से उसने शब्दावली ग्रहण की है, अपना ठाठ बांधा है; परन्तु उसका लक्ष्य वाक्य ज्ञान नहीं, आत्मोपलब्धि है। उसमें एकांकी जीवन दृष्टि नहीं, परिपूर्ण जीवन-साधना है। हमारे यहां दर्शन साक्षात्कार का साधन है, उसकी अपनी स्वतन्त्र सत्ता नहीं है। तुलसी में ही हम भक्ति-दर्शन को साक्षात्कार के अंग के रूप में ही ग्रहण कर सकते

हैं। उसमें द्वैत की भूमि पर अद्वैत की साधना पल्लवित हुई है और द्वैत-वियोगी को अद्वैत योगी से कम नहीं समझा गया है।

सच तो यह है कि तुलसी का जीवन-दर्शन राम के देवत्व और रावण के राक्षसत्व में ही मूर्तिमान है; परन्तु उनके राम मानव के भीतर के देवत्व के प्रतीक हैं और उनका रावण मानव की आंतरिक दुर्बलताओं और बाहरी मजबूरियों का प्रतिनिधित्व करता है। राक्षसत्व की व्याख्या करते हुए मॉड बॉकिन (Maud Bokin : Archetypal pattern in Poetry) का कहना है : "If we attempt to define the devil in Psychological terms regarding him as an archetype, a persistant or recurrent mode of apprehension, we may say that the devil is our tendency to represent on personal form the forces within and without us that threaten our Supreme Value."

इसमें संदेह नहीं कि रामकथा में तुलसी ने देव-दानव-संगर का जो रूप देखा है वह अंतर्वहिर भूमियों पर उनकी आत्मानुभूति का ही प्रकाशन है। "विनयपत्रिका" के एक पद में (जिसे हमने अन्यत्र उद्धृत किया है) रावण राक्षसत्व का आंतरिक स्वरूप है जो तुलसी के श्रेष्ठतम जीवनमूल्यों को चुनौती देता है और हमें परिकर-बद्ध करता है; परन्तु रामचरितमानस में वह युगधर्म (कलियुग) के प्रति चुनौती का रूप धारण कर लेता है। स्वयं तुलसी के जीवन-मूल्य राम में मूर्त्तिमान हैं और उनके प्रति कवि का प्रणत भाव अपने श्रेष्ठतम जीवन मूल्यों के प्रति आकुलता का ही द्योतक है। अंततः वह जड़ का चिन्मय के प्रति और खण्ड का अखण्ड के प्रति निवेदन मात्र है। इस प्रकार राम का रामत्व तुलसी से भिन्न वस्तु न होकर उनका भीतरी बोध(या आत्मबोध) मात्र है। वह उनकी अपने व्यक्तित्व के प्रति ईमानदारी है। राक्षसत्व इस ईमानदारी को संकट में डालकर उन्हें विचलित कर देता है और उसको रामत्व द्वारा परास्त करा कर वे अपने प्रति आश्वस्त हो जाते हैं। इसीलिये अपनी रामकथा के अंत में वे स्पष्ट रूप से कहते हैं :

पायो परम विश्रामु राम समान जन कोऊ नहीं।

यह श्रेय की बात है कि एक ही राम के प्रतीक के द्वारा तुलसी अपने भीतर और बाहर की समस्याओं का समाधान कर सके हैं। उनके लिए रामत्व की साधना लोकसंग्रही चेतना मात्र न रह कर आत्मोपलब्धि का साधन भी बन गई है। इस अंतर्योजन ने उनके साहित्य की युगधर्मी भूमि पर ही आत्मधर्मी भी बना दिया है। फलत: उनका जीवनदर्शन परिपूर्ण जीवनचेतना से ओतप्रोत सम्यक् दर्शन के साथ अन्त:जीवन के स्रोतों को उन्मुक्त करने वाला ऋषि-दर्शन भी बन गया है। उसमें भविष्यत् पीढ़ियों की आकांक्षाएं भी परिबद्ध हो गई हैं क्योंकि मनुष्य अपने भीतर-बाहर पूर्णता की खोज निरन्तर करता रहेगा और विकास का प्रत्येक चरण उसकी पूर्णता की परिभाषा को अधिक सूक्ष्म,व्यापक और मूलभूत बना देगा निरन्तर वर्द्धमान

चैतन्य के केन्द्र में प्रतिष्ठित आध्यात्मिकचेतना ही मानव-जीवन का सार है, ऐसा मान कर तुलसी अपने राम के प्रति प्रणत होते हैं; क्योंकि उनके राम अनंत सम्भावनाओं से भी परे परात्पर के प्रतीक हैं और उनमें परिपूर्ण चैतन्य मूर्तिमान है। तुलसी का काव्य इस अर्थ में धार्मिक काव्य है कि वह हमें धर्ममय (राममय) जीवन जीने की प्रेरणा देता है और हमें रामत्व के प्रति क्रियाशील बनाता है; परन्तु विशुद्ध कवि-रूप में उनकी महानता यह है कि वे उस रामत्व के कल्पनात्मक भावबोध से भी हमें अनुप्राणित करने में समर्थ हैं। हम इस रामत्व को अपने जीवन में उतारें या न उतारें, रामकथा के भीतर से तुलसी उसका जो विशद, भावमय तथा अर्थप्रवण चित्र प्रस्तुत करते हैं, वह हमारे भावकोशों को पूर्णतः तुष्ट करता है और हमारे सौन्दर्यबोध को जाग्रत करने की अपूर्व क्षमता उसमें है। इसी क्षमता के कारण तुलसी अद्यावधि नूतन और सप्राण बने हैं और भविष्यत् युगों में भी इसी प्रकार नवीन और सक्षम बने रहेंगे।

: १५ :

निष्कर्ष

तुलसी और उनके साहित्य के मूल्यांकन के सम्बन्ध में हमारे समीक्षक अभी भी अन्तिम निर्णय पर नहीं पहुंच सके हैं। उन्हें क्रमशः भक्त, महाकवि, सुधारक, मानवतावादी कलाकार और युगदृष्टा कहा गया है; परन्तु अभी भी उनकी संभावनाएं समाप्त नहीं हु ई हैं। ऐसा जान पड़ता है कि तुलसी में बहुत कुछ समाविष्ट है और उनके शतकोणी व्यक्तित्व को किसी एक बिन्दु पर केन्द्रित करना अन्याय होगा। यह स्पष्ट है कि इनमें किसी एक दृष्टिकोण को दूसरे से अधिक महत्व देना आज एकांगी माना जाने लगा है; परन्तु उनके सामासिक व्यक्तित्व में कौन प्रवृत्ति कितने अनुपात में ग्रहीत हुई है इस विषय में भी हम अभी एकमत नहीं हैं।

परन्तु वास्तविक समस्या यह नहीं है। समस्या का विषय है तुलसी के संबंध में कुछ ऐसी धारणाएं या आरोप जो एकदम भ्रामक हैं। इनमें से पहली धारणा यह है कि तुलसी पलायनवादी कवि हैं, उन्होंने युग की समस्याओं से अपने को बचा लिया है तथा उनका भक्तिवाद पराजित हिन्दू भावनाओं का आलोड़न-विलोड़न मात्र है। उसकी सांस्कृतिक स्थिति से इंकार नहीं किया जाता; परन्तु वह पराजय और तज्जन्य अवसाद को ही प्रतिबिम्बित करता है। ऐसे समालोचक तुलसी की सेवक-सेव्यभावा भक्ति को निरीह मानव की आर्त्त पुकार मानते हैं। पराजयवाद और पलायनवाद का यह आरोप ऐतिहासिक परिस्थितियों पर एकदम लागू नहीं होता। इस्लामी आधिपत्य के बाद के पहले सौ वर्ष अवसाद और पराजय के वर्ष कहे जा सकते हैं; परन्तु रामानन्द (१२९९—१४१८) के उदय के साथ प्रतिरोधी सांस्कृतिक शक्तियों को बल मिलने लगा और पंदरहवीं-सोलहवीं शताब्दियां इस प्रतिरोध को सबसे तीव्र रूप में प्रस्तुत करती हैं। वास्तव में सोलहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध मे प्रतिरोध समन्वय की ओर अग्रसर होने लगता है और स्वयं प्रतिरोध के भीतर से नवजागरण की एक तीव्र लहर उठ खड़ी होती है। इस सांस्कृतिक प्रतिरोध और नवजागरण-मूलक चेतना का केन्द्र वैष्णव धर्मान्दोलन था, जिसके प्रवर्त्तक उत्तर भारत में नामदेव-रामानन्द थे और जो कबीर-नानक, वल्लभ, चैतन्य, सूर और मीरा के काव्य में अनेक कोमल-कठोर स्वरों में मुखरित हुआ था। वल्लभ और चैतन्य की अध्यात्म-चेतना और सांस्कृतिक निष्ठा को किसी भी प्रकार पलायन नही कहा जा सकता तो फिर तुलसी (१५३२—१६२३) के काव्य को पलायन कहना

कहां तक उचित है ? ऐतिहासिक उल्लेखों से यह पता चलता है कि अकबर के सिंहासनारूढ़ होते-होते उत्तर भारत को एक भयानक अकाल का सामना करना पड़ा और काशी के प्रसिद्ध पण्डित नारायण भट्ट के यज्ञ-सम्पादन से यह विपत्ति टली और इसके फलस्वरूप दिल्ली के मुगल-सम्राट् से विश्वनाथ मन्दिर के पुनरुद्धार की आज्ञा मिल गई। १५१८ ई० के आस-पास सिकंदर लोदी ने इस मन्दिर को खण्डित किया था और तब से यह इसी अवस्था में पड़ा था। ऐसी स्थिति में नवीन मंदिर का निर्माण और उसमें विश्वनाथ के ज्योतिर्लिंग की प्रतिष्ठा का कार्य क्रांतिकारी ही कहा जा सकता है, जिसने हिन्दू जनता के अवरुद्ध मन के उत्साह के अजस्र स्रोतों को अवश्य उन्मुक्त किया होगा। इस समस्त सफलता का श्रेय नारायण पण्डित को मिला, जो विष्णु के अवतार तक कहे गये। इसमें संदेह नहीं कि १५६५ ई० के बाद काशी का महानगर हिन्दू पुनरुत्थान का महान केन्द्र बन गया था और इस केन्द्रीय सांस्कृतिक नगरी में रह कर इस वातावरण से बचना तुलसी के लिये असम्भव था। काशी की धर्मचेतना उत्तर भारत की धर्मचेतना का प्रतिनिधित्व करती थी और इस नवीन समारम्भ में तुलसी के साहित्य और व्यक्तित्व ने निरन्तर योग दिया। "विनयपत्रिका" के स्तोत्र-शैली के पद वास्तव में संस्कृत स्तोत्रों का अनुकरण मात्र हैं और उनके पीछे इसी नवोत्साह की चेतना है, जो नारायण भट्ट और नरहरि विशारद जैसे महापंडितों के कृतित्व में पल्लवित है। यूरोपीय विद्या केन्द्रों में इन दोनों महापंडितों के लिए लिखी गई अनेक पाडुलिपियां सुरक्षित हैं, जिनकी पुष्पिकाओं से इनके अगाध पाण्डित्य और प्रभाव का पता चलता है। यह नरहरि विशारद क्या तुलसी के "नररूप हरि" पद में व्यंजित गुरु "नरहरि" (या नृसिंह) तो नहीं हैं, जिन्हें विनयपत्रिका के एक पद में "श्रीकरि गुरु" कह कर स्मरण किया गया है। जो हो, यह स्पष्ट है कि पन्द्रहवीं शताब्दी में ही काशी फिर एक बार पण्डितों, साधकों, सांस्कृतिक नेताओं की नगरी बन गई थी और तुलसी के साहित्य में इस केन्द्र का सम्पूर्ण प्रभाव परिलक्षित है। जिन तीन सौ से अधिक संस्कृत ग्रंथों की प्रतिध्वनियां हमें रामचरितमानस में मिलती हैं, वे काशी जैसे बड़े सांस्कृतिक केन्द्र से व्यक्तिगत पोथीखानों में ही उपलब्ध हो सकते थे। इस भूमिका को सामने रखें तो तुलसी का काव्य आत्मनिष्ठा का काव्य कहा जा सकता है, पलायन और पराजय की तुला पर उसे नहीं तौला जा सकता। सच तो यह है कि तुलसी की सर्वश्रेष्ठ रचना रामचरितमानस में केवल तुलसी ही अपनी पराजय से उबर कर आत्मविजय के सर्वोच्च शिखर पर नहीं पहुंचे हैं, उनके साथ समस्त मध्ययुगीन हिन्दू समाज का मानस तमस् से ज्योति की ओर पराजय से विजय की ओर बढ़ा है। इस रचना में उन्होंने नवमानव का स्वप्न देखा है और उसके निर्माण के साधनों को एकत्रित कर उन्हें एक महान योजना में परिवर्त्तित किया है। आत्मक्षरण के निचले धरातल से ऊपर उठ कर आत्मवरण के ज्योति-शिखर पर आरूढ़ होना चमत्कार से कम नहीं है ; परन्तु तुलसी की रचनाओं में

यह चमत्कार ही यथार्थ बन गया है। वास्तविक बात यह है कि हम तुलसी को हिन्दी का सर्वश्रेष्ठ सांस्कृतिक कवि कह सकते हैं और उनका काव्य मध्ययुग के नवजागरण का मेरुदण्ड है।

तुलसी के सम्बन्ध में एक प्रवाद यह भी है कि वे वैराग्य के कवि हैं और जगत की आकर्षक तथा विविध रूपरेखा नहीं उभरी है। इस वैराग्य को ईसाई संतों के वैराग्य के समान बतलाया गया है जो पश्चात्ताप, दैन्य, मलिदाश्रुता तथा तप से पूरित है। यदि तर्क यही है तो फिर सूर, मीरा, हितहरिवंश आदि सभी भक्त-संत वैराग्य के कवि हैं; परन्तु भक्तों का वैराग्य संसार के प्रति है, इष्ट के प्रति तो वे सम्पूर्णतः रागात्मक हैं। मध्ययुगीन भक्ति को पौराणिक वैधी भक्ति के विपरीत रागानुगा भक्ति कहा गया है। उसमें रागों का बहिष्कार नहीं किया गया है, उन्हें मात्र इष्ट के प्रति उन्मुख किया गया है। इस प्रक्रिया में दृश्यमान जगत भी इष्टमय बन कर कवि साधक की अनुरंजना का विषय बना है। राग-विराग अंतर्वृत्तियां हैं और एक प्रकार से सापेक्षिक हैं। किसी एक के प्रति विराग में दूसरे के प्रति राग की उत्कट व्यंजना हो सकती है। हमने तुलसी को पवित्रतावादी कहा है और मानव जीवन की ओर देखने की उनकी दृष्टि नैतिक, मर्यादित एवं संतुलित है। उसे 'क्लासिकल' दृष्टि कहा जा सकता है क्योंकि उसमें तटस्थता, प्रौढ़ता तथा संतुलन का पर्याप्त मात्रा में समावेश है। उसमें रंगों का खेल नहीं है, रूपों का ऐश्वर्य है। उन्होंने जगत को रासेश्वर की निकुंज-लीला मान लिया है और उनके भीतर का इंद्रियात्मक बोध अपने समस्त वैभव को लेकर अक्षुण्ण बना रह सका है। राममय जीवन की जो रूपरेखा तुलसी प्रस्तुत करना चाहते थे उसके भीतर प्रकृति, सौन्दर्य, पारिवारिक भावबोध और जीवन-व्यवहार का जितना राग-रंग और ऐश्वर्य आ सकता था उतना तुलसी ने स्वीकार किया है। यह उनकी सीमाएं हैं; परन्तु सीमाएं किसकी नहीं हैं? तुलसी के वैराग्य को हम उनके भीतर के अंतःस्रोतों के माध्यम से देखें तो वे निश्चय ही हमें उतने नीरस नहीं लगेंगे। वैसे उन्होंने स्वयं ही कहा है :—

कवित रसिक न राम पद नेहू। तिन्ह कर सुखद हासरस एहू ॥

—(बाल० ९)

क्या यह व्यंगोक्ति हम पर सिद्ध नहीं होती? मानव-जीवन के श्रेष्ठतम सांस्कृतिक और आध्यात्मिक मूल्यों से सम्पन्न बनाने का प्रण लेकर तुलसी काव्य-जगत में अवतीर्ण हुए और उनकी लोकमंगल-साधना आत्मसाधना का अनिवार्य अंग बन गई। उन्होंने उतना स्वीकार किया जितना "राम के नाते" स्वीकार किया जा सकता था।

एक प्रवाद तुलसी के कवित्व को लेकर भी चल पड़ा है। वह किस कोटि का कवित्व है? क्या उसे महाकाव्य कहा जा सकता है, अथवा वे व्यास, बाल्मीकि और कालिदास के समकक्ष कहां रखे जा सकते हैं? यह कहा जाता है कि व्यास का

महाभारत भारतीय संस्कृति का विश्वकोश है। वह जातीय या राष्ट्रीय महाकाव्य भी कहा जा सकता है। उसकी कोटि साहित्यिक महाकाव्य की कोटि से भिन्न है। कहा जाता है कि महाभारत परिपूर्ण मानवता का काव्य है जिसमें विराट् जीवन-स्थितियों और हलचल प्रधान उत्तेजनाओं के माध्यम से मनुष्य के नैतिक जीवन और धर्माधर्म के सूक्ष्म और व्यापक प्रश्नों पर विचार किया गया है। बाल्मीकि के आदि काव्य रामायण को भारतीय चारित्र्य अथवा दाम्पत्य जीवन का महाकाव्य महाकवि रवीन्द्रनाथ ने माना है। उसका क्षेत्र महाभारत के काव्यक्षेत्र के समान व्यापक नहीं है; परन्तु उसमें परिवारनिष्ठ और कर्त्तव्यपरायण मानव-जीवन का एक बड़ा अंश आ गया है। महाभारत की काव्यभूमि यथार्थ पर आधारित है तो रामायण की काव्य-भूमि आदर्श को पल्लवित करती है। कुछ विद्वान कालिदास को ही प्रतिनिधि महा-कवि मानते हैं और उन्हें बाल्मीकि से भी अधिक महत्वपूर्ण स्थान देते हैं। तुलसी को इन कवियों से छोटा ठहराया जाता है और कहा जाता है कि व्यास और बाल्मीकि दो विभिन्न भूमियों पर नैतिकता के कवि हैं तो कालिदास विशुद्ध सौन्दर्यचेतना और प्रेम (शृंगार) के कवि हैं जब कि तुलसी अध्यात्मचेतना को ही प्रतीकबद्ध करते हैं। परन्तु तुलसी में काव्य का ह्रास हुआ है और उनका महाकाव्य-जगत वैसी उदात्त भूमियों का निर्माण नहीं कर सका जैसी कालिदास के ग्रंथों में मिलती है। सच तो यह है कि तुलना की यह पद्धति ही गलत है; क्योंकि इसमें न कवि की प्रवृत्ति को छूट दी गई है, न उसके काव्य की प्रवृत्ति को। तुलसी का महाकाव्य सर्गबद्ध न होकर भी मानव के अंतर्जगत के सूक्ष्म व्यापारों को उद्घटित करता है और उसके गहन गह्वरों की छानबीन में लगता है। उसे हम पौराणिक महाकाव्य या भक्ति धर्मी-महाकाव्य कहें तो उचित होगा। उसका स्वरूप इतना निजी है कि किसी दूसरे रूप में उसकी कल्पना भी असंभव है। पुरातन परम्परा से रस-ग्रहण करने पर भी वह स्वयं नवीन परम्परा बन गया है। इस कोटि की रचना को दो चार प्रसंगों अथवा पंक्तियों की तुलना तक सीमित नहीं किया जा सकता। व्यास-बाल्मीकि आखेट युग के, कालिदास सामंत युग के और तुलसी कृषि-युग के प्रतिनिधि महाकवि हैं, यह कहना भी प्रश्न को अति सरल बनाना है। प्रत्येक युग में महाकवि जन्म ले, यह आवश्यक नहीं है; परन्तु जिस युग में भी कोई महाकवि जन्म लेगा वह अपनी भाव प्रक्रिया, अभिव्यंजना और सामर्थ्य में चिरपुरातन-चिरनवीन रहेगा। काव्य से बड़ी चीज को देकर ही वह अपने को सार्थक कर सकेगा।

इस प्रकार की लांछनाएं एकाँगी दृष्टि की सूचक हैं। तुलसी और उनकी कृतियों को परिपूर्ण, स्वतन्त्र, व्यक्तिगत तथा प्रयोजनीय मान कर ही हम उनके अंतरतम तक प्रवेश कर सकेंगे। उन्हें छोटा करना विकासमान भारतीय सांस्कृतिक प्रयत्नों और काव्यचेतना के प्रगतिशील स्वरूप को छोटा करना होगा। तुलसी का व्यक्तित्व और कर्तृत्व विवाद का विषय हो सकता है; परन्तु उनका कवित्व उससे परे है और वह सभी भूमिकाओं में महान है।

●

परिशिष्ट—१

सहायक ग्रन्थ-सूची

ग्रन्थ

१. नाथ सम्प्रदाय—डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी
२. योग प्रवाह—डा० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल
३. भक्तमाल—नाभादास
४. अयोध्या का इतिहास—लाला सीताराम
५. कवितावली—तुलसीदास
६. रामानन्द की हिन्दी रचनाएं—डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी
७. विचारधारा—डा० धीरेन्द्र वर्मा
८. रामचरितमानस—तुलसीदास
९. दोहावली—तुलसीदास
१०. वैराग्य संदीपिनी—तुलसीदास
११. विनयपत्रिका—तुलसीदास
१२. बाहुक—तुलसीदास
१३. गोस्वामी तुलसीदास—डा० श्यामसुन्दरदास
१४. तुलसीदास—माताप्रसाद गुप्त
१५ तुलसी दार्शन मीमांसा—डा० उदयभानुसिंह
१६. तुलसीदास—रामचन्द्र शुक्ल
१७. हिन्दी पद-परम्परा और तुलसीदास—डा० रामचन्द्र मिश्र
१८. तुलसी-दर्शन—डा० बल्देवप्रसाद मिश्र
१९. तुलसी और उनका साहित्य—डा० विमलकुमार जैन
२०. तुलसी और उनका युग—डा० राजपति दीक्षित
२१. विनयपत्रिका-समीक्षा—दानबहादुर पाठक
२२. तुलसी : व्यक्तित्व और विचार—प्रो० हरिकृष्ण अवस्थी
२३. तुलसी का गवेषणात्मक अध्ययन—प्रो० राजकुमार
२४. गोस्वामी तुलसीदास की समन्वय साधना भाग १
—व्योहार राजेन्द्रसिंह एम० ए०
२५. गोस्वामी तुलसीदास की समन्वय साधना भाग २—व्योहार राजेन्द्रसिंह
२६. तुलसी ग्रन्थावली—आचार्य रामचन्द्र शुक्ल
२७. हिन्दी साहित्य का इतिहास—रामचन्द्र शुक्ल

२८. हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास—डा० रामकुमार वर्मा
२९. हिन्दी की दार्शनिक पृष्ठभूमि—डा० विश्वम्भरनाथ उपाध्याय
३०. दर्शन-दिग्दर्शन —पं० राहुल सांस्कृत्यायन
३१. भारतीय दर्शन —डा० बल्देव उपाध्याय
३२. भारदीय संस्कृति—डा० मंगलदेव शास्त्री
३३. संस्कृति के चार अध्याय—रामधारीसिंह 'दिनकर'
३४. भक्ति दर्शन—डा० सरनामसिंह शर्मा
३५. विमर्ष और निष्कर्श—डा० सरनामसिंह शर्मा
३६. तुलसीदास वस्तु और शिल्प—डा० आनन्द प्रकाश दीक्षित
३७. तुलसीदास का कथा शिल्प—डा० रांघेय राघव
३८. तुलसीदास : व्यक्तित्व और दर्शन—डा० रामदत्त भारद्वाज
३९. सहजिया सम्प्रदाय—दिनेशचन्द्र सेन (बंगला)
४०. भागवत गीता भाषा
४१. महाभारत—कथा और रुक्मिणी मंगल
४२. बैताल पच्चीसी

पत्र-पत्रिकाएं

१. नागरी प्रचारिणी पत्रिका—वाराणसी
२. सरस्वती-संवाद—आगरा
३. समालोचक—आगरा
४. आलोचना—दिल्ली
५. सम्मेलन पत्रिका—प्रयाग
६. साहित्य संदेश—आगरा
७ कल्याण—गोरखपुर

अंग्रेजी

1. Influence of Islam on Indian Culture—Dr. Tara Chand
2. The National Culture of India—Dr. S. Abid Hussain
3. The Indian Heritage—Humayun Kabir
4. The Decline of Buddhism in India—Dr. Mitra
5, Alberuni's India—Sachau
6. History of India—Elliot & Dowsan
7. Itsing—Takakuso
8. Le Napal—Levi
9. Gujerat &Its Literature—K. M. Munshi
10. A Survey of Indian History—K. M. Panniker